सर्वोदय-तत्त्व-दर्शन

जीवन-मार्ग, अहिंसा की प्रतिष्ठा और
अहिंसक राज्य-व्यवस्था का
विवेचन



गोपीनाथ धावन
राजनीति-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

१९५१
सत्साहित्य प्रकाशन

प्रकाशक ,
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री
सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली

पहली बार जनवरी, १९५१

मूल्य
सजिल्द : सात रुपया

मुद्रक ,
बालकृष्ण एम० ए०
युगान्तर प्रेस,
देहली

बड़े भाई की स्मृति में

विषय-सूची

संकेत-चिन्हों की सूची

'आत्म-कथा' —महात्मा गांधी, 'सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा', दो खण्ड, स० सा० मं०, १९२८।

'आत्मशुद्धि' —महात्मा गांधी, 'आत्मशुद्धि', इलाहाबाद।

'ऐथिकल रेलिजन' —महात्मा गांधी, 'ऐथिकल रेलिजन' या 'नीतिधर्म' मद्रास, १९२२।

'कंस्ट्रक्टिव प्रोग्राम' —महात्मा गांधी, 'कंस्ट्रक्टिव प्रोग्राम', अहमदाबाद, १९४१।

'कांग्रेस का इतिहास—बी० पट्टाभि सीतारमैय्या, 'दि हिस्ट्री ऑव दि कांग्रेस' भाग १ का हिन्दी अनुवाद, स० सा० मं०, १९३६।

'दक्षिण अफ्रीका' —महात्मा गांधी, 'दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह', दो भाग, स० सा० मं०, १९३८।

'दि नेशन्स वाएस' —सी० राजगोपालाचार और जे० सी० कुमारप्पा (एडीटर्स), 'दि नेशन्स वाएस' अहमदाबाद, १९४७।

'यरवदा मन्दिर' —महात्मा गांधी, 'फ्राम यरवदा मंदिर', अहमदाबाद, १९३३।

'यं० इं०' —'यंग इण्डिया', (सेलेक्शन्स) भाग १, (१९१९-२२) भाग २, (१९१४-१६), भाग ३ (१९२७-२८)।

'सत्याग्रह' —'सत्याग्रह इन गांधीजीज़ ओन वर्ड्स', इलाहाबाद, १९३५।

'साउथ ऐफ्रीका' —महात्मा गांधी, 'सत्याग्रह इन साउथ एफ्रीका', मद्रास १९२८।

'स्पीचेज़' —'स्पीचेज़ एण्ड रायटिंग्ज ऑव महात्मा गांधी', मद्रास, १९२८।

ह० —'हरिजन'।

'हिन्द स्वराज' —महात्मा गांधी, 'हिन्द स्वराज' (अंग्रेजी), मद्रास, चौथी आवृत्ति।

'हिन्द स्वराज्य' —'हिन्द स्वराज' का हिन्दी अनुवाद, स० सा० मं०, १९३१।

'हिस्ट्री ऑव दि कांग्रेस'—बी० पट्टाभि सीतारमैया, 'दि हिस्ट्री ऑव दि कांग्रेस', इलाहाबाद, १९३५।

भूमिका

सन् १९०९ ई० में गांधीजी ने "हिन्दस्वराज्य" में आधुनिक सभ्यता को "एक रोग" और "तीन दिन का तमाशा" बताया था, "क्योंकि यह सभ्यता न तो धर्म का विचार करती है, और न आचार पर ही ध्यान देती है।"[1] उनकी राय में सभ्यताओं के विकास के लिए शरीर-शक्ति और भौतिक बाहुल्य की अपेक्षा नैतिक पवित्रता और आत्म-शक्ति कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। लेकिन यह चेतावनी भूल से राजनीति में आ भटकने वाले एक पूर्वीय साधु के धार्मिक उद्गार के धोखे भुला दी गई। मानव-समाज को अभी पिछले महायुद्ध के विनाशक प्रभाव से छुटकारा नहीं मिला है। किन्तु राष्ट्र युद्ध-साधनों की उन्नति द्वारा शान्ति-स्थापन के प्रयत्न में लगे हुए हैं। संयुक्त राष्ट्र-संघ का भविष्य अनिश्चित है, और मालूम होता है कि आधुनिक सभ्यता एक विषाद-युक्त अन्त की ओर अग्रसर है।

आधुनिक सभ्यता के दोष लगभग जीवन के हरएक भाग से सम्बन्ध रखते हैं। विज्ञान और उत्पादन-पद्धति में उन्नति के कारण मनुष्य ने प्रकृति पर मशीनों के द्वारा पिछले सौ वर्षों में इतिहास के शेष काल की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभुत्व प्राप्त कर लिया है लेकिन इस सफलता से न तो मनुष्य-जीवन में सुख की वृद्धि हुई है न बुद्धिमत्ता की। मशीनों की उन्नति से जीवन जितना जटिल हो गया है, आत्म-संयम उतना ही कठिन। इस नैतिक अवनति का प्रदर्शन विशेष रूप से धन-प्रियता और शक्ति-लिप्सा में होता है। मुनाफ़े के लालच में मनुष्य ने सेवा के आदर्श को भुला दिया है, और यही पूंजीवाद और उसकी खराबियों की जड़ है। शक्ति-प्रियता लड़ाइयों का और उनकी बढ़ती हुई विनाशकता का प्रधान कारण है।

स्पष्ट है कि पूंजीवाद और युद्ध के साथ जनतन्त्रवाद का पनपना असम्भव है। जनतन्त्रवाद का बुनियादी सिद्धान्त है कि सबका हित समान है, सब को आत्म-प्रकाशन का समान अवसर मिले और किसी का उपयोग केवल दूसरे की उन्नति के साधन के रूप में न किया जाय। इसके विपरीत पूंजीवाद और युद्धवाद हिंसा पर आश्रित हैं। दोनों स्वार्थ के लिए दूसरों क साधन समझते हैं और उनका शोषण करते हैं। दोनों में शक्ति को केन्द्रित करना पड़ता है और केन्द्रीकरण से शक्ति के दुरुपयोग के अवसर बढ़ जाते

---

१. 'हिन्दस्वराज्य', पृ० ३६, ४५, १६६।

हैं। इसलिए वह देश, जो युद्ध या युद्ध की तैयारी में लगे होते हैं या जहाँ उत्पादन पूंजीवादी होता है, जनतंत्रवाद का दिखावा भले ही रखें, देर-सवेर किसी-न-किसी प्रकार की डिक्टेटर प्रणाली को अपना लेते हैं। यह आश्चर्य की बात नहीं कि आज के संसार में अधिकतर देशों में मनुष्य की बुद्धि और विवेक पर राज्य का अनुशासन है। धन और हिंसा की अंध-पूजा मनुष्य जाति को विनाश और [illegible]ता की ओर ही ले जा [illegible]कती [illegible]।

गांधीजी की राय है कि सभ्यता का रोग असाध्य नहीं है।[२] लेकिन इससे बचने के लिए क्रांतिकारी इलाज की ज़रूरत है। यह इलाज है जीवन के प्रत्येक भाग में अहिंसा का विकास। शांति और समृद्धि की स्थापना के लिये सदियों युद्ध और हिंसा का प्रयोग हुआ। आज वह मनुष्य जाति के अस्तित्व के लिए इतने खतरनाक हो गए हैं कि दुनिया के समझदार मनुष्यों में यह धारणा दृढ़ हो रही है कि विनाश से बचने का अहिंसा ही एक मार्ग है।

गांधीजी संसार के इतिहास में अहिंसा के सबसे बड़े शिक्षक और प्रचारक हैं। उनका सर्वोदय-तत्त्व-दर्शन इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि वह दार्शनिक और व्यवहारिक राजनीति के क्षेत्र में संसार को भारतवर्ष की सर्वश्रेष्ठ मौलिक देन है। इसके अतिरिक्त गांधीजी के अहिंसा के प्रयोग और उनकी शिक्षा भारतवर्ष के राष्ट्रीय आंदोलन की पृष्ठभूमि हैं। जनता जितना गांधीजी की शिक्षाओं से प्रभावित हुई उतना किसी और बात से नहीं।

सर्वोदय-तत्त्व-दर्शन के महत्त्व का एक कारण गांधीजी का व्यक्तित्व भी है। उनकी अक्सर गौतम बुद्ध और ईसामसीह से तुलना की जाती है। गोखले ने सन् १९१२ में कहा था कि, "उनसे अधिक वीर और शुद्ध आत्मा-वाला व्यक्ति इस संसार में कभी नहीं हुआ।" भारतवर्ष और बाहर के देशों के अनगिनत मनुष्यों के लिए यह भारतीय परम्परा के श्रेष्ठ तत्वों के और जीवन को अहिंसामय बनाने की शाश्वत प्रेरणा के प्रतीक हैं। वह संसार के महानतम क्रान्तिकारी नेताओं में से है। अहिंसक साधनों द्वारा उन्होंने अपने देशवासियों को इतिहास के महानतम शक्तिशाली साम्राज्य के आधिपत्य से मुक्त किया और वर्तमान समाज-व्यवस्था के अहिंसक पुनर्निर्माण का प्रयत्न किया। अपने जीवन के अंतिम मासों में उन्होंने अकेले भारतवर्ष के कई भागों को तीव्र साम्प्रदायिक हिंसा और विद्वेष से बचाया।

२. 'हिन्दस्वराज्य', पृ० ४७-४८।

अपने तत्त्व-दर्शन में उन्होंने बताया है कि मनुष्य का परम ध्येय क्या है और इस ध्येय की सिद्धि का क्या मार्ग है। सर्वोदय-तत्त्व-दर्शन आवश्यकरूप से व्यावहारिक है। वह उन अव्यावहारिक, किताबी दार्शनिकों के काल्पनिक सिद्धांतों से नहीं मिलता जो इतने अधिक तर्क-संगत होते हैं कि जीवन से दूर जा पड़ते हैं। गांधीजी कर्मयोगी थे, व्यावहारिक आदर्शवादी थे और उनके सिद्धांतों का स्रोत उनके अनुभव सत्य तथा अहिंसा के उनके प्रयोग — थे। उन्होंने सिर्फ वही सिखाया जिस पर उन्होंने व्यवहार किया और जिस पर हरएक प्रयत्न करके व्यवहार कर सकता है। वह धार्मिक अवश्य थे, लेकिन वह धार्मिक और सांसारिक बातों में झूठा भेद नहीं करते थे। उनका कहना है कि धर्म जबतक जीवन के सब कार्यों को नैतिकता का पुट न दे तबतक वह अर्थहीन ढकोसला है। ठीक आदर्श वही है जो हमारे जीवन में सहायक हो। उच्चतम नीति को अधिक-से-अधिक व्यावहारिक होना चाहिए।

व्यावहारिक होने के कारण सर्वोदय-तत्त्व-दर्शन का प्राथमिक सम्बन्ध साधनों से है। वह तत्त्व-दर्शन ध्येय को भुलाता नहीं। लेकिन ध्येय की सिद्धि साधनों पर निर्भर है। इसलिए अहिंसक साधनों का विवेकपूर्ण उपयोग सत्याग्रही के लिए सब कुछ है।

गांधीजी के अनुसार सब का अधिक-से-अधिक हित ही ध्येय है। वह अराजकतावादी हैं; क्योंकि उनका विश्वास है कि इस ध्येय की सिद्धि केवल उस स्वतन्त्र गाँवों के वर्ग-रहित और राज्य रहित जनतंत्रवादी समाज में ही हो सकती है, जिसकी नींव हिंसा के बजाय अहिंसा पर, शोषण के बजाय सेवा पर, स्वार्थपरता और लोभ के बजाय त्याग पर और शक्ति के केन्द्रीकरण के बजाय उसके व्यक्तियों और संस्थाओं में अधिक-से-अधिक विभाजन पर हो। अहिंसक राष्ट्रीयता पृथकता-प्रिय, संघर्षकारी और युद्धवादी होने के बजाय निर्मायक और सहयोगशील होगी और विश्व-मानवता का एक जीवित भाग होगी; और झगड़ों का निपटारा शारीरिक शक्ति के भौतिक तल पर नहीं बल्कि प्रेम के आध्यात्मिक स्तर पर होगा। लेकिन गांधीजी कोरे स्वप्न-द्रष्टा नहीं हैं, और अहिंसक समाज एक दूर का और कुछ-कुछ अनिश्चित सा आदर्श है। इसलिए उनके तत्त्वदर्शन का सम्बन्ध विशेषकर व्यक्ति से है जो इस आदर्श के लिए जीने और मरने के लिए तैयार रहेगा और अहिंसक मार्ग से है जो व्यक्ति को उस आदर्श तक ले जायगा। गांधीजी उस दूर के ध्येय के विस्तृत विवेचन के लिए चिन्ताग्रस्त नहीं थे। उनका मार्ग निश्चित था और वह जानते थे कि एक क़दम के बाद दूसरा क़दम उठेगा और इसी

तरह समय आने पर प्रयत्न ही साध्य बन जायगा। लेकिन जितना अहिंसक मार्ग का विकास हुआ है उससे गांधीजी की धारणा के आदर्श समाज की रूपरेखा का कुछ-कुछ ज्ञान होता है।

आज युद्धवाद और शोषण की दुनिया में गरीबों, पिछड़े हुओं और पद-दलितों के लिए आज़ादी का अगर कोई मार्ग है तो वह है अहिंसात्मक प्रतिरोध की पद्धति जो गांधीजी के छः दशाब्दियों के सार्वजनिक जीवन की देन है। संसार के इतिहास में गांधीजी ने पहली बार यह दिखाया है कि निःशस्त्र जातियाँ भी आज़ादी के लिए लड़ सकती हैं। इस तरह उन्होंने संसार के झगड़ों को निपटाने के लिए लड़ाई का नैतिक समकक्ष बल्कि उससे भी अधिक उपयोगी साधन दिया है।

गांधीजी ने सर्वोदय-तत्व-दर्शन में इस बात पर जोर दिया है कि समाज के नव-निर्माण में प्रथम स्थान व्यक्ति का है। समाज का प्रश्न वास्तव में व्यक्ति का ही प्रश्न है। इसका कारण यह है कि मनुष्य का चरम तत्व आत्मा है और समाज की उन्नति साधारण व्यक्ति की आध्यात्मिक शक्ति के विकास पर निर्भर है। मार्क्सवादी और फ़ासिस्ट समाज के नवनिर्माण का कार्य वातावरण और संस्थाओं के सुधार से प्रारम्भ करते हैं और तब वह मनुष्य के आंतरिक सुधार की बात पर आते हैं। उनके मत में व्यक्तिगत उन्नति वातावरण के सुधार का फल है। इसके विपरीत गांधीजी मनुष्य के आध्यात्मिक विकास को प्रथम स्थान देते हैं, यद्यपि वह संस्थाओं और वातावरण की भी उपेक्षा नहीं करते।

गांधीजी आत्मा पर ज़ोर अवश्य देते हैं लेकिन उनका दृष्टिकोण एकांगी नहीं है। वह मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताओं को भी ध्यान में रखते हैं।[1] लेकिन मनुष्य केवल शरीर नहीं है, आत्मा ही उसकी वास्तविकता है। आत्मा सबमें एक है और इस महान् सत्य को समझने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य जीवमात्र की अनवरत सेवा में अपने को लगादे।[2] व्यक्ति को अपना जीवन समाज-सेवा में लगा देना चाहिए और इस प्रकार के जीवन के लिए यह आवश्यक है कि वह वासनाओं का दास न बन कर आत्म-संयम का मार्ग जाने।

---

१. पाठकों को इस बात का उदाहरण कि गांधीजी उचित शारीरिक आवश्यकताओं को नहीं भुलाते उनके एक पत्र में, जो उन्होंने टैगोर को लिखा था, मिलेगा। देखिए 'स्पीचेज़', पृ० ६०७-६१६।

२. राधाकृष्णन्, और म्योरहेड, 'कण्टेम्पोरेरी इण्डियन फ़िलासफ़ी' में गांधीजी का लेख।

सर्वोदय-तत्त्व-दर्शन की एक दूसरी विशेषता—जिससे अध्येता का कार्य बहुत कठिन हो जाता है—यह है कि गांधीजी के जीवन-काल में उसका विकास चालू था और इसलिए बहुत समय तक ठीक प्रकार से उसका मूल्यांकन न हो सकेगा। गांधीजी के शब्दों मे, "राजनीति में अहिंसा नया शस्त्र है जिसका विकास हो रहा है"।[1] "सत्याग्रह का मेरा ज्ञान प्रतिदिन बढ़ रहा है। मेरे पास कोई पाठ्य-पुस्तक नहीं है जिसे मैं आवश्यकता के समय देख लूँ। मेरी धारणा का सत्याग्रह ऐसा विज्ञान है जिसका निर्माण हो रहा है"।[2] उन्होंने सन् १९४६ में अहिंसा-विज्ञान पर एक पुस्तक लिखने की प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया था क्योंकि उनका क्षेत्र था कर्म न कि इस प्रकार की पुस्तकें लिखना। उन्होंने लिखा था, "इस प्रकार की पुस्तक मेरे जीवनकाल मे आवश्यक रूप से अपूर्ण रहेगी। यदि वह लिखी जा सकती है तो मेरी मृत्यु के बाद ही। और मैं यह चेतावनी दे दूँ कि तब भी वह अहिंसा की पूर्णरूप से व्याख्या करने मे असफल रहेगी। कोई मनुष्य कभी ईश्वर का पूरी तरह वर्णन नहीं कर सका है। यही बात अहिंसा के बारे में भी लागू है"।[3]

गांधीजी इस बात ओर देते थे कि सत्याग्रही के लिए सोचने और काम करने के निर्धारित मार्ग नहीं हो सकते और न वह यही कह सकता है कि उसने अन्तिम सत्य जान लिया है। मनुष्य को केवल आपेक्षिक, आंशिक, सत्य ही ज्ञात हो सकता है। इसलिए सत्य के शोधक को इस बात के लिए तैयार रहना होगा कि वह बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार अपने सिद्धांतों को सुधारे और उनके प्रयोग में आवश्यक हेर-फेर करे।

निस्संदेह सर्वोदय जीवित सन्देश है, किन्तु यह उचित नहीं कि उसका वैज्ञानिक अध्ययन स्थगित कर दिया जाय विशेष रूप से जब अहिंसक मार्ग ही मानव-समाज के रोगों की अचूक दवा है। प्रतिपादन की पूर्णता की असंभावना सत्याग्रह विज्ञान का ही नहीं प्रत्येक विज्ञान का लक्षण है। इसके अतिरिक्त, गांधीजी का दीर्घकालीन सार्वजनिक जीवन, जिसे उन्होंने सत्य और अहिंसा के प्रयोगों मे लगाया, इतिहास का भाग बन चुका है और इन प्रयोगों के अध्ययन के लिए उन्होंने अपने लेखों, व्याख्यानों और कार्यों में बहुत आधारभूत सामग्री दी है।

---

१. ह० २३-१०-३७, पृ० ३०८।
२. ह० २४-६-३८, पृ० २६६।
३. ह० ३-३-४६, पृ० २८-२९।

उनके जीवनकाल में ही सर्वोदय-तत्व-दर्शन की रूपरेखा ज्ञात हो सकती थी। सर्वोदय-तत्व-दर्शन का विकास मूलभूत सिद्धान्तों में परिवर्तन के रूप में नहीं हो रहा था, बल्कि सिद्धांतों के व्यावहारिक विवेचन के या तफ़सील की बातों में हेर-फेर के रूप में। सन् १९३८ में 'हिंद-स्वराज्य' के बारे में उन्होंने कहा था, ''तीस साल के तूफानी जीवन के बाद जिसमें से होकर मैं तब (१९०९) से गुजर चुका हूँ मैंने ऐसा कुछ भी नहीं देखा जिसके कारण मुझे उन सिद्धांतों में परिवर्तन करना पड़ा हो जिनका उसमें प्रतिपादन है।''[1]

---

१. 'एरियन पाथ' सितम्बर १९३८।

सर्वोदय-तत्त्व-दर्शन

: १ :

अहिंसा की परम्परा

अहिंसा मनुष्य जाति के पूर्वजों की देन है। उसका आविर्भाव मनुष्य के विकास से भी पहले की बात है। जानवरों में भी कुटुम्ब का प्राथमिक रूप मिलता है और उसकी बुनियाद अहिंसा ही है। मानव-इतिहास के प्रारम्भ से आज तक करीब-करीब प्रत्येक देश, धर्म और संस्कृति के प्रमुख विचारकों ने अहिंसा के आदर्श पर ज़ोर दिया है और बताया है कि हिंसा और शोषण, शैतानियत और अन्याय को दूर करने का ठीक रास्ता अहिंसा ही है। अहिंसा के प्रयोग के दृष्टांत भी प्रत्येक देश के इतिहास में मिलते हैं।

भारतवर्ष

अहिंसा की परम्परा इतनी व्यापक और अटूट किसी और देश में नहीं है जितनी हिंदुस्तान में। सच तो यह है कि अहिंसा संसार को भारतवर्ष की सबसे बड़ी देन है। भारत के सब महत्त्वपूर्ण धर्मों की यह शिक्षा है कि अहिंसा सबसे बड़ा कर्तव्य है। भारतवर्ष के निवासियों का प्राचीन काल से ही जीवन की आध्यात्मिक एकता में विश्वास रहा है। सुविख्यात सूत्र 'सोऽहम्' और 'तत्त्वमसि' इसी विश्वास को प्रकट करते हैं। सब जीवों की एकता की इस धारणा के कारण भारतवर्ष में इस बात पर ज़ोर दिया गया कि मनुष्य का जानवरों और दूसरे जीवधारियों के साथ बर्ताव भी अहिंसात्मक होना चाहिये।

वर्णाश्रम धर्म

हिंदुओं के सामाजिक संगठन की आधार-शिला वर्णाश्रम-धर्म है जिसका ज़िक्र सबसे पहले ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में आता है। वर्णाश्रम-धर्म का उद्देश्य यह था कि जन-साधारण को अहिंसा के उच्च आदर्श की शिक्षा मिले।[1] वर्णाश्रम-धर्म सब मनुष्यों को, शूद्रों को भी ब्राह्मण बनाने का प्रयत्न था। आध्यात्मिक एकात्मकता के अनुभव से उत्पन्न शान्ति और आनन्द से पूर्ण ब्राह्मण मनुष्यता के उन्नतम विकास का प्रतीक था और उससे इस बात की आशा की जाती थी कि वह बुराई का प्रतिरोध शरीर-शक्ति से नहीं आत्मबल से करेगा। क्षत्रिय में ब्राह्मण की अपेक्षा आत्म-बल की कमी थी और इसलिए वह अन्याय के

१. अहिंसा और वर्णाश्रम-धर्म के संबंध के लिए देखिये राधाकृष्णन की 'हार्ट ऑव हिंदुस्तान' और 'हिंदू व्यू ऑव लाइफ'।

प्रतिकार के लिए पाशविक बल का प्रयोग कर सकता था। लेकिन वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार ब्राह्मण-प्रयुक्त प्रेम का नियम क्षत्रिय के पाशविक बल के नियम की अपेक्षा उच्चतर था। क्षत्रिय का यह कर्तव्य था कि वह भ्रातृत्व और कर्तव्य की भावना से अन्याय के विरुद्ध युद्ध करे और बदले और द्वेष के भाव को भुला दे। क्षत्रिय के इस मनुष्यतापूर्ण बर्ताव से उसका आत्म-बल बढ़ता, पाशविक शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता घटती और समय आने पर वह जीवमात्र से प्रेम करने वाला ब्राह्मण बन जाता। इस प्रकार हिंसात्मक प्रतिरोध की आज्ञा थी, लेकिन ध्येय यह था कि क्षत्रिय उससे ऊँचा उठने का प्रयत्न करे। वर्णाश्रम-धर्म ने युद्ध के कार्य को समाज के एक छोटे भाग, क्षत्रियों तक सीमित कर दिया था।

उपनिषद्

उपनिषदों के समय से हिंदू नीति-शास्त्र ने हमेशा सब जीवधारियों के प्रति अहिंसा के प्रयोग पर ज़ोर दिया। प्रसिद्ध योरोपीय विद्वान् रिज़ डेविड्स के अनुसार अहिंसा का प्रथम उल्लेख छांदोग्य उपनिषद् में हुआ है, जिसमें अहिंसा मनुष्य के बलिदानमय जीवन के पाँच आदर्शों में से बताई गई है।[1] पतंजलि के योग-सूत्र में—जिसका गांधीजी ने सन् १६०४ में जोहांसबर्ग में अध्ययन किया था—अहिंसा पंचयमों में सम्मिलित है। पंचयम वे पाँच नैतिक अनुशासन हैं जो पतंजलि के समय से भारतवर्ष में आध्यात्मिक विकास की पद्धति के आवश्यक अङ्ग माने गये हैं जैसा कि आगे तीसरे और चौथे अध्यायों में बताया गया है; गांधीजी ने इन यमों को विकसित किया है और उनको सत्याग्रही-अनुशासन का विशिष्ट भाग बना दिया है। पतंजलि का कहना है कि अहिंसा हिंसा से बचने का केवल निषेधात्मक नियम ही नहीं है, विधायक दृष्टिकोण से अहिंसा का यह अर्थ भी है कि सब जीवों के प्रति सद्भावना हो। पतंजलि के विख्यात सूत्र "अहिंसा प्रतिष्ठायान्तत्सन्निधौ वैरत्यागः" का अर्थ है कि जैसे ही अहिंसा का पूर्ण विकास होता है चारों ओर के वैर-भाव का लोप हो जाता है।

महाकाव्य

महाकाव्य-काल में अहिंसा की परम्परा की और भी उन्नति हुई। गांधीजी तुलसीदास की रामायण को—जिससे उनका पहला परिचय १३ साल की अवस्था में हुआ था—भक्ति-साहित्य की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक मानते हैं। वैसे

१. अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः।
'छांदोग्य,'—३, १७।

तो रामायण और महाभारत, जो भारत के करोड़ों मनुष्यों के मार्ग-प्रदर्शक हैं, युद्ध-कथाएँ मालूम पड़ती हैं; लेकिन महाकवि वाल्मीकि और व्यास का उद्देश्य युद्ध का वर्णनमात्र नहीं है। गांधीजी की राय है कि उसमें वर्णित पात्र मूल में ऐतिहासिक भले ही हों, परन्तु महाकवियों ने उनका उपयोग मनुष्य के हृदय के भीतर प्रकाश और अन्धकार की शक्तियों में निरन्तर होते रहने वाले द्वन्द्व युद्ध के वर्णन के लिए किया है। रामायण में शांति के कार्यों की नैतिक उच्चता से युद्ध का महत्त्व फीका पड़ जाता है। महाभारत तो युद्ध और हिंसा की निरर्थकता सिद्ध करती है। विजेताओं की जीत उपहास-सी मालूम पड़ती है। महायुद्ध में प्रवृत्त लाखों योद्धाओं में से केवल सात बच रहते हैं। विजेता रोते हैं और पश्चात्ताप करते हैं। दिन-प्रतिदिन होने वाले पुत्रों और सम्बन्धियों के विनाश का विस्तृत और दुःखद वर्णन अन्धे धृतराष्ट्र और उसकी रानी गांधारी को सुनना पड़ता है। महाभारतकार ने यह भी दिखाया है कि हिंसात्मक युद्ध में अनैतिक साधनों का अनुसरण करना पड़ता है। महा-सत्यवादी युधिष्ठिर को भी युद्ध की हार से बचने के लिए झूठ बोलना पड़ा था।

महाभारत में प्रत्यक्ष रूप से भी अहिंसा के सिद्धांत का प्रतिपादन है। महाभारत के समय तक अहिंसा परम कर्तव्य मान ली गई थी। महाभारत के अनेक स्थलों पर सत्य, अहिंसा और दूसरे अहिंसात्मक आदर्शों की महत्ता का उल्लेख है। घायल भीष्म ने युधिष्ठिर को अहिंसा का महत्त्व इन शब्दों में बताया था, "अहिंसा सर्वश्रेष्ठ धर्म है। वह उच्चतम तप भी है। वह परम सत्य भी है जो सब कर्तव्यों का स्रोत है।" शांति-पर्व में कपिल ने ब्रह्म-प्राप्ति के उपाय बतलाये हैं—दया, क्षमा, शांति, अहिंसा, सत्य, सरलता, वैर-रहित होना, ममत्व का अभाव, नम्रता और सहनशीलता। वन-पर्व में कहा गया है कि, "कठोर और नम्र दोनों को नम्र जीत लेता है। नम्र के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। इसलिए नम्र कठोर से अधिक शक्तिशाली है।"[1]

गीता

यह विवादग्रस्त है कि गीता में हिंसा का प्रतिपादन है या अहिंसा का।

---

१. देखिये पी० पी० एस० शास्त्री द्वारा संपादित 'अनुशासन-पर्व'—१०४, २५; १०५, २३-४५।
'शांति-पर्व' (शास्त्री द्वारा संपादित)—१८८, ६१-६४; २५५, ३६-४०;
'वन-पर्व' (शास्त्री)—२४, ३०।
ह०—३०-१०-३६, पृ० २६६; ५-६-३६, पृ० २३६; ११-११-३६, पृ० ३३०; १८-७-४०, पृ० २५०। य० इ०, भा०२— पृ० ६३७।

गीता उपनिषदों का सार है और कुछ विचारक उसे भारतीय दर्शन-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ रत्न मानते हैं।

जिन पुस्तकों से गांधीजी प्रभावित हुए हैं उनमें गीता का स्थान पहला है। गीता के साथ गांधीजी का पहला परिचय सन् १८८८-८९ में इंगलैंड में हुआ था, जब उन्होंने दो अंगरेज मित्रों के साथ एडविन आर्नल्ड के पद्य-अनुवाद का अध्ययन किया था। तबसे उन्होंने सब महत्वपूर्ण अनुवाद पढ़ लिये हैं। बहुत दिनों से गीता उनका व्यवहार-कोष और उसका पाठ उनकी दिनचर्या का एक अङ्ग है। २८ जुलाई, सन् १९२५ को कलकत्ते में ईसाई पादरियों के सामने दिये गये अपने व्याख्यान में उन्होंने गीता के प्रति अपने प्रेम का प्रदर्शन इन शब्दों में किया था---"यद्यपि मैं ईसाई-धर्म की बहुत-सी बातों का प्रशंसक हूँ, तब भी जो शांति मुझको भगवद्गीता और उपनिषदों में मिलती है वह ईसामसीह की 'पर्वत की धर्मशिक्षा' में नहीं मिलती। जब मैं संशयों और निराशाओं से घिरा होता हूँ और जब मुझे क्षितिज पर एक भी प्रकाश-रश्मि नहीं दिखाई देती, तब मैं भगवद्गीता की ओर झुकता हूँ और मुझे आश्वासन के लिए एक-न-एक श्लोक मिल जाता है और मैं फौरन परेशान कर देने वाली मुसीबतों में मुस्कराने लगता हूँ। मेरा जीवन बाहरी दुःखों से पूर्ण रहा है और अगर उन्होंने मेरे ऊपर कोई अमिट और दिखाई देने वाला असर नहीं डाला है तो उसके लिए मैं भगवद्गीता की शिक्षाओं के प्रति आभारी हूँ।"[१]

महाभारत की तरह गीता का भी प्रतिपाद्य विषय न तो हिंसा है और न युद्ध और हिंसा का विरोध। गीता का विषय है आत्मदर्शन और उसके साधन। दूसरे और अठारहवें अध्यायों में हमें गीता की शिक्षा का निचोड़ मिलता है और यह है अनासक्तियोग या निष्काम कर्म का आदर्श। दूसरे अध्याय के अन्तिम १९ श्लोकों को गांधीजी गीता के अनुवाद की कुञ्जी बताते हैं और कहते हैं कि इन श्लोकों में उनके लिए सम्पूर्ण ज्ञान है।[२] इन श्लोकों के अनुसार स्थिर-बुद्धि की प्राप्ति का साधन बाह्य पदार्थों का त्याग नहीं, इन्द्रिय-वासनाओं का त्याग है। गीता का आदर्श पुरुष, स्थितप्रज्ञ,

१. य० इं०, भा०२— पृ० १०७८-८९।
गीता और अहिंसा के संबंध के विषय में देखिये गांधीजी का 'अनासक्तियोग' और 'गीताबोध' और य० इं० भा० २—पृ० ६०७, ६२७-४०,
ह०—२१-१-३६, पृ० ४३०; ३-१०-३६, पृ० २५७।

२. यं० इं०, भा० २—पृ० ६३५।

दूरवर्ती और कल्याणपूर्ण है; वह हर्ष, शोक, भय, सुख-दुःख से मुक्त है; उसे शुभाशुभ परिणाम से कोई वास्ता नहीं। वह अहिंसक है; क्योंकि हिंसा की जड़ है किये हुए कार्य के परिणामविशेष की कामना। गांधीजी ने एक बार जापानी विद्वान् कगावा से कहा था, "अपनी कामनाओं को मारने के बाद अपने भाई को मारना सम्भव नहीं है।"[1] दूसरे शब्दों में, अहिंसक व्यवहार के बिना निरासक्ति की उच्चनैतिक स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती।

निसन्देह गीता के उपदेश के बाद अर्जुन, जो युद्ध से विमुख हो गया था, फिर लड़ने को राज़ी हो गया। लेकिन अर्जुन के युद्ध-विमुख होने का कारण नैतिक न था। वह अपने सगे-सम्बन्धियों को मरने-मारने के लिए खड़े देख झूठी करुणा, हृदय की दुर्बलता और क्षणिक मोह के कारण युद्ध-विरोधी हो गया था। उसे हिंसा करने में कोई आपत्ति न थी। उसकी घबराहट उन मनुष्यों के कारण थी जिन्हें उसे मारना था। वह कायरता थी और श्रीकृष्ण ने समझाया कि कायरता की अपेक्षा मरना और मारना कहीं अधिक श्रेयस्कर है।

कहा जा सकता है कि निरासक्त श्रीकृष्ण भी कुरुक्षेत्र के युद्ध-क्षेत्र में उदासीन न थे। वे न्याय और सत्य के पक्ष में थे। उन्होंने युद्ध नहीं किया, लेकिन वे युद्ध-विशेषज्ञ थे। पांडवों ने उनके युद्धज्ञान और उनकी सलाह से लाभ उठाया। यह कहना ठीक न होगा कि उनकी सहायता केवल नैतिक थी। लेकिन गीता के श्रीकृष्ण मुक्तात्मा हैं। उनको पूर्ण मानसिक समता प्राप्त है और वे हिंसा-अहिंसा से परे हैं। उनके-से पूर्ण पुरुष के लिए ही यह कहा जा सकता है कि वह लेशमात्र आसक्ति के बिना, सबके हित के लिए, मार सकता है। वह करते हुए भी अकर्ता हैं, मारते हुए भी अहिंसक हैं।[2] किन्तु अहिंसात्मक व्यवहार इस कठोर पृथ्वी पर चलने वाले, हाड़-चाम के साधारण मनुष्य के द्वारा निरासक्त स्थिति की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

बौद्ध और जैन धर्म

धार्मिक और दार्शनिक साहित्य में अहिंसा पर ज़ोर तो दिया गया, लेकिन साथ-साथ जीव-बलिदान का रिवाज भी चलता रहा। बौद्ध और जैनमत ब्राह्मण-धर्म की जटिल, विस्तृत धार्मिक क्रियाओं, जाति-प्रथा के रूढ़िवाद और बलिदानों की हिंसा के विरुद्ध क्रान्तिकारी विद्रोह थे।

अहिंसा जैनदर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। जैनों का विश्वास है कि सारा संसार असंख्य शरीरधारी आत्माओं से भरा है। वह शरीर या तो स्थूल

---

१. ह०, १४-१-३६, पृ० ४३०। २. 'गीता', १८, १७।

और दृश्य है या सूक्ष्म और अदृश्य। सब तत्त्वों में आत्मा की प्रेरणा है। दुःख का कारण है आत्मा का भौतिक शरीर से सम्बन्ध। जीवन में अदृश्य शरीरयुक्त आत्मा को भी कष्ट ही मिलता है। शरीर-बन्धन से छुटकारे के लिए, मुक्तात्मा होने के लिए, यह आवश्यक है कि व्यक्ति कर्मों के बन्धन से छूट जाय। इसके लिए तीन साधन हैं जिन्हें जैन 'त्रिरत्न' कहते हैं। ये हैं—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य। सम्यक् चारित्र्य में पंचव्रत सम्मिलित हैं। इनमें प्रथम अहिंसा है और अन्य चार हैं सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य। इन व्रतों का पालन जैन सन्यासी नियम से और गृहस्थ यथाशक्ति करते हैं।

जैन अहिंसा पर बहुत अधिक ज़ोर देते हैं। जैन साधु अपने शरीर और कपड़ों से कीड़े-मकोड़ों को नहीं हटाते. जीव-रक्षा के अभिप्राय से पानी छानकर पीते हैं, ज़मीन झाड़ू से साफ करके बैठते हैं और कभी-कभी झाड़ू साथ लेकर चलते हैं। जीवन के प्रत्येक व्यवहार से हिंसा होती है; क्योंकि संसार शरीरयुक्त और दुःख का अनुभव करनेवाले जीवों से भरा है। इसलिए जैन धर्म का सिद्धान्त है कि अहिंसक मनुष्य को कम-से-कम कार्यों में लगना चाहिए। इस प्रकार जैन धर्म में तपस्या के लिए तपस्या को प्रोत्साहन मिला और अहिंसा का अर्थ हो गया छोटे-से-छोटे कीड़े-मकोड़े को भी न मारना। यह अर्थ अहिंसा के निषेधात्मक स्वरूप का चरमवादी प्रयोग है और इस अर्थ के कारण, दीनबन्धु ऐन्ड्रयूज़ के शब्दों में, अहिंसा इतना भारी बोझ हो गया कि मानवता के लिए उसे उठाना असम्भव हो गया।[1] किन्तु यह याद रखना चाहिए कि जैनमत ने इस देश में अहिंसा की परम्परा के जीवित रहने और विकसित होने में महत्त्वपूर्ण सहायता दी।

जनसाधारण के जीवन पर जैनमत का किसी दूसरे प्रान्त में इतना प्रभाव नहीं पड़ा जितना गुजरात में, जहाँ गांधीजी का जन्म और पालन-पोषण हुआ था। उनके बचपन में उनके पिता, जो वैष्णव थे, बहुत कुछ जैन साधुओं के सत्संग में रहते थे। इस प्रारम्भिक जैन-प्रभाव के होते हुए भी गांधीजी जैनियों की तरह अहिंसा के निषेधात्मक अर्थ के अमर्यादित प्रयोग को स्वीकार नहीं करते।

बौद्ध धर्म ने अहिंसा के निषेधात्मक स्वरूप पर उतना ज़ोर नहीं दिया जितना जैनधर्म ने। गौतमबुद्ध की शिक्षा में—जिसका प्रारम्भ पवित्रता से

१. सी० एफ० ऐन्ड्रयूज़, 'महात्मा गांधीज़ आइडियाज़'—पृ० १३२।
गांधीजी ऐन्ड्रयूज़ साहब से सहमत हैं। उनके मत के लिए देखिए, ह०, ९-६-४६, पृ० १७२।

होता है और अन्त प्रेम में—तत्त्व-मीमांसा की अपेक्षा नीतिधर्म का प्राधान्य है। उनकी नैतिक-शिक्षा उपनिषदों के नैतिक सिद्धान्तों का व्यावहारिक प्रयोग है।

बौद्ध मत के चार प्रमुख सत्य (चतुर्सत्यानि) हैं—दुःख, उसका कारण (समुदाय), उसका अन्त (निरोध) और उसका मार्ग, बौद्धों के आत्म-संयम की नैतिक नियमावली (आर्य अष्टांगिक मार्ग), जो बौद्ध मत का विशिष्ट अंग है, अहिंसा का मार्ग है। अहिंसा का बौद्ध भिक्षुओं के दस 'शिक्षापदों' में और गृहस्थों के 'पञ्च शिलाओं' में पहला स्थान है।

गौतमबुद्ध की यह सर्वज्ञात शिक्षा है कि द्वेष का अन्त द्वेष से नहीं प्रेम से ही होता है। उनकी यह भी शिक्षा है कि "मनुष्य क्रोध को प्रेम से जीते, बुराई को अच्छाई से, लोभी को उदारता से और झूठ को सत्य से। इस तरह वह देवतुल्य बनेगा। दूसरों का नेतृत्व हिंसा से नहीं ईमानदारी और न्याय से करो।"

उन्होंने भिक्षुओं को शिक्षा देते हुए कहा, "यदि डाकू और प्राणघातक आरी से तुम्हारे जोड़ों और पसलियों को काटें तो तुममें से जिसे क्रोध आएगा वह मेरी आज्ञा का उल्लङ्घन करेगा।"

सुत्त निपात के निम्नलिखित शब्दों से बुद्ध के अहिंसा के आदर्श का रूप अच्छी तरह प्रकट होता है—

"जिस तरह माता जीवनपर्यन्त अपने एकमात्र पुत्र की देखरेख करती है, उसी तरह हमें संसार के छोटे-बड़े सब जीवों के लिए अपने हृदय और बुद्धि को विशाल बनाकर और द्वेष और दुर्भावना की संकीर्णता का अति-क्रमण करके प्रेम का व्यवहार करना चाहिए।"[1]

गौतमबुद्ध की शिक्षा में ज्यादातर ज़ोर व्यक्तिगत सम्बन्धों में अहिंसात्मक बर्ताव पर दिया गया था। वे इस बात के विरुद्ध थे कि अहिंसा का युद्ध से और अपराधी को दंड देने में शाब्दिक प्रयोग किया जाय। अपराधी को दंड मिलना चाहिए, यद्यपि दंड देते समय जज के हृदय में द्वेष का भाव नहीं होना चाहिए। इस प्रकार वे सभी युद्धों को दुःख का प्रसंग मानते थे, लेकिन उनको यह मान्य नहीं था कि जो मनुष्य शान्ति रखने के सब साधनों के उपयोग के बाद न्यायपूर्ण कारणों से युद्ध करता है वह दोषयुक्त है। वे अनैतिकता के प्रति आत्म-समर्पण के विरुद्ध थे। उनके अनुसार सफल विजयी वह है जो द्वेष को दबाकर अपने पददलित प्रतिपक्षी को उठा ले और

१. राधाकृष्णन की 'ईस्ट एन्ड वेस्ट इन रेलिजन' में पृ० ११० पर उद्धरित।

उससे कहे, "अब आओ, हम सन्धि कर लें और भाई-भाई बन जायं।"[1]

गौतमबुद्ध का अहिंसा का यह सिद्धान्त कि हिंसा से बचकर सब जानदारों के साथ दया की जाय और द्वेष के बदले प्रेम किया जाय, मानवता के विकास के इतिहास की महत्त्वपूर्ण मंजिलों में से एक है।

अशोक

अहिंसा की परम्परा में अशोक का विशेष स्थान है। संसार के इतिहास में वे ही एक ऐसे शासक हैं जिन्होंने इतने विस्तृत साम्राज्य का शासन अहिंसात्मक नीति से करने का प्रयत्न किया। कलिंग के युद्ध के विनाश और भयङ्करता से दु:खी होकर उन्होंने फिर युद्ध न करने का सफल सङ्कल्प किया, शिकार और मांस-भोजन छोड़ दिया और संसार के सामने सार्वभौम शान्ति और सब जीवधारियों के भाईचारे का आदर्श रखा। अंगरेज़ विचारक एच० जी० वेल्स के शब्दों में, "वे ही एकमात्र योद्धा शासक हैं जिन्होंने विजय के बाद युद्ध को त्याग दिया"।

अपराजित सीमानिवासियों को अशोक का सन्देश था, "राजा चाहता है कि उसके अपराजित सीमानिवासी उससे डरें नहीं, बल्कि उसमें विश्वास रखें। उनको उस (अशोक) से सुख मिलेगा दु:ख नहीं"। उनका कहना था कि सर्वश्रेष्ठ विजय है धर्म की विजय न कि शक्ति की विजय। उनकी अहिंसात्मक विदेशी नीति के आधारभूत सिद्धान्त थे छोटे-बड़े सब देशों की स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व और विदेशी नीति का सक्रिय-रूप था 'प्रीति' द्वारा प्राप्त धर्म-विजय जिसकी अभिव्यक्ति लोकसेवा और नीति-प्रचार में होती थी।

साम्राज्य के अन्दर उनकी सरकार सदा लोक-कल्याण के कार्य में प्रयत्नशील रहती थी। सरकार ने जनता को उन प्रमुख नैतिक सिद्धान्तों की शिक्षा देने का प्रबन्ध किया था जो हरएक धर्म को मान्य हैं। अशोक इस कारण सार्वभौम धर्म के पहले शिक्षक माने जाते हैं। अशोक ने नीति-धर्म और शासननीति के अपने सिद्धान्त शिलाओं और लाटों पर खुदवा दिये थे। इनमें से पहला, दूसरा और चौथा शिलालेख अहिंसा के सम्बन्ध में हैं।

लेकिन अशोक ने सेना को नहीं हटाया और उनकी सरकार जनता से नैतिक सिद्धान्तों का पालन कठोर दण्ड देकर भी करवाती थी।

अशोक के बाद भारतवर्ष में धार्मिक सम्प्रदाय, धर्म-शिक्षक और

१. पोल कारुस, 'दि गास्पेल आव बुद्ध'—पृ० १२६-२६।

विशेष रूप से भक्तिमार्ग के प्रचारक सन्त[1] सत्य, दया, नम्रता, सहिष्णुता और दूसरे अहिंसात्मक आदर्शों की शिक्षा देते रहे। लेकिन अहिंसा के विकास के इतिहास में अशोक के बाद के काल का कोई उल्लेखनीय स्थान नहीं है। दूसरी ओर भक्तिमार्ग के सन्त शिक्षकों के कारण सांसारिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन अलग-अलग समझे जाने लगे और इस विश्वास ने जड़ पकड़ी कि सांसारिक जीवन में अहिंसा का प्रयोग नहीं हो सकता।

अहिंसा के प्रयोग

भारत के निवासी प्राचीनकाल से ही अन्याय का प्रतिरोध करने के अहिंसात्मक मार्ग के उपयोग से भी परिचित रहे हैं। धरना, प्रायोपवेशन (आमरण उपवास), आज्ञाभंग और देशत्याग के सत्याग्रही शस्त्रों का व्यक्तियों और कभी-कभी छोटे-छोटे जनसमूहों द्वारा प्रयोग गांधीजी के पहले भी इस देश में होता था। बिशप हेबर ने गांधीयुग के पहले बनारस के तीन लाख निवासियों के ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध असहयोग का वर्णन किया है।[2] इसी तरह सन् १८३० में मैसूर की जनता ने शासन के अत्याचार के विरुद्ध असहयोग किया था।[3] अपनी आत्मकथा में गांधीजी ने अपने पिता के अहिंसक प्रतिरोध का वर्णन किया है। वे राजकोट के दीवान थे। राजकोट के असिस्टेंट पोलिटिकल एजेंट ने राजकोट के शासक के बारे में अपमानजनक बातें कीं। गांधीजी के पिता ने इसका विरोध किया। एजेंट नाराज़ हो गया और उनके क्षमा-प्रार्थना करने से इन्कार करने पर उनको क़ैद करवा दिया। वे कुछ घण्टे हिरासत में रहे। लेकिन शहर में इस खबर से उत्तेजना फैल गई और एजेंट को उन्हें छोड़ना पड़ा।[4]

इस्लाम

अहिंसा किसी एक जाति, देश, धर्म, सभ्यता या संस्कृति की विशेषता नहीं है। प्रेम की अभिव्यक्ति होने के कारण वह सार्वभौम गुण है। यह बतलाने के पहले कि दूसरे देशों और धर्मों में अहिंसा के विकास की रूप-रेखा क्या थी, इस्लाम में अहिंसा के स्थान का संक्षिप्त उल्लेख ठीक होगा।

१. बहुत-से पाठक शायद इस बात से परिचित होंगे कि गांधीजी का प्रिय भजन "वैष्णवजन तो तेने कहिये" भक्तिमार्ग के प्रसिद्ध प्रचारक, सन्तकवि नरसिंह मेहता (१५वीं सदी) का है।

२. टोक, 'एम. के. गांधी'–पृ० ८७।

३. बार्ट डि लाइट, 'कान्क्वेस्ट आव वायोलेन्स'––अध्याय ७।

४. 'आत्मकथा'–भाग १, अध्याय १।

दुर्भाग्यवश साधारणतः मनुष्यों की यह धारणा हो गई है कि इस्लाम का हिंसा और बल-प्रयोग से साहचर्य है। लेकिन मुहम्मद साहब की शिक्षा दया, शान्ति और प्रेम की है। केवल मनुष्यों ही के प्रति प्रेम की शिक्षा नहीं देते, वरन् सब जीवधारियों के प्रति कुरान अहिंसा को हिंसा पर तरजीह देती है। 'इस्लाम' शब्द का ही अर्थ है 'शान्ति', 'सुरक्षितता', 'मुक्ति'। मुसलमानों का साधारण अभिवादन शब्द 'अस्सलामालेकुम' का अर्थ है 'आप शान्ति से रहें।'

अपने व्यक्तिगत जीवन में मुहम्मद साहब बहुत सौजन्यपूर्ण और दयालु थे और पर्देनशीन कुमारी से भी अधिक सलज्ज थे। छोटों के प्रति तो वे विशेष रूप से क्षमाशील थे। अपने नौकर अनस को तो शायद ही उन्होंने कभी डांटा हो। वे सभी बच्चों से प्रेम करते थे और शाप कभी नहीं देते थे।[1]

अरब में उस समय स्त्रियों और गुलामों के साथ बड़ा अन्याय होता था। मुहम्मद साहब ने अपने अनुगामियों को आज्ञा दी कि वे इनके प्रति अच्छा बर्ताव करें। उन्होंने जानवरों के अधिकारों पर भी ज़ोर दिया और आमोद-प्रमोद के लिए की गई जीवहिंसा को निन्दनीय बताया। उनकी शिक्षा थी कि किसी भी जानदार के साथ, चाहे वह पशु हो या पक्षी, निर्दयता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सभी इस जीवन के बाद खुदा के पास वापस जायंगे।[2] उन्होंने आज्ञा दी कि निशाना मारने वाले निशाने की जगह जीवित चिड़ियों का उपयोग न करें।

निस्सन्देह कुरान बचाव के युद्ध और अन्यायी के विरुद्ध युद्ध की आज्ञा देती है।[2] मुहम्मद साहब ने स्वयं युद्ध किये, लेकिन वे बचाव के युद्ध थे और उन्होंने हारे हुए शत्रुओं को क्षमा कर दिया। इसके अलावा कुरान में कुछ ऐसे स्थल भी हैं जो यह प्रदर्शित करते हैं कि वे हिंसा की अपेक्षा अहिंसा को अन्याय और बुराई के जीतने का अधिक अच्छा उपाय समझते थे। उन्होंने कहा "बुराई को उस तरीके से हटाओ जो बुराई से अधिक अच्छा हो।"[2]

उन्होंने धर्म परिवर्तन के लिए बल-प्रयोग की आज्ञा नहीं दी। उन्होंने कहा, "धर्म में जबरदस्ती नहीं होनी चाहिए। ठीक रास्ता ग़लत रास्ते से अपने आप साफ है।"[2] "लेकिन अगर खुदा की यही मर्जी होती तो

१. जान्स्टन, 'मोहम्मद एण्ड हिज पावर'--पृ० १४६।

२. 'कुरान' ६।३८। वही –२२।३९ और २।१९०-१९३। वही –२८।६८; ५।१२७ ४१।१२७, २८।१६६। वही –२।२५६। वही –१०।९९-१००; २।१९, ६।१०८, १६।१३८; २५।२२; १३।८, २२।४१, इत्यादि।

दुनिया के सब आदमियों ने एक ही मज़हब को माना होता। तब क्या तू उनको इस बात पर मजबूर करेगा कि वे तेरे धर्म को मानें ? कोई आदमी बिना खुदा की मर्ज़ी के धर्म को मान नहीं सकता।"[1] एकमात्र उपाय जिसकी उन्होंने आज्ञा दी वह था शिक्षा और प्रचार।[1] उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त की और सब जातियों, रंगों और धर्मों के मनुष्यों के भाईचारे के आदर्श की शिक्षा दी।[1]

चीन

चीन के इतिहास में भी अहिंसा की परम्परा दीर्घकालीन है। हज़ारों साल से चीन निवासी हड़ताल के शस्त्र का प्रयोग करते रहे हैं। ईसा से ५४६ वर्ष पूर्व भी चीन में निःशस्त्रीकरण के प्रस्ताव का इतिहास मिलता है। चीन के तीनों धर्म कन्फ्यूशियन धर्म ताओ धर्म और बौद्ध धर्म शांतिप्रिय और हिंसा-विरोधी हैं।

यूरोप के विचारक युद्ध की वीरता और युद्ध में प्राप्त मृत्यु की प्रशंसा करते हैं। प्राचीन चीन के महर्षि कन्फ्यूशियस (लगभग ५५१ से ४७८ वर्ष ईसा पूर्व) के मत में साहसपूर्ण मृत्यु की अपेक्षा सामंजस्ययुक्त, संयमपूर्ण जीवन अधिक ग्राह्य है। कन्फ्यूशियस का स्वर्ण-नियम, जो सब प्रकार के मानवीय व्यवहारों का आधार है, पारस्परिकता का सिद्धान्त है। पारस्परिकता का अर्थ यह है कि मनुष्यों को दूसरों के साथ वैसा ही वर्ताव करना चाहिए जैसा वह चाहते हैं कि दूसरे उनके साथ करें।[1]

कन्फ्यूशियस को व्यक्तिगत सम्बन्धों में हिंसा मान्य न थी। लेकिन वह सामूहिक हिंसा के विरोधी न थे। वह सेना को सरकार की तीसरी आवश्यकता मानते थे। वह चीन के ताओ धर्म के प्रवर्तक लाओसे के इस सिद्धांत को भी असंगत मानते थे कि बुराई के जवाब में भलाई की जाय। उनके मत से बुराई का जवाब न्याय है।[1] इस प्रकार यद्यपि उन्होंने व्यक्तिगत सम्बन्धों में बदला लेने की प्रवृत्ति को त्याज्य बताया, लेकिन उन्होंने प्रेम से बुराई को जीतने की शिक्षा नहीं दी।

कन्फ्यूशियस के समकालीन लाओसे अराजकतावादी, प्रगतिवादी, युद्ध-विरोधी दार्शनिक थे। कन्फ्यूशियस की अपेक्षा उनके सिद्धान्तों में जो ताओ मत का आधार है, अहिंसा का अधिक विकास हुआ है। उनकी शिक्षा में वैयक्तिक सम्बन्धों में अहिंसा के विधायक स्वरूप का अर्थात् बुराई को प्रेम से जीतने का प्राधान्य है। "ताओ" का अर्थ है "मार्ग"। मनुष्य का परम

---

१. सोपर, 'रेलिजन्स आव मैन्काइंड', पृ० २२६। वही; पृ० १६।

धर्म यह है कि 'ताओ' को, जो अहँता और हिंसा के विपरीत अहँता-त्याग का शाश्वत सार्वभौम सिद्धांत है, सीखे और उसका अनुकरण करे। अहँता-त्याग का अर्थ है अहँता से छुटकारा पाना और बुराई के बदले भलाई करना। इस प्रकार चीन में पहले-पहल लाओत्से ने (हिंसात्मक) अप्रतिरोध का प्रतिपादन किया। लेकिन उनकी शिक्षा वैयक्तिक सम्बन्धों तक सीमित रही और उन्होंने इस बात का विवेचन नहीं किया कि इस सिद्धांत का प्रयोग सामाजिक सम्बन्धों में किस प्रकार हो सकता है।

अतिआधुनिककाल में चीन ने अक्सर इंगलिस्तान और जापान के विरुद्ध आर्थिक बहिष्कार का प्रयोग किया है। चीन आज युद्धविरोधी देश नहीं है, लेकिन वह आक्रमणशील राष्ट्रीयतावाद से भी मुक्त है।

यूनान और रोम

प्राचीन ग्रीस में महर्षि सुकरात सत्याग्रही थे। उन्होंने सत्य के अन्वेषण को और अपने देशवासियों की भ्रमपूर्ण मान्यताओं के अहिंसात्मक प्रतिरोध को छोड़ देने की अपेक्षा ज़हर के प्याले को अधिक श्रेयस्कर समझा।

उनके शिष्य प्लेटो का कहना था कि विश्व-सृजन पाशविक शक्ति के ऊपर अहिंसा की विजय है और हिंसा से विशृङ्खलता की उत्पत्ति होती है। "राज्य" नाम की विख्यात पुस्तक में प्लेटो का यह मत था कि योद्धाओं का दर्जा दार्शनिकों के बाद है।

स्टोइक दार्शनिक एपिक्टेटस और मारकस आरलियस ने स्पष्टरूप से वैयक्तिक सम्बन्धों में बुराई के (हिंसात्मक) अप्रतिरोध के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। लेकिन इन दार्शनिकों ने इस सिद्धांत का प्रयोग युद्ध और अपराधों के दंड देने के सम्बन्ध में नहीं किया।[१]

ईसा से पूर्व पांचवीं सदी के प्राचीन रोम में अहिंसात्मक असहयोग का एक उल्लेखनीय दृष्टांत है। शोषित प्लेबियन समूह ने अहिंसात्मक हिजरत के द्वारा दबाव डालकर शोषक पैट्रीशियनवर्ग से अपने राजनैतिक और आर्थिक अधिकार प्राप्त किये।[२]

यहूदी मत

यहूदियों की धर्मपुस्तक ओल्ड टेस्टामेंट में ऐसी शिक्षाओं का, जो आज अहिंसा के आन्दोलन की विरासत है, बाहुल्य है। पेन्टाट्यूक की कुछ शिक्षाएं

१. केस, 'नानवायोलेन्ट कोएर्शन', पृ० ३४-४१।

२. लाइट, 'कान्क्वेस्ट आव वायोलन्स', पृ० १०६-७।

उल्लेखनीय हैं। "यदि तुझे अपने पड़ोसी का ग़लत रास्ते जाता हुआ बैल या गधा मिल जाय तो निश्चय ही तुझे उसे वापस लाना होगा।"

"यदि तेरा दुश्मन भूखा है तो उसे खाने को रोटी दे और अगर वह प्यासा है तो उसे पीने को पानी।"

"यदि तेरा दुश्मन असफल हो, यदि उसे ठोकर लगे, तो प्रसन्न न हो।"

"घृणा झगड़ों को उन्माहित करती है, लेकिन प्रेम सब पापों को ढक लेता है।"[1]

यहूदी मत के उत्तरकालीन धर्मग्रन्थों—मिश्ना, उसकी टीकाओं और ताल्मुद—ने अहिंसा की इस परम्परा को जीवित रखा। प्राचीन यहूदी जाति के बारे में प्रोफेसर हॉकिंग ने लिखा है, "उस (जाति) के बारे में, एक सुदृढ़ धार्मिक श्रद्धा के कारण यह सम्भव हो सका कि उसके सार्वजनिक मामलों का प्रबन्ध एक अपूर्व निर्बंध रीति से बलप्रयोग के बिना हुआ। और यद्यपि उस धार्मिक श्रद्धा की पुनरावृत्ति नहीं हो सकती, उसके नैतिक समतुल्य की सम्भावना सोची जा सकती है।" लार्ड एक्टन लिखते हैं, "इज़राईल निवासियों के शासन-प्रबन्ध के लिए एक संघ था जिसके अस्तित्व का साधन राजनैतिक शक्ति नहीं जाति और धर्म की एकता थी और जिसका आधार पाशविक शक्ति नहीं स्वेच्छा से किया हुआ इक़रारनामा था।"[2]

यहूदियों के धर्म-ग्रन्थों में अहिंसा का महत्त्वपूर्ण स्थान अवश्य है और अर्से से यहूदियों पर निर्दयतापूर्ण अत्याचार भी हुए हैं, लेकिन यहूदियों में अहिंसात्मक प्रतिरोधक के सिद्धान्त को मानने की प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती।

ईसाई-धर्म

ईसाई-धर्म की उत्पत्ति यहूदी-धर्म में हुई और ईसा की शिक्षा वास्तव में ओल्ड टेस्टामेंट के धर्मप्रवर्तकों की शिक्षा, अर्थात् प्रेम का नियम, ही है। ईसामसीह ने इस नियम को पारस्परिकता के तल से भी विधायक सप्रयोजनता के स्तर पर उठाकर नैतिक दृष्टिकोण से उसका क्रान्तिकारी और काया-पलट करने वाला बना दिया है। उन्होंने बार-बार ये शब्द दोहराए हैं, "तुमने सुना है कि प्राचीन धर्मप्रवर्तकों ने किस प्रकार यह कहा है......लेकिन मैं तुमसे कहता हूँ।" ईसा के इन शब्दों से उनकी शिक्षा की क्रान्तिशील प्रवृत्ति और

१. 'एक्सोडस', २३।४; 'प्रावर्ब्स', २५।२१, २४।१७; 'प्रोवर्ब्स', १०।१२।

२. हॉकिंग, 'मैन एंड दि स्टेट'—पृ० ६३ और उसी पृष्ठ पर लार्ड एकटन का उद्धरण।

यहूदी परम्परा से उसका सम्बन्ध स्पष्ट ज्ञात होता है।[1]

ईसामसीह और उनकी शिक्षाएं गांधीजी के सत्याग्रही दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। गांधीजी ने एक बार अपने मित्र जे० जे० डोक साहब से कहा था कि न्यू टेस्टामेंट और विशेषकर 'पर्वत के धर्मोपदेश' के द्वारा ही सत्याग्रह की अनमोल नैतिकता की ओर उनका हृदय जागरित हुआ। गीता ने इस मान्यता को गहरा बनाया और टाल्सटाय के 'दि किंगडम आफ गॉड इज़ विदिन यू' ग्रन्थ ने इसको स्थायी रूप दिया। बाद में गांधीजी के ऊपर रस्किन, थोरो और इंग्लैंड के निष्क्रिय प्रतिरोध आन्दोलन का भी प्रभाव पड़ा। गांधीजी ईसा को सत्याग्रहियों का सिरताज मानते हैं। उनका कहना है कि यदि केवल 'पर्वत के धर्मोपदेश' और उसके उनके अपने अनुवाद को स्वीकार करने की ही बात होती तो उनको अपने को ईसाई मानने में ज़रा भी संकोच न होता।[2]

निस्संदेह बाइबिल में वर्णित ईसा से सम्बन्धित कुछ घटनाएं और उनके कुछ कथन, ठीक-ठीक अहिंसक नहीं लगते। इनके दृष्टांन्त हैं सिक्के-फरोशों को मन्दिर से भगाने के लिए कोड़े का प्रयोग ('जान', २।१५), सुअरों का विनाश ('ल्यूक', ८।२६-३४), तलवार मोल लेने की आज्ञा ('ल्यूक', २२।३६), बलवान सशस्त्र मनुष्य का कथानक ('ल्यूक', ११।२१) और ईसा का यह कथन, "अच्छा होता यदि उसके गले में चक्की का पाट डाल दिया जाता और उसे गहरे समुद्र में डुबो दिया जाता" ('मैथ्यूज़', १८।६)।

हो सकता है कि इन अहिंसात्मक न लगने वाले ईसा के कथनों और उनके जीवन की घटनाओं में उनके शिष्यों की संपादन-प्रक्रिया के कारण कुछ हेरफेर हो गया हो। फिर इन थोड़े-से संदिग्ध हिंसानुमोदक उद्धरणों के विपरीत ऐसे दृष्टान्तों की बहुतायत है जिनमें उन्होंने शारीरिक बल के प्रयोग की निन्दा की और प्रेम या अप्रतिरोध के नियम की शिक्षा दी। और उनके कथनों से अधिक महत्ता है उन कार्यों की जो उन्होंने अपने जीवन में और मृत्यु द्वारा किये। उनका जीवन मानवता के प्रेम के लिये कठोर कष्ट-सहन की कथा है। धार्मिक सेवा के जीवन के प्रारम्भ से— जब उन्होंने शक्ति का त्याग कर दिया और शैतान का आधिपत्य मानने से इन्कार कर दिया—अपने साथ विश्वासघात होने, मुकदमा चलने और जीवन के सूली पर गौरवपूर्ण अन्त होने तक उन्होंने बुराई को जीतने के ईसाई-मार्ग का—प्रेम और अप्रतिरोध की शक्ति का—प्रदर्शन किया।

---

१. मैकमरे, 'क्लू टु हिस्ट्री'—पृ० ६६।

२. ऐन्ड्रयूज़, 'महात्मा गांधीज़ आइडियाज़'—पृ० ९३।

ईसा की सम्पूर्ण शिक्षा का स्रोत है: उनकी भगवान के सार्वभौम प्रेमपूर्ण पितृत्व और मानवता के भ्रातृत्व की मान्यता। ईसा ओल्ड टेस्टामेंट की दो आज्ञाओं को उद्धरित करते हैं, "तुझे अपने ईश्वर से प्रेम करना होगा," और "तुझे अपने पड़ोसी से अपने समान प्रेम करना होगा।" ईसा कहते हैं कि दोनों आज्ञाएं एक दूसरे के तुल्य हैं और धर्मप्रवर्तकों और उनकी शिक्षाओं का आधार हैं।[1] इन आज्ञाओं को ईसा की बहुमूल्य देन उनके इन शब्दों से प्रकट होती है, "तुमने सुना है कि यह कहा गया है कि, तू अपने पड़ोसी से प्रेम कर और अपने शत्रु से घृणा।"

"लेकिन मैं तुमसे कहता हूँ कि अपने शत्रुओं से प्रेम करो; जो तुम्हें श्राप दें उनको आशीर्वाद दो; जो तुमसे घृणा करें उनके साथ भलाई करो और जो तुमपर अत्याचार करें और तुम्हारा दुर्भावनापूर्वक दुरुपयोग करें उनके लिये प्रार्थना करो।"

"जिससे तुम स्वर्ग में अपने पिता के (योग्य) पुत्र बन सको; क्योंकि वह अपना सूर्य अच्छाई और बुराई दोनों पर प्रकाशित करता है और न्यायी और अन्यायी दोनों के लिए वर्षा करवाता है।"[1]

इस प्रकार ईसा की शिक्षा में प्राकृतिक प्रवृत्ति का प्रेम विकसित होकर सप्रयोजन, बोधपूर्ण, प्रेम बन जाता है।

प्रेम में किसी प्रकार की हिंसा के प्रयोग का स्थान नहीं। और कहते हैं कि ईसा ने, "जब उनके प्रति दुर्वचनों का प्रयोग हुआ, लौटकर दुर्वचन नहीं कहे और जब उन्हें कष्टसहन करना पड़ा, किसीको धमकाया नहीं।"[1] शरीर-शक्ति का न उपयोग करने का उनका निश्चय उनकी गिरफ्तारी के अवसर पर प्रकट होता है। जब उनकी रक्षा के लिये उनके शिष्य पीटर ने अपनी तलवार निकालकर बड़े पुजारी के नौकर का दाहिना कान काट दिया तो उसकी भर्त्सना करते हुए ईसा ने कहा, 'अपनी तलवार म्यान में फिर रख दो; क्योंकि वे सब जो तलवार उठाते हैं तलवार से विनष्ट होते हैं।'[2]

और 'पर्वत के धर्म-शिक्षण' में हम पढ़ते हैं—

"तुमने सुना है यह कहा गया है कि आंख का बदला आंख और दाँत का दाँत।

"लेकिन मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम बुराई का (हिंसा से) प्रतिरोध ही न करो, लेकिन जो कोई तुम्हारे दाहिने गाल पर थप्पड़ मारे, उसकी ओर बांया भी कर दो।

१. 'मैथ्यूज़'—२२।३७-४०। वही—५।४३-४५। वही—२६।५२।
२. वही—५।३८-४२।

"और अगर कोई तुम्हारे ऊपर मुकदमा चलाकर तुम्हारा कोट भी छीन ले, तो उसको अपना लबादा भी दे दो।

"और जो कोई तुमको एक मील चलने पर मजबूर करे, उसके साथ दो मील चले जाओ।"[१]

अहिंसात्मक प्रतिरोध का सर्वश्रेष्ठ दृष्टांत, उसका आदर्श, हमको मिलता है सूली पर चढ़े ईसा की अपने सताने वालों के लिए भगवान से क्षमा-याचना की इस प्रार्थना में "पिता, उन्हें क्षमा कर, क्योंकि वे नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं।"

यह समझना नितांत भ्रमपूर्ण है कि ईसा के प्रयत्न की सीमा आन्तरिक नैतिकता की प्राप्ति थी और उन्होंने सांसारिक बातों को राज्यशासन के निर्धारण के लिए छोड़ दिया था। ईसा ने कहा, "मैं हूं मार्ग, सत्य और जीवन" और सत्य-मार्ग का प्रभाव आवश्यक रूप से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, प्रकट होगा—वह क्षेत्र सामाजिक हो या वैयक्तिक, नैतिक हो या आध्यात्मिक। बपतिस्मे, प्रलोभन पड़ने, जेरुसलेम में घुसने और कयाफ़स और पाइलट के सामने मुकदमे के कथानक इस बात को स्पष्ट रूप से प्रकट करते हैं कि ईसा अपने को मसीहा मानते थे। वास्तव में उनके विरुद्ध यही आरोप था और उन्होंने इसको पाइलट के सामने मान भी लिया था।

परम्परागत यहूदी मान्यता यह थी कि मसीहा जातीय नेता, सांसारिक शासक होगा जो रोम के आधिपत्य को हटाकर यहूदी स्वतन्त्रता का पुनः-संस्थापन करेगा। निस्संदेह ईसा ने इस जातीयतावादी मान्यता को प्रतिफलित करने का प्रयत्न किया, लेकिन उन्होंने कहा कि उनका राज्य इस संसार का राज्य न था। उन्होंने एक बिल्कुल दूसरे प्रकार के राज्य की क्रांतिकारी शिक्षा दी। उनकी योजना यह थी कि यहूदी हिंसा के विचारों को छोड़ दें, उनके दिखाये हुए प्रेम और अहिंसा के साधनों से शत्रुओं को मित्र बना लें और इस प्रकार उनके आदर्श राज्य की स्थापना में सहायक हों। मालूम पड़ता है कि उनके अहिंसा के मार्ग में यह भी सम्मिलित था कि रोमन साम्राज्य के साथ वहां तक सहयोग किया जाय जहां तक कि उससे यहूदियों की भलाई हो। इसीलिए उन्होंने साइमन को अपना और उसका कर अदा कर देने की आज्ञा दी थी। यही अर्थ उनके इस कथन में भी सन्निहित मालूम होता है, "शासक-सम्बन्धी कर्तव्यों को शासक के प्रति पालन करो और ईश्वर-सम्बन्धी कर्तव्यों को ईश्वर के प्रति।" प्रकट है कि ईश्वर के प्रति अपने कर्तव्यों को

१. ल्यूक—२३।३४।

भुलाकर, औचित्य का विचार न करके, सरकार की प्रत्येक आज्ञा का पालन ईसा के उपयुक्त शब्दों का अर्थ नहीं है। ईसा ने स्वयं राज्य और परम्परा के अत्याचार का विरोध किया। उनका कहना था कि परम्परा मनुष्य के लिए बनी है न कि मनुष्य परम्परा के लिए। यहूदियों ने उनके अहिंसात्मक मार्ग पर चलने से इन्कार कर दिया। इसपर ईसा को जो दुःख और निराशा हुई उसको उन्होंने बहुत हृदय-स्पर्शी शब्दों में व्यक्त किया है।[1]

जैसा कि एच० जी० वेल्स ने लिखा है, ईसा के प्रति किये गये विरोध से और उनके मुकदमें और उनकी सज़ा की परिस्थिति से यह स्पष्ट है कि उनके समकालीन मनुष्यों के लिए ईसा की शिक्षा का अर्थ था मानव-जीवन के सब क्षेत्रों में आमूल परिवर्तन।[2] इस प्रकार ईसा का जीवन-कार्य था एक सार्वभौम सिद्धान्त का प्रचार और यही उनकी मृत्यु का कारण भी था। इस बात से इन्कार करना कि उनका मार्ग व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से सबके लिए है उनकी शिक्षा के मूलभूत सत्य से मुख मोड़ना है।

ईसा के बाद

यद्यपि ईसा और उनके शिष्यों ने युद्ध के बारे में कुछ नहीं कहा, लेकिन यह स्पष्ट है कि तलवार सलीब से मेल नहीं खाती। प्राचीनकाल के ईसाइयों ने हिंसा को त्याज्य बताया और रोमन फौज में भर्ती होने से इन्कार करने के कारण कठोर यातनाओं का स्वागत किया। लेकिन थोड़े दिन बाद चर्च ने सैनिक सेवा के सिद्धान्त को मान लिया। चौथी सदी के प्रारम्भ में रोमन सम्राट् कांस्टेंटाइन ने ईसाई धर्म को दीर्घकालीन अत्याचारों से मुक्त करके राज-धर्म बना दिया। सन् ३१४ ई० में कृतज्ञतावश चर्च ने यह नियम बना दिया कि साम्राज्य की सेनाओं को छोड़कर भाग जाने वालों का धार्मिक बहिष्कार किया जाय और साधारण रूप से ईसाई पादरी फ़ौजों के साथ रहने लगे। यह परम्परा आज भी जीवित है और इससे प्रकट होता है कि ईसाई देशों में पादरियों से आशा की जाती है कि वे फ़ौज को आशीर्वाद देकर, नैतिक दृष्टिकोण से, भर्ती करने वाले अफ़सरों का सा काम करें। यह ध्यान में रखने की बात है कि राजनैतिक स्थिति संभलने पर, साम्राज्य से प्रतिष्ठा प्राप्त होने पर, चर्च का नैतिक पतन हुआ।

मध्यकालीन यूरोप में ईसाई चर्च ने धर्मयुद्धों को महत्ता दी। लेकिन बहुत-से मध्यकालीन ईसाई सम्प्रदायों ने युद्ध और हिंसा से समझौता करने

१. दृष्टान्त के लिए देखिये, 'ल्यूक'--१३।३४ और २३।२८-३०।

२. 'ऐन आउटलाइन हिस्ट्री ऑव दि वर्ल्ड' --पृ० ३१-३२।

से इन्कार किया और उनका उग्र विरोध किया। इन सम्प्रदायों में मुख्य थे अल्बिजेन्सेज़, वाडोइ, लोलार्ड्‌स, पालोशियन्स, मेनोनाइट्‌स इत्यादि।

सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में इरैस्मस ने विचारकों का ध्यान हिंसा की बुराइयों की ओर आकृष्ट किया। उनका मत था कि हिंसा के स्थान में समझाने-बुझाने और अहिंसा का उपयोग करना चाहिये।

सोलहवीं सदी के एक फ्रांसीसी लेखक एटीं देलाबोती के एक लेख 'ऑव वालंटरी सर्वोटयूड' का थोरो, टालस्टाय और अन्य विचारकों पर गहरा प्रभाव पड़ा। "उसका कहना था कि जनता का आज्ञापालन शासकों की शक्ति का आधार है और यह शक्ति शारीरिक की अपेक्षा नैतिक अधिक है। उसका आधार इतना हिंसा नहीं जितना आदर, अर्थात शासकों के शासन करने के अधिकार में विश्वास है।"[1]

इस समय यूरोप में बहुत-से अनाबैप्टिस्ट ईसाई सम्प्रदायों का किसी भी परिस्थिति में प्रयुक्त हिंसा का विरोध जारी था। इनमें से कुछ सम्प्रदाय मुकदमों में और राजनैतिक कार्यों से अलग रहते थे। उनके मत से तत्त्वत: राज्य की बुनियाद हिंसा है और इसलिए राज्य से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों में भाग नहीं लेना चाहिए। इन सम्प्रदायों ने अपने हिंसा-विरोधी विचारों के कारण बहुत मुसीबतें झेली। उनमें से कुछ तो लोप ही हो गये और कुछ अमेरिका में जाकर बस गए।

क्वेकर्स

सन् १६६० ई० में जार्ज फाक्स ने क्वेकर्स की विख्यात सोसाइटी ऑव फ्रेन्ड्स (मित्र-समाज) की नींव डाली। फाक्स, विलियम पेन और बार्क्ले युद्ध-विरोधी क्वेकर-सिद्धान्तों के प्रतिपादक थे। क्वेकरों के लिए युद्ध-विरोध और (हिंसक) अप्रतिरोध का आधार है यह मान्यता कि प्रत्येक मनुष्य का पथ-प्रदर्शन एक आंतरिक प्रकाश के द्वारा होता है। इस अन्तर्ज्योति की स्थिति बाइबिल से भी ऊँची है और मनुष्यों में उसके अस्तित्व के कारण किसी को भी उनको मजबूर करने का अधिकार नहीं।[2] किंतु अधिकतर अनाबैप्टिस्ट सम्प्रदायों के विपरीत क्वेकर लोग राजनीति में भाग लेने के विरुद्ध नहीं हैं। अशोक की तरह उनकी प्रवृत्ति सक्रिय है—उनका कहना है कि यह प्रयत्न करना चाहिए कि राजनीति आध्यात्मिकता के रंग में रंग जाय, उसकी हिंसा दूर हो जाय और राज्य का संचालन अहिंसा-मार्ग से हो। युद्ध के

१. देखिये ऊपर उद्धृत लाइट की पुस्तक--पृ० १०५।
२. बील्स, 'हिस्ट्री ऑव पीस'- पृ० ३१।

सम्बन्ध में भी केवल यही नहीं कि वह सेना-सम्बन्धी कामों से संबंध न रखें, क्वेकर्स सक्रिय रूप से यह भी प्रयत्न करते हैं कि शान्ति बनी रहे और झगड़ों का फैसला पञ्चायतों द्वारा हो।[1]

एक अहिंसक राज्य

क्वेकर राज्य, पेनसिलवेनिया, की स्थापना पेन और रेड इंडियन्स की सन् १६८२ ई० की सन्धि के आधार पर हुई थी। पेन ने रेड इंडियन्स से कहा था, "दोनों में से कोई भी दूसरे से अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न न करेगा। सब बातें प्रकट और प्रेम की होंगी। हम लोग ऐसे ही हैं जैसे कि एक शरीर के दो हिस्से। हम सब एक मांस और एक खून हैं।"[2] यह भी तै हो गया था कि रेड इंडियन्स और उपनिवेश-निवासियों के झगड़ों का फैसला एक पञ्चायत करेगी। क्वेकर-राज्य ७० वर्ष तक चलता रहा। उसकी असफलता का कारण था एक तो उपनिवेश में बहुत-से अन्य गोरों का आ बसना जिनके कारण क्वेकर्स का बहुमत न रह गया। दूसरे, पड़ोस के फ्रांसीसी उपनिवेश से झगड़ा हो जाने के कारण पेनसिल-वेनिया के गवर्नर को सैनिक कार्रवाई करनी पड़ी और यह बात क्वेकर-सिद्धान्तों के दृष्टिकोण से असंगत और इस उपनिवेश के अहिंसक रूप को बिगाड़ने वाली थी। लेकिन क्वेकर्स की अहिंसा का यह प्रभाव हुआ कि गोरों के शत्रु रेड इंडियन्स ने पेनसिलवेनिया और दूसरे उपनिवेशों में रहने वाले क्वेकर्स पर आक्रमण नहीं किया। बिना किसी प्रकार की सेना की सहायता के राज्य-संचालन का क्वेकर्स का यह अपूर्व प्रयोग और सत्तर साल तक उसकी सफलता शान्ति और अहिंसा के मार्ग पर चलने वालों के लिए प्रोत्साहन का महत्त्वपूर्ण स्रोत है।

दूखोबार्स

दूखोबार्स एक शान्तिप्रिय, अहिंसावादी रूसी सम्प्रदाय है। ये सन्यासियों के आचार-नियमों के अनुसार रहते हैं, निरामिषभोजी हैं, सब तरह की हिंसा के विरोधी हैं और किसी भी शक्ति का, जो दैवी नहीं है, आधिपत्य मानने से इन्कार करते हैं। मॉड के शब्दों में दूखोबार वस्तुतः अराजकतावादी हैं।[3] पिछली दो सदियों में उन्होंने अपने शान्तिप्रिय विश्वासों के कारण बहुत मुसीबतें झेली हैं। पिछली सदी की अन्तिम दशाब्दी में सैनिक सेवा

१. केस की ऊपर उद्धृत पुस्तक—पृ० ६२–३, ६७।

२. बील की ऊपर उद्धृत पुस्तक—पृ० ३२।

३. केस की ऊपर उद्धृत पुस्तक—पृ० ११४।

से इन्कार करने के कारण उनपर कठोर अत्याचार हुए। उनमें से बहुत सन् १८६६ में रूस छोड़कर कनाडा में जा बसे। किन्तु वहां भी उनका सरकार से झगड़ा हुआ। रूस में नई कम्यूनिस्ट सरकार ने भी उनपर सख्तियां कीं; क्योंकि उन्होंने फौज में भर्ती होने से दृढ़ता से इन्कार कर दिया और सामूहिक खेतों का इसलिए उग्र प्रतिरोध किया कि वह ईश्वर-सेवा के लिए नहीं केवल मनुष्य-हित के लिए हैं।

उन्नीसवीं सदी के मध्य में फ्रांसीसी क्रांतिकारी बेलगरीग के विचारों में हमको कुछ हद तक गांधीजी के राजनैतिक विचारों की झलक मिलती है। बेलगरीग का विश्वास था कि सरकार हिंसा पर आश्रित है और इसलिए एक बुराई है। उन्होंने शांति के सिद्धान्त की शिक्षा दी, जिसके अनुसार सरकार निष्क्रियता अर्थात् असहयोग के द्वारा जीती जा सकती है।[1]

थोरो

गांधीजी पर अमेरिका के प्रसिद्ध अराजकतावादी हेनरी डेविड थोरो के कार्यों और विचारों का बड़ा प्रभाव पड़ा है। थोरो ने ही "सिविल डिसओबीडियन्स" (भद्र अवज्ञा) शब्दों का प्रयोग सबसे पहले सन् १८४६ में अपने एक भाषण में किया था। संक्षेप में उनका सिद्धान्त यह है कि जिन मनुष्यों और संस्थाओं से भलाई हो उनसे अधिक-से-अधिक सहयोग करना चाहिये और जिनसे बुराई को प्रोत्साहन मिले उनसे अधिक-से-अधिक असहयोग। किन्तु गांधीजी के विपरीत थोरो ने गुलामी को हटाने की हलचल में अमेरिकन सरकार के विरुद्ध निष्क्रिय प्रतिरोध को ही नहीं सक्रिय (हिंसक) प्रतिरोध को भी न्यायोचित बताया। थोरो का विश्वास था कि मनुष्य की प्राकृतिक प्रवृत्तियां भलाई की ओर है और प्रत्येक परिस्थिति में मनुष्य को अपनी अन्तरात्मा के फैसले पर चलना चाहिए। थोरो का आदर्श समाज था राज्यरहित जनतन्त्रवादी समाज।

रस्किन

गांधीजी के विचारों के निर्माण में जॉन रस्किन की 'अन्टु दिस लास्ट' उसमें वर्णित (सर्वोदय) नाम की पुस्तिका का बड़ा असर पड़ा है, विशेषकर शारीरिक परिश्रम के आदर्श का। गांधीजी ने इस पुस्तक को दक्षिण अफ्रीका मे पढ़ा था। तीन शिक्षाएं जो उन्हें इस पुस्तिका से मिलीं वे ये हैं—

(१) व्यक्ति का हित सर्वहित में सम्मिलित है।

(२) सबको अपने कार्य से जीविकोपार्जन का समान अधिकार है,

१. लास्ट की ऊपर उद्धृत पुस्तक —पृ. १०६-१०।

इसलिए वकील के कार्य का वही मूल्य है जो नाई के कार्य का।

(३) परिश्रम का जीवन, अर्थात् किसान का और मजदूर का जीवन ही मनुष्योचित जीवन है।[1]

रस्किन की एक दूसरी पुस्तक 'क्राउन ऑव वाइल्ड ऑलिव्ज़' (जङ्गली ज़ैतूनों का ताज) गांधीजी को बहुत प्रिय है।

गांधीजी के बहुत-से विचार रस्किन के विचारों से मिलते-जुलते हैं। दोनों आत्मा को चरम-तत्त्व मानते हैं और मनुष्य-स्वभाव की अच्छाई में विश्वास करते हैं। दोनों बुद्धि की अपेक्षा चरित्र को अधिक महत्त्व देते हैं। दोनो राजनीति और अर्थशास्त्र को नीतिमय बनाना चाहते हैं। दोनों राजनैतिक सुधार की अपेक्षा सामाजिक नवनिर्माण की प्राथमिकता पर ज़ोर देते हैं। दोनों बड़ी मशीनों को अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं और यह चाहते हैं कि उनका उपयोग यदि करना ही पड़े, तो इस प्रकार होना चाहिये कि उनसे मनुष्य की दासता की नहीं स्वतन्त्रता की वृद्धि हो। दोनों का कहना है कि पूंजीपति का बर्ताव उसके मजदूरों के प्रति ऐसा ही होना चाहिये जैसा एक बुद्धिमान्, कल्याणकारी पिता का अपने परिवार के सदस्यों के प्रति होता है।

किन्तु बहुत बातों मे गांधीजी के और रस्किन के विचारों में भिन्नता है। रस्किन के गुरु कार्लाइल जनतन्त्रवाद के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि राज्य मे प्रत्येक मनुष्य को वोट का अधिकार देने का अर्थ है प्रत्येक जानवर को वोट देने का अधिकार देना। अपने गुरु की तरह और गांधीजी के विपरीत, रस्किन जनता को अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। एक बार ग्लासगो मे विद्यार्थियों से उन्होंने कहा था, "आपका राजनीति से उतना सम्बन्ध है जितना चूहे पकड़ने से... मैं उदार (लिबरल) मत से उसी प्रकार घृणा करता हूँ जैसे शैतान से। अब इंग्लैंड में केवल कार्लाइल और मैं ईश्वर और रानी (विक्टोरिया) की श्रेष्ठता में विश्वास करते हैं।"[2] कार्लाइल की तरह ही रस्किन का भी राजनैतिक आदर्श है सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमान का शासन। रस्किन का विश्वास जनतन्त्रवाद में नहीं "कुछ मनुष्यों की, और कभी-कभी तो एक मनुष्य की औरों की अपेक्षा सर्वकालीन श्रेष्ठता" में है। उनका मत है कि इन श्रेष्ठ मनुष्यों को शासक बनाना चाहिये जिससे वे अपने ज्ञान और बुद्धिमत्तापूर्ण संकल्प से साधारण मनुष्यों का पथ-प्रदर्शन करें, उनका नेतृत्व करें और कभी-कभी उनसे जबरदस्ती काम करवाएँ और उनको अपने

१. 'आत्मकथा'- भाग. ४, अ. १६।
२. 'वर्क्स ऑव रस्किन'---भा. ३४, पृ. ५४८-६।

आधीन रखें। रस्किन के अनुसार प्रत्येक महत्वपूर्ण सभा में ठीक राय बहुमत की नहीं एक मनुष्य की होती है। प्रत्येक आवश्यक कार्य का संचालन इस समझदार, सम्मानपूर्ण और सहृदय मनुष्य के हाथ में होना चाहिए।[1] रस्किन इस प्रकार अहिंसा के सिद्धान्त को उस हद तक नहीं मानते जिस हद तक गांधीजी। लेकिन रस्किन बदला लेने के विरोधी हैं और चाहते हैं कि मजदूर शस्त्र-उत्पादन के कार्य में सहयोग न करें। गांधीजी के विपरीत रस्किन यह भी चाहते हैं कि राज्य का कार्यक्षेत्र बढ़ जाय।[2]

टालस्टाय

गांधीजी के विचार रस्किन की अपेक्षा टालस्टाय से अधिक मिलते-जुलते है।

टालस्टाय का तत्त्व-दर्शन, जिसे क्रिश्चियन अराजकतावाद कहा जाता है, आधुनिक राजनैतिक और सामाजिक प्रश्नों के हल करने में पर्वत के धर्म-शिक्षण का प्रयोग है। टालस्टाय के अनुसार ईसा की शिक्षाओं का मूलभूत सब सिद्धान्त और समस्याओं के निबटारे का पूर्ण साधन प्रेम है। प्रेम ही टालस्टाय के (हिंसात्मक) अप्रतिरोध और (अहिंसात्मक) असहयोग के सिद्धान्तों का आधार है। टालस्टाय का विश्वास है कि संसार को सुखी बनाने का एकमात्र मार्ग है संसार में ऐसी स्थिति पैदा कर देना जिसमें सभी अपनी अपेक्षा दूसरों से अधिक प्रेम कर सकें। उन्होंने 'सबके सुख' की परिभाषा इन शब्दों में की है "कि मैं जितना अपने आपसे प्रेम करता हूं उसकी अपेक्षा दूसरों से अधिक प्रेम करूं।"[3] मोड का कहना है कि टालस्टाय के सिद्धान्त का स्रोत बाइबिल का निम्न उद्धरण है —

"तुम बुराई का (हिंसा से) प्रतिरोध ही न करो, लेकिन जो कोई तुम्हारे दाहिने गाल पर थप्पड़ मारे, उसकी ओर बांया भी कर दो।

"और अगर कोई तुम्हारे ऊपर मुकदमा चलाकर तुम्हारा कोट छीन ले,

१. 'वर्क्स आव रस्किन'—भा. ३१, पृ. ५०५ और बार्कर, 'पोलिटिकल थाट फ्राम स्पेन्सर टु टुडे'—पृ. १६३।

२. विलेन्स्की, 'जान रस्किन' —पृ. २६६-८।

३. रोमांरोला को ४ अक्तूबर, सन् १८८७ का लिखा टालस्टाय का पत्र, 'माडर्नरिव्यू' जनवरी, १६२७ पृ. ८८ (कालिदास नाग द्वारा फ्रेन्च से अनुवादित)।

तो उसको अपना लबादा भी दे दो।"[1]

टालस्टाय की धारणा है कि किसी भी जीवधारी पर किसी प्रकार का बल-प्रयोग, या जबरदस्ती उसे अपनी इच्छा के अनुसार चलाना, एक अपराध है और यही धारणा उनकी अहिंसा का मूल है। गांधीजी को कोचेटी से ७ सितम्बर, सन् १९१० ई० को टालस्टाय ने एक पत्र में लिखा था कि "सब प्रकार के हिंसात्मक विरोध के त्याग का अर्थ है......भ्रमपूर्ण युक्तियों से अदूषित प्रेम का नियम। वास्तव में जीवन का उच्चतम या एकमात्र नियम है प्रेम, या दूसरे शब्दों में मनुष्यों की आत्माओं का एकत्व की ओर प्रयास और उस (प्रयास) से उत्पन्न एक-दूसरे के प्रति विनम्र व्यवहार। जीवन के सर्वश्रेष्ठ नियम के रूप में प्रेम से किसी प्रकार का बल-प्रयोग मेल नहीं खाता। जैसे ही बल-प्रयोग का औचित्य एक मामले में भी मान लिया जाता है, फौरन इस (प्रेम के) नियम का निषेध हो जाता है।"[2]

ईसाई सभ्यता ईसाई होने का दावा तो करती है, लेकिन बल-प्रयोग के द्वारा बचाव की आज्ञा भी देती है। टालस्टाय के अनुसार ईसाई सभ्यता का सब से बड़ा दोष यह है कि वह परस्पर विरोधिनी हिंसा और अहिंसा दोनों का औचित्य स्वीकार करती है। प्रेम के नियम में अपवादों की गुँजाइश नहीं, इसलिए वह नियम तो इस सभ्यता में चालू ही नहीं है। वास्तव में इस सभ्यता में एक ही नियम है, वह है हिंसा का नियम या सबसे अधिक बलवान का नियम। टालस्टाय ने राज्य और उसकी संस्थाओं को—कचहरियों को, पुलिस और फौज को, निजी सम्पत्ति और पूँजीवाद को, स्कूलों को भी—त्याज्य बताया है, क्योंकि यह सब प्रेम के नियम के विपरीत है। वे बल-प्रयोग के, टैक्स देने के और अनिवार्य सैनिक-सेवा के विरोधी हैं। उनकी भाषा में "शब्द 'ईसाई राज्य', 'गर्म बर्फ से' मिलते-जुलते हैं। या तो राज्य हिंसा का उपयोग नहीं करता या वह ईसाई नहीं है।" टालस्टाय आज के संगठित समाज के स्थान में निर्बंध, स्वेच्छापूर्वक किये गये सहयोग के आधार पर विकसित समाज को वाँछनीय समझते हैं। लेकिन वे इस सुदूर के अहिंसावादी समाज के विस्तृत विवेचन के झमेले में नहीं पड़ते।

टालस्टाय का विचार है कि इस प्रकार के सहयोग के विकास का साधन हिंसा नहीं, प्रेम, (हिंसक) अप्रतिरोध और असहयोग है। वह व्यक्ति के नैतिक सुधार पर बहुत जोर देते हैं और शारीरिक श्रम, खेती और उससे

१. 'ल्यूक'—२३।३४।
२. टालस्टॉय, 'एसेज़ एंड लेटर्स' -पृ. ४३५-३६।

की बड़ी उन्नति हुई है। इसका कारण कुछ तो यह है कि अति आधुनिक काल में युद्ध की विनाशकता में बहुत वृद्धि हुई है। यह विनाशकता पहले की अपेक्षा आज मनुष्य-जाति के अस्तित्व के लिए कहीं अधिक संकट की बात है।

अमेरिकन अराजकतावादी बेंजमिन टकर के तत्त्व-दर्शन का आधार बुद्धिमान मनुष्य का स्वाभाविक आत्महित है। वे अत्याचार-पीड़ित जनता के उपयोग के लिए निष्क्रिय-प्रतिरोध की सिफ़ारिश करते हैं, क्योंकि आधुनिक सरकार हिंसात्मक विद्रोह को तो आसानी से दबा सकती है, लेकिन सैनिक-शक्ति से निष्क्रिय-प्रतिरोध को नहीं जीत सकती। उनका कहना है कि यदि जनता का पांचवा भाग भी टैक्स देने से इन्कार कर दे तो उसको वसूल करने के प्रयत्न में बाकी जनता के दिये हुए टैक्स से अधिक धन खर्च हो जायगा। उनकी सरकार की परिभाषा है ' अनाक्रमणशील व्यक्ति का बाह्य-इच्छा-शक्ति के आधीन होना।"[1]

जनतत्र सब मनुष्यों द्वारा एक मनुष्य पर आक्रमण के सिवा और कुछ नहीं है। टकर ऐसे समाज के पक्ष में हैं जिसमें राज्य, सरकार आदि हिंसा का प्रयोग करने वाली संस्थाओं का लोप हो गया हो और उनके स्थान पर ऐसी संस्थाओं और समुदायों की स्थापना हो गई हो जिसकी सदस्यता मनुष्य अपनी इच्छा से स्वीकार कर सके और छोड़ सके। लेकिन टकर को रक्षा-संस्थाओं का यह अधिकार मान्य है कि वह आक्रमणकारी व्यक्तियों के विरुद्ध उन सभी दमन और दंड के साधनों का प्रयोग करें जो आजकल के राज्यों में काम में आते हैं। इस प्रकार के दमन की आवश्यकता बहुत घट जायगी, क्योंकि जब राज्य और उससे रक्षित अन्यायपूर्ण आर्थिक प्रणाली का अन्त हो जायगा, तो प्राकृतिक रूप से अपराधों की भी संख्या बहुत कम हो जायगी।

सन् १८१५ से और विशेष रूप से सन् १९१९ से युद्ध-विरोधी आन्दोलन भी ज़ोर पकड़ रहा है। पिछले महायुद्ध के पहले संसार के लगभग सभी देशों में अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध-विरोधी संस्था, वार-रेज़िस्टर्स इंटरनेशनल की शाखाएँ थीं। पीस-प्लेज यूनियन इसी संस्था की ब्रिटिश शाखा थी। इन युद्ध-विरोधी संस्थाओं की योजनाओं के पाँच मूलभूत सिद्धान्त थे - अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निपटारा पँचायतों द्वारा कर लेने के लिए सन्धियाँ, अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का सङ्गठन, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के ज़ाब्ते की तैयारी, निःशस्त्रीकरण और आक्रमण-कारी राष्ट्रों के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय संस्था द्वारा लगाई जा सकने वाली

१. कोकर, 'रीसेन्ट पोलिटिकल थाट', — पृ० १९८।

पाबन्दियों का निश्चय। इन शान्ति-संस्थाओं ने युद्ध के विरुद्ध व्यापक प्रचार-कार्य किया, लेकिन उनमें दो बातों के बारे में मतभेद था। ये थीं बचाव का युद्ध और व्यक्तिगत जीवन में अहिंसा का स्थान।

यह उल्लेखनीय बात है कि पहले महायुद्ध के बाद सन् १९१९ ई० में जब राष्ट्र-संघ (लीग ऑव नेशन्स) की स्थापना हुई, तो पश्चिम में यह मान लिया गया कि युद्ध-विरोधी आन्दोलन के उद्देश्यों में से बहुतों की पूर्ति हो गई। लेकिन तब से आज तक की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि युद्धों का निराकरण, जो विश्व-शान्ति के आन्दोलन का प्रमुख ध्येय है, तबतक असम्भव है जबतक वैयक्तिक और सामूहिक जीवन से हिंसा को दूर करने का प्रयत्न नहीं होता। बहुत-से शान्ति-प्रिय विचारक, मसलन् मेजर विचमन, रोलैंड होल्स्ट, चार्ल्स नेन, अल्डुस हक्सले, जेराल्ड हर्ड इत्यादि, साधन और साध्य के सामञ्जस्य की आवश्यकता पर ज़ोर देते हैं। वे आधुनिक समाजवाद की इस भयङ्कर भूल पर प्रकाश डालते हैं कि उसका ध्येय और उसके साधन परस्पर-विरोधी हैं। सामाजिक नव-निर्माण और सब प्रकार की हिंसा के मूलोच्छेद का समाजवादी ध्येय लोकोपकारी है। लेकिन इस ध्येय-सिद्धि के लिए समाजवाद युद्ध, हिंसा और डिक्टेटर-प्रणाली का उपयोग करता है। इन साधनों के प्रयोग से जिन प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है, वे समाजवादियों के आदर्श समाज के आधारभूत गुणों के, जो तत्त्वतः अहिंसात्मक हैं, विरुद्ध हैं।[1]

आक्रमणकारी राजनीति से और पिछले महायुद्ध से पश्चिम के युद्ध-विरोधी आन्दोलन को बहुत धक्का पहुंचा। युद्ध-विरोधी सिद्धान्तों में कुछ अग्रगण्य विचारकों की भी श्रद्धा डिग गई और उन्होंने इस बात का समर्थन किया कि प्रजातंत्रवादी राज्य प्रचुर मात्रा में युद्ध-सामग्री रखें और सैनिक-सहयोग करें। इन विचारकों में से प्रमुख थे सी० ई० एम० जोड, बर्ट्रेण्ड रसेल और स्वर्गीय रोमां रोलां।

कुछ समय पूर्व पश्चिम के युद्ध-विरोधियों का रुख सब मिलाकर गतिशील न होकर निषेधात्मक और निष्क्रिय था। उसका महत्त्वपूर्ण प्रेरक हेतु था। युद्ध के परिणाम का डर, न कि सेवा और कष्ट-सहन के रूप में प्रकट होने वाला प्रेम। इसके अलावा पश्चिम के युद्ध-विरोध का प्रारम्भ और अन्त बहुत-कुछ युद्ध-सम्बन्धी कार्यों में भाग लेने से इन्कार था। इस प्रकार के युद्ध-विरोध से मनुष्य संघर्ष से बाहर आ जाता है और साथ-ही-साथ उसको कर्तव्य पालन कर लेने का संतोष भी हो जाता है। किन्तु अब शान्तिवादी आन्दोलन

१. विस्तृत विवेचन के लिए १० वां अध्याय देखिये।

सक्रिय और गत्यात्मक बन रहा है और जीवन की अहिंसक रचना को अपना प्रमुख कार्य बना रहा है।

पिछले डेढ़सौ वर्षों में व्यक्तियों और समूहों द्वारा अहिंसात्मक-प्रतिरोध के प्रयोग के अनेक दृष्टान्त हैं। इन सब की विस्तृत विवेचना या उनका संक्षिप्त उल्लेख इस पुस्तक के विषय के बाहर की बात है। मज़दूरों की हड़ताल आज के आर्थिक जीवन की साधारण घटना है। जीवन के दूसरे क्षेत्रों में भी अहिंसा कारगर सिद्ध हुई है। विदेशों में सामूहिक अहिंसा की कुछ उल्लेखनीय मिसालें हैं—१६ वीं सदी के मध्य में फ्रैन्सिस डीक के नेतृत्व में हंगरी का अहिंसात्मक आन्दोलन, सन् १६०५ ई० में नार्वे और स्वीडेन में युद्ध को रोकने के लिए किया गया दोनों देशों के समाजवादियों का सफल अहिंसात्मक प्रतिरोध और सन् १६२० से १६३६ ई० तक न्यूज़ीलैंड की सरकार के विरुद्ध पश्चिमी समोआ की जनता का वीरतापूर्ण अहिंसात्मक विरोध।[1] लेकिन सामूहिक अहिंसात्मक आन्दोलन का रूप अधिकतर निष्क्रिय-प्रतिरोध का रहा है।[2]

गांधीजी ने अहिंसा के परम्परागत तत्त्वदर्शन का नव-संस्करण किया है। उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अहिंसा के उपयोग की संभावना की छान-बीन की है और उसका प्रयोग देशव्यापी जन-आन्दोलनों में किया है। उनकी धारणा है कि मनुष्य-जाति के सब प्रश्नों को हल करने का एकमात्र मार्ग सत्याग्रह है। उनके शब्दों में, "अहिंसा सब परिस्थितियों में कारगर सार्वभौम नियम है। उसका त्याग विनाश का सबसे अधिक निश्चित मार्ग है।"[3] लेकिन सत्याग्रही प्रतिरोध अहिंसामय जीवन का अविभाज्य अङ्ग है। मनुष्य तभी सफल सत्याग्रही बन सकता है जब वह उन आध्यात्मिक विश्वासों और नैतिक सिद्धान्तों को, जो सत्याग्रह की आधारभूत शिलाएँ हैं, अच्छी तरह समझ ले।

१. ऊपर लिखे हुए और दूसरे दृष्टान्तों के लिए देखिये: फेनर ब्राक्वे, 'नान्‌वो-आपरेशन इन अदर लैंड्स', ग्रेग, 'पावर आव नान्‌वायोलेन्स'; केस, 'नान्‌वायोलेंट कोअर्शन', हनफ्ले, 'इन्साइक्लोपीडिया आव पैसिफिज़्म'।
२. निष्क्रिय-प्रतिरोध और सत्याग्रह की तुलना के लिए देखिये अध्याय ७।
३. ह०, १५-७-१६३६—पृ० २०१।

: २ :

आध्यात्मिक विश्वास

गांधीजी ने एक बार पोलक साहब से कहा था, "बहुत-से धार्मिक मनुष्य जिनसे मैं मिला हूँ भेष बदले हुए राजनीतिज्ञ हैं, लेकिन मैं जो राजनीतिज्ञ का जामा पहिने हूँ, हृदय से धार्मिक मनुष्य हूँ।"[१] सन् १९२९ में उन्होंने डॉ॰ अरुन्डेल को एक पत्र में लिखा था, "मेरा रुझान राजनैतिक नहीं धार्मिक है।"[२] गांधीजी के ये शब्द सर्वोदय तत्व-दर्शन की कुञ्जी हैं। धर्म और नैतिकता उनके विचारों और आचरण की आधार-शिला, उनका जीवन-प्राण हैं। वे कहते हैं, "जबसे मैंने यह जाना है कि सार्वजनिक जीवन क्या है, तब से मेरे प्रत्येक शब्द और कार्य के मूल में नितांत धार्मिक भावना और धार्मिक हेतु रहे हैं।"[३]

धर्म और राजनीति

उनके राजनैतिक विचार और राजनैतिक प्रतिरोध की सत्याग्रही पद्धति उनके धार्मिक विश्वासों और नैतिक सिद्धान्तों के निष्कर्ष हैं। उनकी दृष्टि में धर्म-विहीन राजनीति आत्मा के विनाश की फाँसी है। धर्म के नैतिक आधार के बिना जीवन अर्थहीन और निष्फल है।

लेकिन धर्म का वे संकुचित अर्थ नहीं करते और न वे धर्म को वहमियों और द्वेष और झगड़ा करने वालों के धर्म-विशेष से समीकृत करते हैं।

उनके लिए धर्म वह है जो सब धर्मों में सामंजस्य स्थापित करता है, जो मनुष्य-स्वभाव का कायापलट कर देता है, जो मनुष्य का आंतरिक सत्य से सम्बन्ध स्थापित करता है और सदा उसको पवित्र बनाता है। धर्म मनुष्य-स्वभाव का वह स्थायी तत्त्व है जो पूरी अभिव्यक्ति के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग करने को तैयार रहता है और जिसके कारण आत्मा तबतक नितांत व्याकुल रहती है जबतक वह अपने आप को और अपने निर्मायक

१. 'स्पीचेज'—अपेंडिक्स २, पृ॰ ४०।

२. 'विशाल-भारत', अक्तूबर १९४८ पृ॰ ४०१।

३. यं॰ इं॰—भा॰ ३, पृ॰ ३५०।

को पहिचान नहीं लेती और दोनों के तादात्म्य की अनुभूति नहीं कर लेती।[१] संक्षेप में धर्म का अर्थ है विश्व के सुव्यवस्थित नैतिक शासन में विश्वास।[२] गांधीजी के अनुसार धर्म का वही अर्थ है जो नैतिकता का।[३] धर्म तत्त्वतः व्यावहारिक है और किसी प्रकार सांसारिक समस्याओं से पलायनवाद की शिक्षा नहीं देता। वह सब कार्यों को नैतिकता का आधार प्रदान करता है। जीवन कार्यों से अलग किसी धर्म को गांधीजी नही मानते।[४] उनके शब्दों में "...धर्मसाध में आर्थिक, राजनैतिक इत्यादि विषयों का समावेश है। जो धर्म शुद्ध अर्थ का विरोधी है वह धर्म नहीं है। जो धर्म शुद्ध राजनीति का विरोधी है वह धर्म नहीं है...। अर्थ आदि से अलग धर्म नाम की कोई वस्तु नहीं है।"[५] "मुझे यह मत (कि धर्म का उद्देश्य है मृत्यु के बाद पुण्य-प्राप्ति) मान्य नही। यदि धर्म का इस जीवन में व्यावहारिक उपयोग नही है, तो मेरे लिए दूसरे जीवन में भी कुछ नही"।[६]

वास्तव में गांधीजी राजनीति को एक ऐसी अशुभ बात मानते हैं जिससे छुटकारा नहीं हो सकता।[७] किन्तु धर्म ही उनको राजनीति न त्यागने को

१. 'स्पीचज़'–पृ० ८०७।

२. ह०, १० २-४० --पृ० ४४५।

३. 'एथिकल रेलिजन'–पृ० २३-२४।

४. ह०, २४-१२-३८ –पृ० ३६३।

५. भुमन, 'गांधी वाणी' पृ० ११६ १७ में हि० न० जी० १०६-२५ से उद्धृत।

६. ह० ७-४ ४६–पृ० ६६।

७. स्पीचेज–पृ० ८०७।

गांधीजी सम्भवतः राजनीति को अशुभ इसलिए बताते है कि वे अराजकतावादी हैं और राज्य को भी अशुभ मानते है। (उनके अराजकतावादी सिद्धान्त के लिए ११वाँ अध्याय देखिये)। किन्तु यदि राजनीति का रूप पेशेवर राजनीतिज्ञों की शक्ति-लिप्सा और पद-लोलुपता से विकृत न हो, राजनीति धर्म और नीति पर आधारित हो और यदि उसका वास्तविक उद्देश्य हो सर्वोदय या सबका अधिकतम हित, तो गांधी राजनीति को शुभ और हितकर समझेंगे। किन्तु स्पष्ट है कि ऐसी राजनीति का उद्देश्य होगा हिंसा और उसपर आधारित राज्य का निराकरण। अमृत बाजार पत्रिका (अंग्रेजी दैनिक पत्र, ८-११-४४), एक पत्रकार के प्रश्नों के गांधीजी के उत्तर।

विवश करता है। जीवन का परम ध्येय है आत्म-दर्शन। गांधीजी का विश्वास है कि इसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य सम्पूर्ण मनुष्य-जाति के साथ अपनी आध्यात्मिक एकता का अनुभव करे और सर्वोदय, सर्वभूत-हित या सबकी अधिक-से-अधिक भलाई के लिए सतत प्रयत्नशील रहे। राजनीति में भाग लिये बिना वह ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि मनुष्य के सभी कार्य-क्षेत्र जीवन-समष्टि के, एक समग्रता के, अविभाज्य अंग हैं। आज सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कार्य कृत्रिम, एक-दूसरे को न स्पर्श करने वाले अलग-अलग क्षेत्रों में नहीं बांटे जा सकते।[१] राजनैतिक बुराइयाँ, राजनैतिक पराधीनता, शोषणकारी राजनैतिक संस्थाएँ इत्यादि—ऐसी रुकावटें हैं जिनके कारण सर्वभूत-हित की सिद्धि असम्भव है। सर्वभूत-हित अहिंसात्मक राज्य में ही सम्भव है। इस राज्य के विकास के लिए राजनैतिक स्वतंत्रता और उसका उचित उपयोग आवश्यक है, इसलिए गांधीजी का मत है कि "जो यह कहते हैं कि राजनीति से धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है...वे धर्म को नहीं जानते।"[२] "जो देश-प्रेम को नहीं जानता वह अपने सच्चे कर्त्तव्य या धर्म को भी नहीं पहचानता।"[3]

सत्याग्रही और ईश्वर में विश्वास

ईश्वर में जीवित, अटल श्रद्धा, आत्मा की प्राथमिकता पर ज़ोर, उनके नैतिक विश्वासों का आधार-स्तम्भ है। उनकी श्रद्धा इतनी अचल है कि वे अनुभव करते हैं कि वे बिना हवा-पानी के जीवित रह सकते हैं; लेकिन बिना ईश्वर के नहीं।[४] उनकी यह भी आस्था है कि यदि उनके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जांय तो भी ईश्वर उनको ऐसी शक्ति देगा कि वे उसके अस्तित्व से इन्कार न करेंगे।[५] उनका यह निश्चित मत है कि ऐसी श्रद्धा के बिना पूर्ण जीवन असम्भव है।[६] उन्होंने सदा इस बात पर ज़ोर दिया है और पिछले कुछ वर्षों से और भी अधिक स्पष्ट रूप से कहते रहे हैं कि ईश्वर में जीवित श्रद्धा के बिना सत्याग्रह के प्रयोग की क्षमता मनुष्य में हो ही नहीं सकती।[७]

१. ह०, २४-१२-३८ पृ० ३९३।
२. 'आत्म-कथा' भाग ५, अ० ४६।
३. होम्स, 'महात्मा गांधी' में संलग्न 'एफ्रिकन जेल एक्सपीरियेंसेज़'—पृ० ८३।
४. ह०—१४—५—३८, पृ० १०९।
५. यं० इ०- भा० ३, पृ० ५०४।
६. ह०—२४—४—३४, पृ० ८४।
७. ह०—३—६—३९, पृ० १४६।

इसलिए यह आवश्यक है कि हम कुछ विस्तार से विवेचन करें कि क्यों वे ईश्वर में श्रद्धा को सत्याग्रही के लिए आवश्यक समझते हैं और ईश्वर तथा आत्मा के सम्बन्ध में उनके विचार क्या हैं।

सर्वोदय तत्त्व-दर्शन के बुनियादी सिद्धान्त हैं ये सत्य कि आत्मा बड़ी-से-बड़ी शरीर-शक्ति के द्वारा भी अविजित और अजेय है, और प्रत्येक मनुष्य में - उसका चाहे जितना अध:पतन क्यों न हो गया हो - दैवी अंश है और इसलिए विकास की असीम सम्भावना है और वह सहानुभूति और उदारता के बर्ताव से सुधर सकता है।

जबतक मनुष्य की ईश्वर में और आत्मशक्ति में दृढ़ श्रद्धा नहीं होती, वह सच्चे हृदय से, पूरे विश्वास से और लाभप्रद रीति से सत्याग्रह का उपयोग नहीं कर सकता। गांधीजी के शब्दों में, "बिना ईश्वर में जीवित श्रद्धा के वह (अहिंसा में जीवित श्रद्धा) असम्भव है। उसके बिना उसमें (सत्याग्रही में) ऐसा साहस ही न होगा कि वह बिना क्रोध के, बिना डर और बिना बदले की भावना के अपनी जान दे सके। ऐसे साहस का स्रोत यह विश्वास है कि ईश्वर सबके हृदय में स्थित है और उसकी उपस्थिति में भय न होना चाहिए। ईश्वर के सर्वशक्तिमान होने के ज्ञान का अर्थ है ऐसों के भी जीवन के लिए आदर जिन्हें विरोधी या गुन्डे कहा जाता हो।"[1] "इस ज्ञान के कारण कि शरीर के बाद भी आत्मा का अस्तित्व रहता है वह (सत्याग्रही) इसी शरीर में सत्य की जीत देखने को अधीर नहीं हो उठता। वास्तव में विजय तो इस बात के प्रयत्न करने में जान दे देने की क्षमता में है कि विरोधी को वह सत्य प्रदर्शित किया जा सके जिसको सत्याग्रही उस समय अभिव्यक्त करता है"।[2] "ईश्वर जीवन है। · अच्छाई ईश्वर है। उससे पृथक् जिस अच्छाई की धारणा की जाती है वह जीवनरहित है और तभी तक चलती है जबतक लाभप्रद रहती है। यही बात दूसरे नैतिक गुणों की है। वह गुण हममें तभी रह सकते हैं जब हम उनको ईश्वर से सम्बन्धित करके उनपर विचार करें और उनका विकास करें।"[3] "जिस प्रकार शरीर बिना रुधिर के नहीं रह सकता उसी प्रकार आत्मा को (ईश्वर में) श्रद्धा की अनुपम और शुद्ध शक्ति की आवश्यकता होती है। यह शक्ति मनुष्य के सब शारीरिक अंगों की दुर्बलता को नवजीवन दे सकती है।"[3] "ईश्वर

१. ह० १८-६-३८, पृ० १५२।

२. 'स्पीचेज' पृ० ५०८।

३. ह०--२४-८-४७, पृ० २८६ ; ६-६-४७, पृ० २१२।

जीवन-शक्ति है। वही शक्ति हमारा जीवन है। वह शक्ति जीवन में रहती है, किन्तु शरीर की नहीं है। जो व्यक्ति उस महान् शक्ति के अस्तित्व से इन्कार करता है, वह उस अनन्त शक्ति के उपयोग से इन्कार करता है। और इस प्रकार शक्तिहीन रहता है।"[१] इसीलिए गांधीजी के अनुसार "अहिंसक मनुष्य की प्रथम और अन्तिम ढाल उसकी ईश्वर में अडिग आस्था है।"[१] "सत्याग्रही का एकमात्र शस्त्र ईश्वर है, मनुष्य उसे चाहे जिस नाम से जाने। उसके बिना सत्याग्रही राक्षसी शस्त्रों से युक्त विरोधी के सामने शक्तिहीन है। लेकिन वह, जो ईश्वर को अपना एकमात्र रक्षक मान लेता है, बड़ी-से-बड़ी ऐहिक शक्ति के सामने न झुकेगा।"[१] गांधीजी के इस निश्चित मत को एक रहस्यवादी संत का तर्कहीन भ्रम कहकर टाल देना नितान्त अनुचित है। ईश्वर कल्पना-प्रधान मनुष्यों का मन-बहलाव और पलायनवाद नहीं है। हम ससीम को तबतक नहीं समझ सकते जबतक हम यह न जान लें कि असीम में ही ससीम का आधार है। जबतक मनुष्य को ईश्वर में श्रद्धा न हो, तबतक उसे न अपने में श्रद्धा होगी न दूसरों में। यह एक विचारणीय बात है कि इतिहास के लगभग सभी अहिंसात्मक प्रतिरोधकारियों का ईश्वर में दृढ़ विश्वास रहा है। पश्चिम के युद्ध-विरोधी भी प्रायः गांधीजी से इस बात में सहमत हैं। इंग्लैंड की युद्ध-विरोधी संस्था, पीस-प्लेज यूनियन के मैक्स प्लोमन साहब अनुरोधपूर्वक कहते हैं कि युद्ध-विरोधी के लिए यह आवश्यक है कि वह ईश्वर को जीवन के श्रेष्ठतम मूल्य का प्रतीक और प्रत्येक व्यक्ति में अन्तर्निहित माने।[२]

ईश्वर

गांधीजी इस बात की परवाह नहीं करते कि सत्याग्रही ईश्वर की किस प्रकार व्याख्या करता है; वे जानते हैं कि "परमेश्वर की व्याख्याएँ अगणित हैं; क्योंकि उसकी विभूतियाँ भी अगणित हैं।"[३] गांधीजी स्वयं विशेष रूप से ईश्वर को प्रेम, निर्धन, शोषित जनता और सबसे अधिक सत्य के साथ समीकृत करते हैं। "सत्य शब्द का मूल सत् है। सत् के माने हैं होना, सत्य अर्थात् होने का भाव। सिवा सत्य के और किसी चीज की हस्ती ही नहीं है। इसलिए परमेश्वर का सच्चा नाम सत् अर्थात् सत्य है। चुनांचे परमेश्वर सत्य है, कहने के बदले सत्य ही परमेश्वर है, यह कहना ज़्यादा

१. ह०--२०-७-४७, पृ० २४० ; १३-१०-४०, पृ० ३१८ ; १६-१०-४०, पृ० ३१६।

२. वही--२५-६-३८, पृ० १६३।

३. 'आत्म-कथा', प्रस्तावना।

मौजूं है।"[१] सत्य की शक्ति और आवश्यकता पर किसीको भी, नास्तिक को भी, एतराज नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त ईश्वर सत्य है, लेकिन ईश्वर और भी बहुत कुछ है; इसलिए गांधीजी यह कहना अधिक उचित समझते हैं कि सत्य ईश्वर है।[२] ईश्वर या सत्य, उनका विश्वास है, अन्तर्निहित तत्त्वमात्र नहीं है, अतिक्रमण करने वाला तत्त्व भी है। वह हममें निहित और हमसे परे भी है। वह विश्व का जीवन ही नहीं है, वह उससे परे उसका सृष्टा, पालक और विचारक भी है।[३]

यद्यपि ईश्वर असीम, पूर्ण और निरपेक्ष है, एक हिन्दू अपने व्यक्तित्व की तुलना से, ईश्वर को ज्ञान, भावना और इच्छा का समुच्चय स्वरूप मानकर समझने का प्रयत्न करता है। उसके लिए ईश्वर विचार, प्रेम और शक्ति के गुणों से युक्त व्यक्ति-स्वरूप भगवान है जो ब्रह्मा होकर संसार का सृजन करता है, विष्णु बनकर उसकी रक्षा करता है और शिव-रूप से उसका विचारक है। हिन्दू परम्परा इस बात पर भी ज़ोर देती है कि व्यक्तित्व अतिक्रमण करने वाले चरमतत्त्व की अभिव्यक्ति का प्रतीक है, और सार्वभौम, सर्वात्मा-स्वरूप ईश्वर की दार्शनिक धारणा और व्यक्ति-स्वरूप भगवान की भावना-प्रधान धारणा की विभिन्नता तात्त्विक नहीं, केवल दृष्टिकोण की है।[४]

यह बात गांधीजी के ध्यान में है कि ईश्वर तत्त्वतः व्यक्ति नहीं प्रत्यय, सत्य, अपना स्वयं नियम है।[५] "ईश्वर व्यक्ति नहीं है।······सत्य यह है कि ईश्वर (जीवन) शक्ति है। वह जीवन का सार है। वह शुद्ध चेतना है।"[६] लेकिन उनके-से भक्त के लिए परम्परागत त्रिमूर्ति-भगवान की धारणा स्वभावतः ग्राह्य है। उनका विश्वास है कि जिसको ईश्वर के सम्पर्क की आवश्यकता है उसके लिए ईश्वर व्यक्ति-स्वरूप भगवान है और भक्त प्रार्थना और शुद्धता के अभ्यास द्वारा भगवान के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। अपने लेखों में उन्होंने भगवान के सृष्टि और लय के कार्य की अपेक्षा उसके प्रेम पर अधिक ज़ोर दिया है। भगवान विश्व का

१. 'आत्म-शुद्धि'—पृ० १।
२. ह०—२५—५—३५, पृ० ११५।
३. वही.—१४—११—३६, पृ० ३१४; २०—१—३७, पृ० ४०७; यं० इ०, भा० २, पृ० ४६७।
४. राधाकृष्णन्, 'ऐन आइडियलिस्ट व्यू ऑव लाइफ'—पृ० १०७ और 'हार्ट ऑव हिन्दुस्तान', पृ० ६०–१।
५. ह०—२३—३—४०, पृ० ५५। गांधीजी के अनुसार ईश्वर का नियम संक्षेप में ब्रह्मचर्य का नियम है।
६. ह०—२२-६-४७, पृ० २००।

सृष्टा, शासक और स्वामी है और बिना उसकी इच्छा के घास का एक तिनका भी नहीं हिल सकता।[1]

ईश्वर हमारा विचारक है, लेकिन वह बड़ा सहनशील और धैर्यवान है और हमको चेतावनी देता रहता है।[2] वह बड़ा भयंकर भी है। "वह हमारे साथ वही करता है जो हम अपने पड़ोसियों के साथ करते हैं। उसके साथ अज्ञान का बहाना नहीं चलता।"[3] बहुत अवसरों पर जब गांधीजी को मालूम हुआ कि उन्होंने भूल की, उन्होंने यह भी महसूस किया कि ईश्वर ने चेतावनी दी और उन्होंने भूल सुधार दिया। उनका विश्वास है कि मनुष्य जाति पर पड़ने वाली प्राकृतिक विपत्तियां भी असंगत दैवी इच्छा का फल नहीं, पापों का न्याय्य परिणाम हैं।[4]

भगवान असहायों का सहायक और पथ-निर्देशक भी है। गांधीजी सच्चे वैष्णव हैं और सोते-जागते जीवन के प्रति-क्षण उन्हें भगवान का ध्यान रहता है। वे लिखते हैं, "...छाती पर हाथ रखकर मैं कह सकता हूँ कि एक मिनट के लिए भी मैं भगवान को भूलता नहीं।"[5] उनका जीवन ईश्वर के साक्षात्कार के अनवरत प्रयत्न की कथा है और वे दूर-दूर से विशुद्ध सत्य की— ईश्वर की—झलक भी देखते रहे हैं। यह बात उन्हें प्रतिक्षण कांटे की तरह चुभती है कि वे अभी तक ईश्वर से दूर हैं।[6] वे ईश्वर के अस्तित्व के प्रकाश का अनुभव करते हैं और ईश्वर की ओर जा रहे हैं। वे पूरी तरह उसके सहारे रहते हैं, अपूर्व नम्रता से वे उसके पथ-प्रदर्शन की बाट जोहते हैं और उन्हें मालूम होता है कि जैसे-जैसे समय बीतता जाता है उसकी आवाज़ उनको अधिक स्पष्ट सुन पड़ती है।[7] अधिक-से-अधिक अन्धकारपूर्ण परिस्थितियों में और बड़ी-से-बड़ी मुसीबतों में उसकी सहायता गांधीजी को अप्राप्य नहीं होती और यह सहायता उनके लिए अव्यक्त ईश्वर का दृश्य हाथ है। प्रायः ईश्वर के नाम पर, उसकी पुकार के उत्तर में, उन्होंने उपवास किये हैं। उनको कुछ वास्तविक रहस्यवादी अनुभव भी हुए हैं। उनके शब्दों में वर्णित निम्नलिखित अनुभव विशेष रूप से उल्लेखनीय है—

१. ह०—१४-११-३६, पृ० ४०७ और ४१०।
२. यं० इं०, भा० ३—पृ० १७८।
३. वही, भा० १—पृ० ४६७।
४. ह० — ७-७-३४, पृ० १ और ४, गांधीजी के इस विश्वास के कारणों के लिए देखिये ह० —६-४-३४, पृ० ६१ और ८-६-३५, पृ० १३५।
५. यं० इं०, भा० २—पृ० ६५।
६. 'आत्म-कथा', प्रस्तावना।
७. टेन्डुल्कर आदि, 'गांधीजी, हिज़ लाइफ़ एण्ड वर्क'—पृ० ६०-६१।

"उसका सम्बन्ध अस्पृश्यता-निवारण के लिए किये गए मेरे २१ दिन के उपवास से है। मैं सो गया था···रात के लगभग १२ बजे किसी चीज़ ने मुझे अचानक जगा दिया और किसी आवाज़ ने चुपके से कहा, 'तुझे उपवास करना होगा।'

" 'कितने दिन का ?' मैंने पूछा।

आवाज़ ने फिर कहा, '२१ दिन का'।

'उसका प्रारम्भ कब होगा ?' मैंने पूछा।

उसने कहा 'तुम कल प्रारम्भ करो।' "[1]

" ···मेरा मन उसके लिए तैयार न था, मेरा रुझान उसके विपरीत था। लेकिन घटना इतनी स्पष्ट थी जितनी कोई चीज़ हो सकती थी।"[2]

हो सकता है कि आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण की संकीर्णता और रूढ़िवादिता गांधीजी के इस असाधारण आध्यात्मिक-अनुभव को अविश्वसनीय और भ्रमपूर्ण बता दे। लेकिन भारत की आध्यात्मिक परम्परा के अनुसार यदि साधक आध्यात्मिक साधना द्वारा गीता के बुद्धि-योग को प्राप्त कर ले तो उसमे सत्य के दर्शन की क्षमता विकसित हो जाती है। निस्सन्देह पचास से भी अधिक वर्षों तक गांधीजी स्थित-प्रज्ञ के लिए आवश्यक साधना के अभ्यास में निरन्तर प्रयत्नशील थे।

गांधीजी का दृष्टिकोण भक्ति-प्रधान अवश्य है, पर ईश्वर-सम्बन्धी विचारों में वे उदारचेता हैं और अन्धविश्वासों से मुक्त हैं। हम ऊपर लिख आए हैं कि गांधीजी ईश्वर को सत्य के साथ समीकृत करते हैं। वे उसको प्रेम, नीति और नियम, विवेक-बुद्धि या अन्तरात्मा, पवित्रतम तत्त्व इत्यादि के साथ भी समीकृत करते हैं। उन्होंने एक बार कहा था कि ईश्वर व्यक्ति की अपने आप में असीम श्रद्धा है।[3] उनके शब्दों में, "आप किसी सिद्धान्त में विश्वास कीजिये, उसको जीवन का जामा पहनाइये और कहिये कि वह आपका ईश्वर है·· मैं उसे काफी समझूँगा।"[4]

आत्मा

गांधीजी के लिए ईश्वर और मनुष्य मे कोई तात्त्विक विरोध नहीं। मनुष्य में और निम्न-कोटि की सृष्टि में आत्मा ही चरमतत्त्व है; वह देश, काल से परे है और पृथक् भास होने वाले सभी जीवधारियों में एकात्मकता का सूत्र

१. ह०--१०-१२-३८, पृ० ३७३।
२. वही --१४-५-३८, पृ० ११।०
३. वही--- ३-६-३६, पृ० १५१।
४. वही---१७-६-३६, पृ० १६७।

है वे लिखते हैं, "मैं ईश्वर की और इसलिए मानवता की भी नितान्त एकता में विश्वास करता हूँ।"[1] "मै अद्वैत में विश्वास करता हूँ। मैं मनुष्य की और इसलिए सभी जीवधारियों की परम आवश्यक एकता में विश्वास करता हूँ।"[2] वे कहते हैं कि ईश्वरैक्य और ईश्वर में सम्पूर्ण जीवन का ऐक्य वेदों की प्रधान शिक्षा है।[3]

सब जीवधारियों की बुनियादी एकता मनुष्य के भ्रातृत्वमात्र से उच्चतर सिद्धान्त है। यह महान् सत्य मनुष्य को ईश्वर की सृष्टि का स्वामी नहीं, सेवक बनाता है।[4]

आत्मा की एकता और उसके स्वभाव का एक दूसरा निष्कर्ष गांधीजी के तत्त्वदर्शन में बहुत महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य में आत्मा ईश्वरीय तत्त्व है, आत्मा अपने आप (बिना जड़ पदार्थों की सहायता के) कार्य कर सकता है; मृत्यु के बाद भी उसका अस्तित्व रहता है; उसका अस्तित्व जड़ शरीर पर निर्भर नहीं होता; वह जड़ पदार्थ का सूक्ष्मतम स्वरूप है। इसलिए जो घटना एक शरीरधारी पर घटती है उसका समग्र जड़ पदार्थ पर और सबकी आत्मा पर प्रभाव पड़ता है।[5] यही कारण है कि यदि एक मनुष्य का आध्यात्मिक विकास होता है तो उसके साथ-साथ सारे संसार को लाभ होता है और यदि एक मनुष्य का पतन होता है तो उस अंश मे सारे संसार का पतन होता है।[6]

स्पष्ट है कि आत्मशक्ति की भौतिक शक्ति के साथ तुलना नहीं की जा सकती। गांधीजी के शब्दों में, "संसार की दूसरी शक्तियाँ बड़ी हैं·· आत्मा

१. यं० इं०, भा० २—पृ० ८२१।

२. यं० इं०, भा० २—पृ० ४२१, विख्यात सूत्र "तत्वमसि" और "सोऽहम्" और ईसा का यह कहना कि "मै और मेरे पिता एक ही है" और बाइबिल के ये शब्द कि "इस प्रकार ईश्वर ने मनुष्य को अपनी आकृति का बनाया" मनुष्य और ईश्वर की एकात्मकता की इसी धारणा को अभिव्यक्त करते है। श्री राधाकृष्णन के अनुसार यह धारणा पश्चिम के बहुत विचारकों को भी जिनमे प्लेटो, अरिस्टाटिल, प्लाटिनस, स्पिनोज़ा, ब्रेडले इत्यादि सम्मिलित हैं, ग्राह्य है। 'ऐन आइडियलिस्ट व्यू ऑव लाइफ', अध्याय ३।

३. ह०—३०-३-३४, पृ० ५५।

४. वही—२६-१२-३६, पृ० ३६५।

५. वही—१२-११-३८, पृ० ३२६-२७।

६. यं० इं०, भा० २—पृ० ४२१।

की शक्ति सबसे बड़ी है।"[1] वे आत्मा की शक्ति को अहिंसा के साथ समीकृत करते हैं और कहते है कि अपूर्ण मनुष्य के लिए वह तत्त्व पूरी तरह ग्राह्य नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य उसके पूर्ण प्रकाश को सहन न कर सकेगा। लेकिन उसका एक लघुतम अंश भी, जब वह मनुष्य के अन्दर गतिशील हो जाता है, आश्चर्यजनक रूप से कारगर हो सकता है।[2]

ज्ञान के साधन

लेकिन ईश्वर में और आत्मा में गांधीजी के विश्वास का क्या आधार है यह प्रश्न गांधीजी के राजनैतिक तत्त्वदर्शन में बहुत महत्त्व रखता है। जैसा कि ऊपर बताया गया है गांधीजी के लिए सत्य ईश्वर है, इसलिए चरमतत्त्व को जानने का ठीक साधन उन सिद्धान्तों का निर्देश करेगा जिनके अनुसार कठिन नैतिक परिस्थितियों में सत्याग्रही सत्य का निरूपण करेगा और किसी कार्य-पद्धति या योजना-विशेष के औचित्य या अनौचित्य का निश्चय करेगा। इस प्रश्न पर गांधीजी के विचारों का विवेचन करने के पहले संक्षेप में चरम-तत्त्व के ज्ञान के तीन साधनों का संक्षिप्त वर्णन आवश्यक है। ये साधन हैं—इन्द्रियां, बुद्धि और प्रतिभान्। इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न संवेदनों को उपस्थित करती है। इन संवेदनों में बुद्धि ही सम्बन्ध स्थापित करती है। इसलिए इन्द्रियों के द्वारा हमें केवल पदार्थों के बाह्य गुणों के असम्बद्ध संवेदन प्राप्त होते हैं। प्रकट है कि इन्द्रिय-जन्य ज्ञान अपर्याप्त होता है। पश्चिम के कुछ दार्शनिकों, हेगेल, बोसांके आदि, का मत है कि चरमतत्त्व का ज्ञान बुद्धि के द्वारा हो सकता है। उनके अनुसार चरमतत्त्व या वास्तविकता बुद्धिमय (rational) है। इसके विपरीत भारतवर्ष के ऋषियों और पश्चिम के बहुत-से विचारकों का मत है कि विश्वतत्त्व के ज्ञान का प्रधान साधन बुद्धि नहीं प्रतिभान या अपरोक्षानुभूति है। पश्चिम के इन विचारकों में सुकरात, प्लेटो, अरिस्टॉटिल, स्पिनोज़ा, पैस्कल और बर्गसों के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।[3] धारणात्मक ज्ञान या बुद्धि-जन्य ज्ञान की अपर्याप्तता और अमान्यता का एक कारण यह है कि बुद्धि स्वयं ज्ञाता के ज्ञान का साधन नहीं हो सकती और यह (स्वयं का) ज्ञान समग्र ज्ञान की पूर्व-मान्यता और शर्त है। बृहदारण्यक् में याज्ञवल्क्य पूछते हैं, "जो सब को जानता है, वह अपने आपको कैसे जान सकता है? ज्ञाता का ज्ञान किस प्रकार सम्भव है?"[4]

१. ह०—२२-८-३७, पृ० ३२६।
२. वही ३०-१०-३७, पृ० ३२६।
३. देखिये श्री राधाकृष्णन्, 'ऐन आइडियलिस्ट व्यू ऑव लाइफ', अ० ४०।
४. येनेदं सर्वं विजानाति तकेन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।

इसी प्रकार कॉट का कथन है, "जिस (ज्ञाता को) पदार्थ को जानने के लिए मैं (बिना सिद्ध किये) मान लेता हूँ उसे (ज्ञाता को) मैं पदार्थ की भांति कभी नहीं जान सकता।" इस प्रकार 'मैं हूँ' का आधार "मैं सोचता हूँ" नहीं है क्योंकि फिर "मैं सोचता हूँ" को भी सिद्ध करना होगा और इस प्रकार तर्क की एक अनन्त शृङ्खला बन जायगी। स्वयं के ज्ञान का साधन बुद्धि नहीं प्रतिभान, प्रत्यक्षानुभूति या अपरोक्षानुभूति ही है। जहां तक बाह्य पदार्थों का सम्बन्ध है बौद्धिक तर्क द्वारा भी हमे उनकी वास्तविकता का नही उनके आभास का धारणात्मक ज्ञान होता है। इन्द्रिय-जन्य ज्ञान और बुद्धि-जन्य ज्ञान के विपरीत प्रतिभान-जन्य ज्ञान या अपरोक्षानुभूति समग्र मस्तिष्क की क्रिया है।[1] वास्तव मे प्रतिभान मे और इन्द्रियो और बुद्धि मे परस्पर विरोध नही। प्रतिभान अतीन्द्रिय और अतिबौद्धिक है। उसमें बुद्धि की चेतना है और इन्द्रियों की प्रत्यक्षता। हमें किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष अनुभव तब होता है जब हम ज्ञाता और ज्ञान के द्वैत के परे जाकर उस पदार्थ से तादात्म्य स्थापित करते है। इस प्रकार प्रतिभान-जन्य ज्ञान मे जानने और होने की, बोध और सत्ता की एकरूपता हो जाती है, और जिस प्रकार स्वयं का ज्ञान स्वयं सिद्ध होता है उसी प्रकार प्रत्यक्षानुभूति भी स्वयंसिद्ध होती है।

अन्य बहुत-से विचारकों की भांति गांधीजी भी चरमतत्त्व के ज्ञान के साधन-स्वरूप इन्द्रियों और बुद्धि को अपर्याप्त समझते हैं। वे कहते है कि ईश्वर "अवर्णनीय, अचिन्त्य और अमाप्य" है। वह इन्द्रियों और बुद्धि से परे है। "हम उसे इन्द्रियों द्वारा जानने में सदा असफल होंगे क्योंकि वह उनसे परे है। यदि हम अपने आपको इन्द्रियों से हटा भर ले तो हम उसको महसूस कर सकते हैं। दैवी गान निरन्तर हमारे अन्दर हो रहा है, किन्तु कोलाहल करने वाली इन्द्रियाँ इस कोमल गान को दबा देती हैं।"[2] "उसे जानने के लिए बुद्धिवाद का उपयोग ही क्या हो सकता है? वह तो बुद्धि से अतीत है।"[3] सच्ची अनुभूति बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा नहीं, जीवित श्रद्धा के आधार पर ही हो सकती है। श्रद्धा का श्रोत हृदय है।[4] श्रद्धा शब्द का उपयोग, जैसा कि नीचे लिखे उद्धरण से ज्ञात होता है, गांधीजी प्रतिभान के अर्थ में करते हैं—"श्रद्धा बुद्धि के विरुद्ध नहीं, उससे परे है। श्रद्धा एक

१. देखिये राधाकृष्णन् 'ऐन आइडियलिस्ट व्यू ऑव लाइफ'
२. ह०—१३–६–३६, पृ० १४१।
३. हि० न० जी०—२१–१–२६, सुमन, गांधी-वाणी, पृ० ६६ पर उद्धृत।
४. ह०—१८-६-३८, पृ० १५३।

प्रकार की छठी इन्द्रिय है जो उन बातों में कारगर होती है जो बुद्धि के क्षेत्र के बाहर है।"[१] ईसा का कथन था कि "पवित्र हृदय वाले धन्य हैं, क्योंकि उनको ईश्वर का दर्शन होगा।" गांधीजी के अनुसार भी पवित्र हृदय का प्रतिभान ईश्वरानुभूति का स्रोत है।

श्रद्धा और प्रतिभान केवल धार्मिक अनुभव में ही हमारा आश्रय नहीं है वरन् सभी सृजनात्मक विचारों के, वास्तव मे सम्पूर्ण ज्ञान के, आधार हैं। जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं स्वयं के अस्तित्व का ज्ञान या स्वयं-संबन्धी निश्चितता, जो सब प्रमाणों का आधार और सब ज्ञान की पूर्व-मान्यता है, प्रतिभानजन्य अनुभूति है और प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं हो सकती। प्रतिभान की महत्ता के बारे मे डॉ० राधाकृष्णन लिखते हैं, "यदि प्रतिभानजन्य ज्ञान से हमें ऐसे आधारभूत सामान्य वाक्य या सार्वभौम व्याप्ति वाक्य (यूनीवर्सल मेजर प्रेमिस) न प्राप्त हों जिनकी सत्यता के बारे मे न तो प्रश्न हो सकता है और न सिद्ध ही की जा सकती है, तो हमारे जीवन का अन्त हो जायगा। विश्व की कलापूर्ण सुन्दरता, नैतिकता और तार्किक सामंजस्य विज्ञान, न्याय, कला और नीतिधर्म की मान्यताएं हैं। वह आत्मा की अनुभूति, स्वयं के प्रतिभान हैं और उसी प्रकार बुद्धिमय हैं जिस प्रकार भौतिक संसार या बौद्धिक योजनाएं, यद्यपि हमको उनका ज्ञान उसी प्रकार नहीं होता। उनमें अविश्वास का अर्थ होगा पूर्ण संशयवाद।"[२]

ईश्वर बुद्धि से परे अवश्य है "पर एक सीमित अंश तक उसके अस्तित्व को प्रमाणों द्वारा समझना सम्भव है।"[३] इस वाक्य से गांधीजी का आशय यह मालूम पड़ता है कि यद्यपि बुद्धि की मर्यादा है, तब भी जैसा कि कॉट का भी मत था, वह हमें ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करने से नहीं रोकती।

गांधीजी की एक दलील यह है कि हम विश्व को एक अतिक्रमण करने वाली सत्ता की मान्यता के बिना नहीं समझ सकते। गांधीजी के शब्दों में, "विश्व में व्यवस्था है और प्रत्येक अस्तित्ववान् वस्तु और जीवधारी का संचालन करने वाला अपरिवर्तनशील नियम है। वह नियम अचेतन नहीं है क्योंकि अचेतन नियम सचेतन जीवों के व्यवहार का नियामक नहीं हो सकता और अब तो सर जगदीशचन्द्र बोस के आश्चर्यजनक अनुसन्धानों के फलस्वरूप यह सिद्ध किया जा सकता है कि जड़ पदार्थों में भी जीवन है।

१. ह०—६-३-३७, पृ० २६।
२. देखिये 'ऐन आइडियलिस्ट व्यू ऑव लाइफ'--पृ० १५६।
३. य० इ०, भा० ३—पृ० ८७०।

सब प्रकार के जीवन का संचालक नियम ही ईश्वर है। नियम और नियम-निर्धारक एक ही हैं।"[1]

इसके अतिरिक्त गांधीजी यह भी कहते हैं कि धर्म की पद्धति विज्ञान की पद्धति से विपरीत नहीं है। वैज्ञानिक सत्य की परख वैज्ञानिकों की बताई हुई पद्धति से होती है और इस परख में उनके कहने के अनुसार कुछ बातों को मानकर चलना पड़ता है। दृष्टांत के तौर पर विद्युत का ज्ञान गेलवेनोमीटर नाम के यन्त्र के द्वारा परीक्षा के बिना सम्भव नहीं है। "ऋषियों और पैगम्बरों का भी ठीक यही कहना है। वे कहते हैं कि कोई भी उनके चले हुए मार्ग का अनुगामी होकर ईश्वर की अनुभूति कर सकता है।"[2] संसार के धर्मग्रन्थों की साक्षी को और ऋषियों के अनुभव को न मानना अपने आपको न मानना है।[3]

फिर, ईश्वर और उसके नियम को न मानने से हम उसकी नियामक प्रक्रिया से मुक्त नहीं हो सकते, जबकि दैवी सत्ता की नम्र और मौन मान्यता जीवन-यात्रा को सरल बना देती है।[4]

गांधीजी की इन दलीलों का विस्तृत विवेचन अनावश्यक है। कांट ने यह प्रदर्शित किया है कि चरमतत्व के ज्ञान के लिए बुद्धि अपर्याप्त है और ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए दी हुई युक्तियां दोषपूर्ण होती हैं। गांधीजी का भी विश्वास है कि अनुभूति इन्द्रियों और बुद्धि के द्वारा असम्भव है। बुद्धि केवल इतना ही कर सकती है कि वह ईश्वर के अस्तित्व के प्रतिभान द्वारा प्राप्त ज्ञान की यौक्तिकता प्रदर्शित करे।

यह एक महत्वपूर्ण बात है कि कुछ आधुनिक वैज्ञानिकों को भी इस बात की सत्यता का भान होने लगा है कि विश्व-प्रक्रिया के मूल में आत्मा ही चरमतत्व है।[5] इसका यह अर्थ नहीं कि विज्ञान ईश्वर के अस्तित्व को निश्चयपूर्वक सिद्ध कर सकता है। विधायक रूप से वह केवल अस्तित्व की

१. यं० इं०, भा० ३—पृ० ८७१।
२. ह०--१३-६-३६, पृ० १४०।
३. यं० इं०, भा० ३--पृ० ८७१, ह० १३-६-३६, —० १४०।
४. वही, भा० ३— पृ० ८७१।
५. देखिये राधाकृष्णन्, 'कलकी,' पृष्ठ ५६-५७; हक्सले, 'एण्ड्स ऐंड मीन्स', पृ० २५६-६०; 'रिव्यू आव फिलासफी एण्ड रेलीजन', दि० १६३८ मे रानाडे का 'ए फिलासफी आव स्पिरिट' शीर्षक लेख; बार्नस, 'साइंटिफिक थियरी एण्ड रेलिजन'; नीड्हम, 'साइंस, रेलीजन एण्ड रीयालिटी' एडिंटन और नीडहम के लेख।

सम्भावना की मान्यता प्रस्तुत कर सकता है। निषेधात्मक रूप से वह यंत्रवादी विश्व-व्याख्या को असंगत सिद्ध कर सकता है। यन्त्रवादियों की धारणा है कि विश्व का जीवन और विकास बिना किसी बाह्य शक्ति के हस्तक्षेप के निष्पन्न होता है, और उसकी व्याख्या के लिए किसी चरमहेतु को मानना आवश्यक नहीं है। विश्व एक स्वयंचालित यन्त्र है जिसके प्रत्येक भाग का नियमन समग्र के साथ उसके सम्बन्ध से होता है। गांधीजी के अनुसार यंत्रवादी व्याख्या असत्य, असंगत और अमान्य है।

संक्षेप में गांधीजी का अनुरोध है कि आत्मा मनुष्य का केन्द्रीय तथ्य है और देवत्व या ईश्वर में अटल श्रद्धा आदर्श जीवन के लिए और अहिंसात्मक प्रतिरोध के उपयोग के लिए आवश्यक है। यह शायद सब को मान्य होगा कि यद्यपि गांधीजी के ईश्वर-सम्बन्धी विचारों में भक्तिपूर्ण दृष्टिकोण का प्राधान्य है, पर वे संकीर्णता और रूढ़िवादिता से सर्वदा मुक्त हैं। उनके लिए ईश्वर केवल चरमतत्व का, सत्य का, नियम का और विश्व में व्याप्त सामंजस्य का ही दूसरा नाम है। उनका यह मत, कि ईश्वर और आत्मा में विश्वास, श्रद्धा और प्रतिभान की बात है, भारतीय तत्वदर्शन की परम्परा के अनुसार है और बहुत-से पश्चिम के विचारकों को भी मान्य है।

कर्म और पुनर्जन्म

गांधीजी कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांतों में भी विश्वास करते हैं। उनके अनुसार, "कर्म का नियम अटूट है, और टाला नहीं जा सकता। इस प्रकार उसमें ईश्वर के हस्तक्षेप की क्या आवश्यकता है। उसने नियम निर्धारित कर दिया और अलग हो गया।"[1]

१. 'आत्मकथा', (अ०) भा० १, पृ० ५६३ (हिन्दी, पृ० २६७); श्री राधाकृष्णन् लिखते हैं, "ईश्वर अपराधी को पश्चात्ताप करने पर भी क्षमा नहीं कर सकता, क्योंकि नैतिक क्रम की धारणा का आधार द्वेष नहीं है, और इस क्रम के लिए यह आवश्यक है कि अनैतिक कार्य का प्राकृतिक फल मिले।" ('ऐन आइडियलिस्ट व्यू आव लाइफ', पृ० २३८) ईसाई धर्मग्रन्थों में भी इस नियम का हवाला है, "धोखा मत खाओ, ईश्वर चिढ़ाया नहीं जा सकता क्योंकि जैसा मनुष्य करेगा वैसा ही वह भरेगा भी।" (गैलेशियन्स ६।७) ईसामसीह ने पर्वत पर कहा था, "किसीका चरित्रांकन न करो, जिससे तुम्हारे साथ भी ऐसा न हो। क्योंकि जिस प्रकार तुम चरित्रांकन करोगे वैसे ही तुम्हारे साथ भी होगा। और जिस माप से तुम मापोगे उसी माप से फिर तुमको भी मिलेगा" (मैथ्यू, ७।१-२)।

पुनर्जन्म के सिद्धान्त के बारे में वे लिखते हैं, "मैं पुनर्जन्म मे उतना ही विश्वास करता हूं जितना अपने वर्तमान शरीर के अस्तित्व में। इसलिए मै जानता हूँ कि थोड़ा भी प्रयत्न बेकार न जायगा।"[1]

ये दोनों सिद्धांत अयौक्तिक असंगत धारणाएँ नहीं हैं। वे जीवन के नियम हैं जिनको भारत के ऋषियों ने अपनी आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि से जाना था और अपने अनुभव से जाँचा था। कर्म के नियम को नैतिक धारावाहिकता का नियम और नैतिक कारणत्व का नियम भी कहते हैं।[2] वह मनुष्य के विकास का नियामक है। भारतीय तत्वदर्शन के अनुसार हमारे वह कार्य जो सहेतुक होते हैं कुछ-न-कुछ संस्कार छोड़ जाते हैं। ये संस्कार गत्यात्मक होते हैं और हमारे भविष्य का निर्धारण इन्हीं संस्कारों द्वारा होता है।[3] इस नियम के अनुसार हमारा भविष्य वर्तमान में से उसी प्रकार विकसित होगा जिस प्रकार वर्तमान भूतकाल का परिणाम है। लेकिन इस नियम मे ज़ोर अपराधों के दंड की अपेक्षा धारावाहिकता पर कहीं अधिक है। यदि हम यह बात मान लें कि इस विश्व के पीछे एक सप्रयोजन तत्त्व का अस्तित्व है, तो कर्म का सिद्धांत मनुष्यों की असमता की एकमात्र बुद्धिगम्य व्याख्या है।

पुनर्जन्म का सिद्धांत[4] हिन्दुओं मे ऋग्वेद के काल से मान्य रहा है। यह बात युक्तिसंगत मालूम होती है कि जबतक मनुष्य का पूर्ण विकास न हो जाय उसे इस विकास के लिए अनवरत अवसर मिलना चाहिए और मृत्यु से इस अवसर में बाधा नहीं पड़नी चाहिए। "यदि मृत्यु ही अन्त होती तो हमारे सृजन में ईश्वर का प्रयोजन व्यर्थ हो जाता, क्योंकि हममें से अधिकांश बिना पश्चात्ताप किये, पापयुक्त मरते हैं।"[5]

कर्तृस्वातन्त्र्य या इच्छा-स्वातन्त्र्य

लेकिन कर्म के नियम को मानने का यह अर्थ नहीं कि गांधीजी के अनुसार मनुष्य का जीवन और उसके कार्य पूरी तरह निर्धारित या नियत है।

१. य० इं०, भा० २—पृ० १२०४।

२. देखिये राधाकृष्णन्, 'ऐन आइडियलिस्ट व्यू आव लाइफ', अ० ८; और 'दि हार्ट आव हिन्दुस्तान', पृ० १ और १११।

३. देखिये, 'रिव्यू आव फिलासफी ऐंड रेलिजन', अप्रैल १६३६, पृ० २७ और ३३।

४. इस सिद्धांत के लिए देखिये, ऊपर उद्धृत 'ऐन आइडियलिस्ट व्यू आव लाइफ', पृ० २८६-८७।

५. ऊपर उद्धृत, 'दि हार्ट आव हिंदुस्तान'—पृ० ११२।

इस प्रकार का नियतवाद नैतिक पुरुषार्थ या प्रयास को पंगु बना देगा और नैतिकता का मूलोच्छेद कर देगा। निरपेक्ष नियतवाद का अर्थ होगा मनुष्य की सृजनशीलता का निषेध और मनुष्य से स्वशासन के अधिकार को छीन लेना। कर्म के नियम और इच्छा-स्वातन्त्र्य में कोई विरोध नहीं। वास्तव में कर्म के नियम का अर्थ है स्वतन्त्रता, क्योंकि उसके अनुसार मनुष्य स्वयं अपने प्रारब्ध का निर्माता है। जीवन की भूतकाल से धारावाहिकता में मनुष्य का सृजनशील स्वातन्त्र्य सन्निहित है। निस्संदेह हमारे पूर्वकर्म हमारे इच्छा-स्वातन्त्र्य को मर्यादित करते हैं। *गांधीजी के शब्दों में,* "जिस इच्छा-स्वातन्त्र्य का हम उपयोग करते हैं वह उससे भी कम है जो एक यात्री को मनुष्यों से भरे जहाज़ के डेक पर होती है।"[1] लेकिन हमको मिला हुआ यह आपेक्षिक स्वातन्त्र्य इस अर्थ में वास्तविक है कि हम इस स्वतन्त्रता की उपयोग-विधि के चुनाव में स्वतन्त्र हैं। *गांधीजी का मत है कि विश्व का सब से बड़ा* जनतंत्रवादी ईश्वर "अशुभ और शुभ में चुनाव के लिए हमको बिना किसी रोक-थाम के छोड़ देता है।"[2] भूल करने का अधिकार, जिसका अर्थ है प्रयोग करने की स्वतन्त्रता, प्रगति की सार्वभौम शर्त है।

लेकिन यद्यपि हमारी इच्छा स्वतन्त्र है, "परिणाम हमारे अधिकार की बात नहीं, हम प्रयत्नमात्र कर सकते हैं।"[3] इसके अतिरिक्त, "मनुष्य अपने स्वभाव की स्थिति को बदल सकता है; उसे अपने वश में कुछ हद तक कर सकता है; पर उसे जड़ से कौन बदल सकता है? जगत्कर्ता ने मनुष्य को यह स्वतन्त्रता नहीं दे रखी है। शेर अगर अपने चमड़े की विचित्रता को बदल

---

१. ह०---२३-३-४० पृ० ५५।

२. य० इं०, भा. २— पृ. ४६७। बहुत-से विचारकों का मत है कि यद्यपि वर्तमान पर भूतकाल का प्रभाव पड़ता है, पर भूतकाल वर्तमान को पूरी तरह निर्धारित नहीं करता और मनुष्य अपने व्यवहार के नियमन के लिए कल्पित भविष्य का भी प्रयोग करता है। उदाहरण के लिए देखिए 'जर्नल आव फिलासफी', ४१।१२। पृ. ३२० और आगे। आधुनिक सामाजिक दर्शन की यह सुविख्यात मान्यता है कि कारण का परिणाम पर नितांत आधिपत्य नहीं है। कारण का केवल यह अर्थ है कि परिणाम के उत्पादन की संभावना है। किस अंश तक सम्भावना है इसका हिसाब किसी विशेष स्थिति में आंकड़ों द्वारा लगाया जा सकता है। कारणत्व की इस आधुनिक धारणा के अनुसार भी निरपेक्ष नियतवाद असंगत है।

३. ह०—६-५-३६, पृ० ११२।

सकता हो तो मनुष्य भी अपने स्वभाव की विचित्रता को बदल सकता है।"[1] इस प्रकार गांधीजी ऐसी पूर्ण स्वतन्त्रता में विश्वास नहीं करते जिसका अर्थ हो क्रमहीनता या व्यस्तता। गांधीजी के अनुसार पूर्ण अनासक्ति के द्वारा मनुष्य किये हुए कर्मों के प्रभाव से तथा वातावरण और वंश परम्परागत विशेषताओं के बंधन से पूरी तरह छुटकारा पा सकता है।[2] लेकिन पूर्ण अनासक्ति स्थितप्रज्ञ के लिए ही सम्भव है।

मनुष्य की आध्यात्मिकता में विश्वास होने के कारण गांधीजी इस धारणा को नही मानते कि मनुष्य वातावरण के हाथ का कठपुतला है। वे वातावरण के प्रभाव की उपेक्षा नहीं करते। वे जानते हैं कि अधिकांश में मनुष्यों पर वातावरण का प्रमुख प्रभाव होता है, लेकिन उनका यह भी मत है कि मनुष्य के जीवन का आधार आदतें नहीं, इच्छाशक्ति का प्रयोग या आत्म-संचालन होना चाहिए।[3]

अशुभ का प्रश्न

कर्तृस्वातन्त्र्य से अशुभ के प्रश्न का निकट का सम्बन्ध है। गांधीजी के अनुसार अशुभ सीमित मानवीय दृष्टिकोण से ही वास्तविक है। ईश्वर के लिए न तो कुछ शुभ है न अशुभ।[4] गांधीजी के अनुसार शुभ और अशुभ इस अर्थ मे आपेक्षिक हैं कि "जो एक विशिष्ट दशा मे शुभ हैं वे भिन्न दशा मे अशुभ या पाप हो सकते हैं।"[5] "किन्तु शुभ और अशुभ मानवीय प्रयोजनों के लिए एक-दूसरे से भिन्न और असंगत हैं, वे प्रकाश और अन्धकार के प्रतीक हैं।"[6] "बुराई स्वयं बोझ है। वह स्वयं विनाशक है;

१. दक्षिण अफ्रीका (पूर्वार्द्ध), पृ० २२२। श्री राधाकृष्णन् लिखते हैं, "जीवन ब्रिज के खेल की तरह है। खेल में ताश के पत्ते हमें मिलते हैं।......वह पूर्व कर्मों का फल है, लेकिन हम जैसी उचित समझें बोली बोलने के लिए और कोई भी चाल चलने के लिए स्वतन्त्र हैं। हमारे ऊपर केवल खेल के नियमों का बन्धन रहता है। जब हम खेल प्रारम्भ करते है तब हम बाद की अपेक्षा—जब खेल चल चुकता है और हमारा चुनाव सीमित हो जाता है—अधिक स्वतन्त्र होते है।" 'एन आइडियलिस्ट व्यू आव लाइफ', पृ. २७७।
२. ह० - पृ० १०-४६, पृ० ३४०, और ७-४-४६, पृ० ७२।
३. य० इ०, भा० ३—पृ० ३१४; माडर्न रिव्यू, अक्तूबर १९३५, श्री निर्मल-कुमार बसु का लेख।
४. ह०—२-१०-३५, पृ० २३३।
५. वही—९-६-४६, पृ. १७२।
६. वही—२०-२-३७, पृ. ९।

वह अपने में अन्तर्निहित अच्छाई के द्वारा जीती और पनपती है। विज्ञान हमें सिखाता है कि एक लीवर (बोझ उठाने का यन्त्र) तबतक किसी वस्तु को हटा नहीं सकता जबतक उसका आश्रय-स्थान हटाई जाने वाली वस्तु के बाहर न हो। उस प्रकार अशुभ को जीतने के लिए मनुष्य को पूरी तरह उससे परे, अर्थात् शुद्ध शुभ के दृढ़, ठोस तल पर रहना होगा।"[1] इसलिए अशुभ को हटाने के लिए साधनों की शुद्धता आवश्यक है।

गांधीजी का यह भी विश्वास है कि अशुभ मनुष्य के इच्छा-स्वातन्त्र्य के दुरुपयोग का परिणाम है।[2] गांधीजी मानते हैं कि प्रगति की योजना में अशुभ का स्थान है। विकास सदा प्रयोगों के आधार पर होता है और प्रगति का मार्ग है भूलों का होना और उनका सुधार। कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांतों से ज्ञात होता है कि क्रमशः मनुष्य बुराइयों को कम करता रहेगा।

गांधीजी का ध्यान इतना बुराई के दार्शनिक और धार्मिक पहलू पर नहीं है जितना विशेष प्रकार की, राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक बुराइयों पर। अपने दीर्घकालीन सार्वजनिक जीवन में बुराई के विरुद्ध अनवरत संघर्ष उनका विशिष्ट कार्य रहा है। इस धर्म-युद्ध में वह वातावरण की उपेक्षा नहीं करते। उन्होंने एक नई नैतिक क्रांतिपद्धति का विकास किया है। उनके तत्त्व-दर्शन में राजनैतिक, आर्थिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में सामूहिक जीवन के संचालन के अहिंसात्मक मार्ग का प्रतिपादन है। लेकिन उनकी चेतना के केन्द्र में समाज नहीं व्यक्ति है। विकास के पथ पर पहला पग व्यक्ति का होगा। व्यक्ति के नैतिक सुधार का उनके तत्त्व-दर्शन में प्राथमिक स्थान है। उन्होंने मनुष्य के ध्येय का विवेचन किया है और बतलाया है कि किस प्रकार व्यक्ति इस ध्येय की ओर बढ़ सकता है। ये नैतिक सिद्धांत—साध्य और अनुरूप साधन—उनके राजनैतिक तत्त्व-दर्शन के अविभाज्य अङ्ग हैं, क्योंकि इन सिद्धान्तों के अनुसार अपने जीवन का निर्माण करके ही मनुष्य अच्छा नागरिक और सत्याग्रही बन सकता है।

---

१. यं. इ., पृ० २२५-६।

२. गांधी-अर्विन समझौते के बाद गांधीजी का वक्तव्य 'हिस्ट्री ऑव दि कांग्रेस', पृ० ७५१।

: ३ :

नैतिक सिद्धान्त—साध्य और साधन

ध्येय

गांधीजी के अनुसार मानव-जीवन का चरमध्येय आत्मानुभूति है। आत्मानुभूति का अर्थ है ईश्वर से साक्षात्कार, निरपेक्ष सत्य का अनुभव, मोक्ष-प्राप्ति। वे आध्यात्मिक एकता के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। इसलिए मनुष्यों की प्रत्यक्ष सेवा इस आध्यात्मिक प्रयास का आवश्यक अङ्ग है, क्योंकि ईश्वर-प्राप्ति का एकमात्र मार्ग है उसको उसकी सृष्टि मे देखना और उसके साथ एक हो जाना। व्यक्ति का कर्तव्य है कि केवल अपने ही आध्यात्मिक विकास के लिए नहीं दूसरों के आध्यात्मिक विकास के लिए भी प्रयत्नशील हो। इस प्रकार गांधीजी आत्मानुभूति और समाजसेवा मे सामञ्जस्य स्थापित करते है। उनको यह धारणा मान्य नहीं कि मुक्ति-प्राप्ति केवल एकांत मे, समाज से दूर रहकर, ही हो सकती है। उनके निकट आत्मानुभूति का अर्थ है सब के अधिक-से-अधिक हित की सिद्धि। सबके अधिक-से-अधिक हित में या सर्वोदय में राजनैतिक उन्नति भी शामिल है, क्योंकि राजनैतिक अधःपतन सर्वमुखी नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग मे बड़ी रुकावट है। लेकिन राजनीति इस ध्येय का एक अंशमात्र है। गांधीजी इस बात पर भी ज़ोर देते है कि सब की सेवा का सब से अच्छा मार्ग है अपने ही देश की सेवा, क्योंकि देशवासी हमारे निकटतम पड़ोसी हैं।[1]

साधनों की नैतिकता

चरमध्येय से साधन के प्रश्न का निकटतम सम्बन्ध है। कम्यूनिस्ट, फासिस्ट और अधिकतर व्यावहारिक राजनीतिज्ञों की यह धारणा है कि साधन के औचित्य का आधार साध्य है। दूसरे शब्दों मे, यदि साध्य वांछनीय है, तो जो भी साधन साध्य-प्राप्ति में कारगर हों वे उचित हैं। इस दृष्टिकोण से मक्कारी, झूठ, फ़रेब, हिंसा इत्यादि सबका प्रयोग न्यायोचित कार्य को पूरा करने मे नीतियुक्त है। लेकिन गांधीजी इस धारणा को हानिकर और भ्रमपूर्ण बताते हैं। उनके तत्त्वदर्शन में साध्य और साधन में

१. ह० — ६-८-३६, पृ० २२६। पड़ोसियों की सेवा पर गांधीजी क्यों ज़ोर देते है, इसके विस्तृत विवेचन के लिए चौथा अध्याय देखिये।

कोई अभेद्य दीवार नहीं है। साध्य और साधन अलग नहीं किये जा सकते और दोनों को बराबर शुद्ध होना चाहिए। उनके लिए यह काफी नहीं है कि साध्य ही उच्च और श्लाघ्य है, यह भी आवश्यक है कि साधन नीतिसंगत हों। वास्तव में उनके निकट साधन ही सब-कुछ हैं।[1]

गांधीजी जो साधनों की नैतिकता पर इतना ज़ोर देते हैं उसका एक कारण तो यह है कि मनुष्य का अधिकार केवल साधनों पर है, साध्य पर नहीं। वह प्रयत्न कर सकता है लेकिन परिणाम उसके हाथ की बात नहीं। इसके अतिरिक्त, साधन ही विकसित होकर साध्य बन जाता है। गांधीजी के शब्दों में, "जैसा साधन तैसा साध्य"।[2] "साधन बीज है और साध्य वृक्ष; इसलिए जो सम्बन्ध बीज और वृक्ष मे है, वही सम्बन्ध साधन और साध्य में है। शैतान की उपासना करके मैं ईश्वर-भजन का फल नहीं पा सकता। इसलिए यह कहना कि 'हमें तो ईश्वर को भजना है, इसके लिए साधन चाहे शैतान को ही क्यों न बनाया जाय', बिलकुल अज्ञान की बात है। हम तो जैसा करते हैं वैसा ही फल पाते हैं।"[3]

गीता के निष्काम कर्म के सिद्धान्त से भी हमको यही शिक्षा मिलती है कि अच्छे काम का अच्छा ही परिणाम होता है। इसलिए गांधीजी का विश्वास है कि "यदि कोई साधनों की शुद्धता का ध्यान रखे तो साध्य अपने आप ठीक रहेगा।"[4] "जिस अनुपात में साधन का अनुष्ठान होगा ठीक उसी अनुपात में ध्येय-प्राप्ति होगी यह नियम निरपवाद है।"[5]

१. य० इ०, भा० २--पृ० ४३५, ३६४।

२. वही भा० २, पृ० ३६४।

३. हि० स्व०, पृ० १२६।

४. य० इ०, भा० २, पृ० ७१४; ह०, ११-२-३६ पृ० ८८।

५. वही भा० २, पृ० ३६४। साधनों के बारे मे अमेरिका के दार्शनिक डिवी साहब का मत गांधीजी से मिलता-जुलता है। डिवी साहब का कहना है कि "जिस प्रकार के साधनों का हम प्रयोग करते हैं उससे यह बात निश्चित हो जाती है कि वास्तविक परिणाम या साध्य किस प्रकार का होगा ······आप किसी प्रकार के साध्य लीजिये जो आवश्यक रूप से वाञ्छनीय हों, लेकिन जो (साध्य) आपको वास्तव मे प्राप्त होंगे वे उन साधनों से निर्धारित होंगे जिनका प्रयोग आपने इन (साध्यों) की प्राप्ति के लिए किया है।" आर० बी० ग्रेग, 'पावर ऑव नान्वायोलेन्स' में पृ० ३४३ पर उद्धृत।

इसीलिए गांधीजी कहते हैं कि "स्वराज्य-प्राप्ति के लिए किया गया प्रयत्न स्वयं स्वराज्य ही है।"[1]

फिर गांधीजी का व्यक्तिगत अनुभव भी यही बताता है कि जब कभी साधनों के सम्बन्ध में उनसे कोई त्रुटि हो गई, तो सत्य और अहिंसा की उनकी हलचलें पिछड़ गईं। राजकोट का मामला इसका एक दृष्टांत है। सन् १६३६ में उन्होंने राजकोट के शासक के हृदय-परिवर्तन के लिए उपवास किया। साथ-ही-साथ उन्होंने वाइसराय से प्रार्थना की कि वह राजकोट के शासक को इस बात पर बाध्य करें कि वह शासन सुधार की योजना के लिए एक कमेटी नियत करने के सम्बन्ध में अपने वादे को पूरा करें। गांधीजी के अनुसार उपवास करने के साथ-साथ ब्रिटिश सरकार से हस्तक्षेप करने की प्रार्थना सब्र की कमी की सूचक थी, यह एक प्रकार की हिंसा थी और इसलिए उपवास से शासक का हृदय-परिवर्तन न हो सका।

साध्य-साधन के सम्बन्ध में गांधीजी का सिद्धांत ही युक्ति-संगत है। इसका विरोधी सिद्धान्त जिसके अनुसार सब प्रकार के साधनों का, हिंसात्मक साधनों का भी, औचित्य साध्य की अच्छाई पर निर्भर है, व्यवहार में खतरनाक और नैतिक दृष्टिकोण से असन्तोषप्रद और त्याज्य है। इस पिछले सिद्धान्त के अनुसार यदि साध्य न्याय्य है तो हिंसा, असत्य, धोखेबाज़ी, सब का प्रयोग साध्य की प्राप्ति के लिए उचित है। लेकिन इन साधनों के प्रयोग से हम विकास के पथ पर तो नहीं बढ़ पाते, उलटे मनुष्य को अपनी उन्नति का साधनमात्र समझने लगते हैं और हमारी उच्च भावनाएं दुर्बल होने लगती हैं। साध्य-साधन सम्बन्धी इस अनैतिक सिद्धान्त का परिणाम होता है अन्याय, निर्दयता और विच्छृङ्खलता में वृद्धि। इसके अतिरिक्त, यह बात निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती कि हिंसापूर्ण कार्य का हेतु सदा नीतिसंगत साध्य ही होता है। अत्याचारी और आतंकवादी अधिक-से-अधिक अमानुषी अपराध भी उच्च साध्यों के नाम पर ही करते हैं। फिर किसी कार्य की तात्कालिक सफलता मात्र को ही उसके औचित्य की कसौटी मान लेना ख़तरे से ख़ाली नहीं। यह भी याद रखना चाहिए कि तात्कालिक परिणामों में, जो अस्थायी होते हैं और जिनमें सफलता का आभास मात्र होता है, और वास्तविक और स्थायी सफलता में, जिसको स्पष्ट होने में काफी समय लग जाता है, पृथ्वी और आकाश का अन्तर है। कभी-कभी ऐसा मालूम होता है कि हिंसा और धोखेबाजी, आतंकवाद और कुटिल नीति की सत्य, प्रेम और न्याय पर विजय हो गई है। लेकिन हिंसा और अन्याय की जीत

१. स्पीचेज़, पृ० ७२०।

दिखावटी, आंशिक और क्षणिक होती है और उसके द्वारा प्राप्त लाभ निरे भार-स्वरूप हो जाते हैं। इतिहास, विशेष रूप से बीसवीं सदी के संसार का इतिहास, इस सत्य का निर्देश करता है कि हिंसा और द्वेष, प्रतिहिंसा और विनाशकता को जन्म देते हैं, और एक युद्ध दूसरे युद्धों का बीज बोता है। प्रकट रूप से न्याय और जनवाद की रक्षा के लिये लड़े गए पिछले दो महायुद्ध इस युक्ति के पोषक हैं। शान्ति और विकास के पथ पर अच्छे साधन ही हमको अग्रसर कर सकते हैं।

यदि हमको ऊपर वर्णित चरम साध्य और जीवन की आधारभूत एकता मान्य है, तो हक्सले के शब्दों में अच्छे साध्य का अर्थ होगा "अधिकतम एकीकरण की स्थिति।" प्रकट है कि इस स्थिति की प्राप्ति एकता स्थापित करने वाले अर्थात् अच्छे साधनों द्वारा ही हो सकती है, विभाजक या पृथकत्व उत्पन्न करने वाले बुरे साधनों द्वारा नहीं।[1] टालस्टाय के शब्दों में "वह सब जिनका रुझान मनुष्य जाति का एकीकरण करने की ओर है शिव और सुन्दर में सम्मिलित हैं। वह सब जिनका रुझान पृथकत्व उत्पन्न करने की ओर है अशुभ और असुन्दर है।"[2]

गांधीजी साधनों के महत्व पर ज़ोर अवश्य देते हैं, पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह साध्य की महत्ता को भुला देते हैं। उनका विश्वास है कि साध्य और साधन में अभिन्नता का सम्बन्ध है और वह उत्सुक हैं कि प्रयुक्त साधन किसी तरह हमारे साध्य की नैतिकता को कम न कर सकें। इसीलिए वह बार-बार अनुरोध करते हैं कि हमारा साधन उतना ही नीतिसंगत और शुद्ध होना चाहिये जितना कि हमारा साध्य और हमें "शुद्ध शुभ के दृढ़, ठोस तल पर" पर अटल रहना चाहिये। साध्य और साधन के नैतिक समीकरण के सिद्धांत को सत्याग्रह के रूप में अभिव्यक्त करने का गांधीजी का प्रयत्न क्रांति की कला और दर्शन को आधुनिक संसार की सर्वश्रेष्ठ देन है।

नैतिक अनुशासन

चरम साध्य की सिद्धि किन साधनों द्वारा हो सकती है? गांधीजी के अनुसार आत्मानुभूति के लिए आत्म-शुद्धि की आवश्यकता है और आत्म-शुद्धि का आधार है नैतिक अनुशासन। उनके शब्दों में "जो कोई नीति के नियमों को बिना चूं चरा किये मानकर उनके अनुसार अपने जीवन को बनाने

१ ए० हक्सले, 'एन्ड्स ऐंड मीन्स', पृ० ३८०-३८१।

२ टालस्टाय के रोमांरोलां को फ्रेन्च में लिखे एक पत्र का डा० कालीदास नाग द्वारा अनुवाद 'माडर्न रिव्यू', जनवरी १९२७।

के लिए तय्यार नहीं है उसे शब्द के पूर्ण अर्थ में मनुष्य नहीं कहा जा सकता।''[1] यह नैतिक दृष्टिकोण गांधीजी के राजनैतिक तत्व-दर्शन को उसी प्रकार निर्धारित करता है जिस प्रकार उनके दार्शनिक विश्वास उनके नैतिक सिद्धांतों का आधार हैं। उनके अनुसार व्यक्ति का नैतिक अनुशासन समाज के नव-निर्माण का सबसे अधिक महत्वपूर्ण साधन है और उनके तत्व-दर्शन में इस अनुशासन का वही प्राथमिक स्थान है जो साम्यवाद और फासिज़्म में राज्य-शक्ति और राज्य की संस्थाओं पर बलपूर्वक अधिकार कर लेने का। अहिंसात्मक राज्य की बनावट भी इन्हीं नैतिक सिद्धांतो से निर्धारित होती है।

गांधीजी ने उन नैतिक सिद्धांतों का विवेचन किया है जिनको मनुष्यों को व्रत की भांति मानना चाहिये। उन्होंने यह नियम सन् १६१६ में साबरमती आश्रम के सदस्यों के लिए बनाए थे। इनमे से अधिकतर को हिन्दू शास्त्र हज़ारों वर्षों से नैतिक विकास के लिए आवश्यक मानते आए हैं। इनमें से पहले पांच व्रत—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य हिन्दू शास्त्रकारो के अनुसार 'यम' अर्थात् आवश्यक अनुशासन है। सन् १६१६ ई० से वर्षों पहिले से गांधीजी अपने जीवन का इन आदर्शों के अनुसार निर्माण करने का प्रयत्न कर रहे थे और उन्होंने अपने अनुभव के अनुसार इनमे तफ़सीली हेरफेर किये हैं और इनका विस्तृत विवेचन किया है।

गांधीजी का विचार है कि व्रतों का नैतिक अनुशासन आत्मानुभूति के लिए नितान्त आवश्यक है। व्रत का अर्थ है—जो काम करना उचित है उसे, चाहे जोहो, करना ही।[2] व्रत बल का स्रोत हैं, क्योंकि वह नैतिक नियमों पर चलने के अटल निश्चय के सूचक हैं। यदि हम व्रत न लें तो अड़चनों, मुसीबतों और परीक्षाओं में फिसल जायं और दृढ़ता खो बैठें। व्रत लेने की अनिच्छा नैतिक दुर्बलता की द्योतक है और जिस चीज़ से हमें बचना चाहिये उसके प्रति सूक्ष्म लगाव प्रकट करती है। लेकिन व्रत उन्हीं नियमों के लेना चाहिये जो सर्वमान्य हों। व्रत लेने का—जिसकी आधार-शिला आत्म-नियन्त्रण है—यह अर्थ नहीं कि हम व्रत लेते ही उसका सम्पूर्ण पालन करने लग जायं। "व्रत लेने का अर्थ है, उसका सम्पूर्ण पालन करने के लिए मरते दम तक मन, वचन और कर्म से प्रामाणिक तथा दृढ़ प्रयत्न करना।"[3]

१ 'एथिकल रेलिजन', पृ० ३६।

२ 'आत्म-शुद्धि', पृ० ६२-६३।

३ वही, पृ० १६, ६१ और ६४; और ऊपर उद्धृत 'गांधीजी हिज़ लाइफ ऐंड वर्क, पृ० ३६६।

सत्य

सत्य गांधीजी के जीवन और दर्शन का ध्रुव-तारा है, और इन व्रतों में उसका प्रथम स्थान है।[1]

यूनानी-दर्शन के विकास के समय से पश्चिम में जानने और होने में, वास्तविकता के दो रूपों में—जैसी वह हमारी बुद्धि को ज्ञात होती है और जैसी वह है या जैसी उसे विश्वात्मा जानता है—भेद किया जाता है। गांधी जी भी सत्य के दो प्रकारों में भेद करते हैं—(१) साधन या व्रत-रूप-सत्य, आंशिक या आपेक्षिक सत्य जैसा कि ससीम व्यक्ति परिस्थिति विशेष में उसे जान पाता है; और (२) साध्य-रूप सत्य, निरपेक्ष, सार्वभौम, पूर्ण सत्य जो देश-काल से परे है।

निरपेक्ष सत्य को गांधीजी ईश्वर के साथ समीकृत करते हैं। उनके निकट सत्य ईश्वर है और ईश्वर सत्य है। दूसरे अध्याय में बताया गया है कि किस प्रकार गांधीजी के अनुसार केवल 'सत्य' ही, जिसका अर्थ है 'वह जिसका वास्तव में अस्तित्व है', ईश्वर का ठीक और पूरी तरह से अर्थ-युक्त नाम है। पूर्ण सत्य में सब ज्ञान (चित्) भी सम्मिलित है और ज्ञान शाश्वत आनन्द का स्रोत है। इसीलिए हम ईश्वर को सच्चिदानन्द के नाम से पहिचानते है।[2] गांधीजी ईश्वर के सत्य-रूप के ही पुजारी हैं, सत्य के अतिरिक्त अन्य किसी के नहीं।

सर्वोदय तत्त्व-दर्शन का आधार है यह अटल नियम कि केवल सत्य की ही सफलता हो सकती है, क्योंकि 'सत्य' का अर्थ है 'वह जिसका अस्तित्व है', जबकि 'असत्य' का अर्थ है 'जिसका अस्तित्व नहीं है'। "जहां असत् अर्थात् अस्तित्व ही नहीं है, उसकी सफलता कैसे हो सकती है? और जो सत् अर्थात् 'है' उसका नाश कौन कर सकता है?"[3]

लेकिन गांधीजी के से महानुभाव भी, जिनका असाधारण आध्यात्मिक विकास हो गया है, दूर-दूर से विशुद्ध सत्य की झलक ही देख पाते हैं। गांधीजी के शब्दों में "सत्य का सम्पूर्ण दर्शन देह द्वारा हो नहीं सकता—

१ ईसा की शिक्षा मे भी सत्य की बड़ी महत्ता है। ईसा का कहना था, "आप सत्य को जानेंगे और सत्य आपको मुक्त कर देगा।" और "मैंने इसलिए जन्म लिया और इस कारण संसार मे आया कि मैं सत्य का साक्षी बनूं।" 'जोन', ८।३२, १८।३७।

२ 'आत्म-शुद्धि', पृ० २।

३ 'दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह', उत्तरार्द्ध, पृ० १३७।

असम्भव है।...क्षण-भंगुर देह द्वारा शाश्वत धर्म का साक्षात्कार होना सम्भव नहीं।"[1]

शुद्ध, निरपेक्ष सत्य की अनुभूति का साधन क्या है? गांधीजी का मत है कि शुद्ध सत्य की ओर अग्रसर होने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य उसकी अन्तरात्मा जिसे सत्य समझती है उसी आपेक्षिक सत्य के अनुसार जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न करे।[2] निरपेक्ष सत्य की अनुभूति का यही मार्ग है कि हम सत्य को परिस्थिति विशेष में जैसा जान सकें उसी के अनुसार चलें, उसका जो प्रकाश हमें दिखाई दे उसीको दीप-स्तम्भ समझें। इस प्रकार हमारा जीवन शुद्ध होगा, भूलें सुधरेंगी, सत्य को पहिचानने की शक्ति सुदृढ़ और परिष्कृत होगी और हम पूर्ण शाश्वत सत्य के निकट पहुंचेंगे। आपेक्षिक सत्य के सहारे चलने में जो भूलें होंगी उनके सुधरने का कारण यह है कि "सत्य की शोध के पीछे तपश्चर्या होती है, यानी स्वयं दुःख सहना पड़ता है, उसके लिए मरना भी पड़ता है, इसलिए उसमें स्वार्थ की तो गन्ध तक नहीं होती है। ऐसा निःस्वार्थ शोध करते हुए आज तक कोई ऐसा न हुआ जो आख़ीर तक ग़लत रास्ते गया हो। रास्ता भूलते ही ठोकर लगती है और फिर वह सीधे रास्ते चलने लगता है।"[3]

गांधीजी के निकट सत्य सर्वोच्च धर्म है।[4] अपने जीवन के प्रति क्षण वह जिसे सत्य समझते थे उसके अनुसार चलने का प्रयत्न करते थे और सत्य की इस शोध में अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तु का भी बलिदान करने के लिए तैयार रहते थे।[5]

सत्य के नियम का सम्बन्ध केवल सत्य-भाषण से नहीं, बल्कि कार्य और विचार की सत्यता से भी है। और न सत्य केवल सन्त महात्माओं तक सीमित आदर्श ही है। सत्य का सम्बन्ध जीवन के सब क्षेत्रों से है और इनमें राजनीति भी सम्मिलित है। सत्य की शोध का मार्ग है सब की सेवा, और उसका अर्थ है जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विकास के लिए निरन्तर प्रयत्न और जो हलचल, जो हित मनुष्य को सत्य मालूम पड़े उसकी सफलता के लिए सब-कुछ जोखिम में डाल देने के लिए तैयार रहना। यदि मनुष्य ऐसा नहीं करता तो वह सत्य के रास्ते से विमुख हो जाता है, स्वयं अपनी आत्मा

१ 'आत्म-कथा', प्रस्तावना; 'आत्म-शुद्धि', पृ० ५।
२. 'आत्म-कथा', प्रस्तावना, ह० २५-५-३५, पृ० ११४।
३. 'आत्म-शुद्धि', पृ० ४।
४. 'ऐथिकल रेलिजन', पृ० ५१।
५. 'आत्म-कथा', प्रस्तावना।

से इन्कार कर देता है और नैतिक विनाश की ओर अग्रसर होता है। इस प्रकार सत्य के अर्थ मे न्यायसंगत सामाजिक सम्बंध—उदाहरण के लिए अपने देश की और दूसरे देशों की राजनैतिक स्वतन्त्रता—भी सम्मिलित हैं।

सत्य के पुजारी के लिए पक्षपात, टाल-मटूल, वास्तविकता को छिपाना, बढ़ाना, दबाना, उसमें हेरफेर करके कहना, धोखा देना—इन सबके लिए कोई स्थान नहीं। सत्य के शोध के लिए यह भी आवश्यक है कि वह अपनी भूल मानने से या चले हुए ग़लत रास्ते से लौटने से न डरे। मनुष्य जिस सत्य को देख पाता है वह आंशिक और आपेक्षिक होता है। इसलिए सत्य का यह भी अर्थ है कि हम परस्पर सहिष्णु हों और कटुता और कट्टरता से बचें। सत्य व्यक्तिगत आचार के लिए सच्चा पथ-प्रदर्शक है, लेकिन दूसरों को इस बात पर मजबूर करना कि वह इसी प्रकार आचरण करें, उनकी अन्तरात्मा की स्वतन्त्रता के साथ असह्य हस्तक्षेप है।[१] इसके अलावा 'कटुता हमारी दृष्टि को धुन्धला कर देती है और उस हद तक हमको आंशिक सत्य देखने के भी अयोग्य बना देती है।"[२] कटुता या कठोरता आध्यात्मिक एकता के बुनियादी सिद्धान्त के भी विरुद्ध है, वह पृथकता उत्पादक और विभाजक है और उसके कारण हम एकता को भुला बैठते हैं। इसलिए गांधीजी के अनुसार, "यदि हम सत्य को विनम्रता से नहीं कह सकते तो उसे न कहना ही अच्छा··· अहिंसा के बिना सत्य सत्य नहीं वरन् असत्य है।"[३] लेकिन अहिंसात्मक सत्य या विनम्र भाषण का यह अर्थ नहीं कि कपटपूर्ण रीति से या घुमा फिराकर बात की जाय। "कठोर सत्य शिष्टता से और नम्रता से कहा जाय, लेकिन पढ़ने में तो शब्द कठोर ही होंगे। सत्यवादी होने के लिए आपको झूठे को झूठा कहना होगा—शायद शब्द कठोर हैं, लेकिन उनका प्रयोग अनिवार्य है।"[४] लेकिन कठोर सत्य कहने वाले का इरादा विपक्षी को हानि पहुंचाने का न होना चाहिए।

गांधीजी ने व्यक्तिगत जीवन के और देश के जीवन के विविध क्षेत्रों में सत्य की शोध को अपना प्रमुख कार्य बना लिया था। उनकी अनुसन्धान पद्धति निरीक्षण, प्रतिभान-जन्य और बौद्धिक अभ्युपगम सिद्धान्त (Hypothesis) और प्रयोग द्वारा परख की साधारण वैज्ञानिक पद्धति है। जब कभी उनको भूल मालूम पड़ती थी, वह उसे तुरन्त मान लेते थे और अपने

१. य० इं०, भा० २, पृ० ११८२।
२. वही, पृ० १२८६।
३. वही, पृ० १२८५।
४. ह० ६–२–३७, पृ० ४१४।

प्रयोग मे हेर-फेर कर देते थे जिसमें उस सामाजिक प्रश्न विशेष को हल करने का ठीक मार्ग मालूम हो जाय। जब उनको यह मार्ग मिल जाता था तो किसी दूसरे पर उसकी परीक्षा करने के पूर्व उसकी पहली परीक्षा अपने ऊपर करते थे। रिचर्ड ग्रेग के शब्दों में, "वह सामाजिक सत्य के क्षेत्र में महान् वैज्ञानिक हैं। उनके महान् वैज्ञानिक होने के कारण हैं, समस्याओं का उनका चुनाव, उनको हल करने की उनकी पद्धति, उनके अन्वेषण की अटलता और व्यापकता और मनुष्य स्वभाव का उनका गम्भीर ज्ञान।"[1]

सत्य का ज्ञान

गांधीजी के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को अपने लिए सत्य-निर्धारण का अधिकार और क्षमता प्राप्त है, और यही क्षमता वह आवश्यक गुण है जो मनुष्य को जानवरों से अलग करता है। निस्सन्देह उस मनुष्य के लिए, जो स्वतन्त्र रूप से, अपने निजी प्रयास से, सत्य का अनुसन्धान करना चाहता है, उच्च नैतिक और बौद्धिक योग्यता की आवश्यकता है। लेकिन यह बौद्धिक और नैतिक उच्चता उन दूसरे मनुष्यों के लिए आवश्यक नहीं जो महान् आत्माओं द्वारा विकसित सत्य को स्वीकार करते हैं, उसपर आचरण करते हैं और उसके लिए कष्ट-सहन करते हैं। भारतवर्ष के और बाहर के देशों के सत्याग्रह आन्दोलन इस सिद्धान्त की सत्यता सिद्ध करते हैं। दक्षिण अफ्रीका के हिन्दोस्तानी और सीमाप्रान्त के पठान, जिन्होंने सत्याग्रह में कठोर मुसीबतें उठाईं, सांस्कृतिक और नैतिक दृष्टि से साधारण स्थिति के मनुष्य थे। गांधीजी का विश्वास है कि साधारण जनता में सत्य के लिए कष्ट-सहन की क्षमता है, यद्यपि यह क्षमता परिस्थिति विशेष में सीमित हो सकती है।[2]

जहां तक सत्य के स्वतन्त्र अनुसन्धान का सम्बन्ध है, यह याद रखना आवश्यक है कि सत्य की अनुभूति केवल नितान्त नैतिक जीवन द्वारा हो सकती है। गांधीजी के मत से सत्य की अनुभूति के लिए निरन्तर अभ्यास, वैराग्य अर्थात् इन्द्रिय-वासनाओं के प्रति विरक्तता और सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह के व्रत आवश्यक हैं। सत्य के संबन्ध में अंतरात्मा की आवाज़ सुनने का उचित दावा केवल वही कर सकता है जिसने इस नैतिक अनुशासन का पालन किया हो। गांधीजी के अनुसार यह सब यम-नियम सत्य के निष्कर्ष हैं और सत्य का विकास ही उनका प्रयोजन है।

१. राधाकृष्णन्, 'महात्मा गांधी', पृ० ८०।

२. य० इं०, भा० १, पृ० ३४-६।

सत्य और अहिंसा

सत्य की अनुभूति अहिंसा के द्वारा ही सम्भव है। हिंसा की जड़ क्रोध स्वार्थपरता, वासना इत्यादि विभाजक, पृथककारी प्रवृत्तियों में है, इसलिए हिंसा के द्वारा हम सत्य-प्राप्ति के लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकते। हिंसा असत्य है और असत्य का अर्थ है 'वह जिसका अस्तित्व नहीं'। यदि असत्य ही स्थायी होता और यदि कोई भी वस्तु अपने प्रति और दूसरो के प्रति सत्य न होती, यदि जीवन और प्रकृति के सब नियम अनिश्चित होते और हम उनपर निर्भर न रह सकते तो यह विश्व विच्छृङ्खल और अव्यवस्थित हो जाता!

लेकिन हिंसा असत्य क्यों है? एक कारण तो यह है कि मनुष्य-ज्ञात सत्य सदा आंशिक, आपेक्षिक होता है, वह पूर्ण शुद्ध और निरपेक्ष नही होता। मनुष्य एक ही वस्तु को ओर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखते हैं। सब की अन्तरात्मा की आवाज़ एक ही नहीं होती। कोई मनुष्य इस बात का दावा नहीं कर सकता कि उसकी ही बात निरपेक्ष सत्य है। इसलिए सत्य के शोध में इस बात की गुञ्जाइश नहीं कि विरोधी के साथ बल-प्रयोग किया जाय; विरोधी की भूल-सुधार का साधन सब्र और सहानुभूति है, उसको कष्ट न देकर स्वयं कष्ट सहना है।[१] क्योंकि यदि सुधारक, जो कष्ट-सहन द्वारा अन्याय या भूल दूर करने का प्रयत्न कर रहा है, स्वयं ग़लती पर है तो सुधारक के अतिरिक्त किसी दूसरे को कष्ट नहीं मिलेगा।

इसके अतिरिक्त हिंसा केवल पाप, अशुभ या अन्याय पर ही आक्रमण नही करती, बल्कि अपराधी और अन्यायी पर भी आक्रमण करती है। इस प्रकार हिंसा सर्वश्रेष्ठ सत्य, सब जीवधारियों की एकता और पवित्रता के विरुद्ध अपराध है। सत्य-शोध का अर्थ है सब के प्रति प्रेम और उनकी सेवा, अर्थात् सब के लिए कष्ट-सहन के द्वारा इस आध्यात्मिक एकता की अनुभूति। हिंसा, हिंसक मनुष्य और पीड़ित दोनों को इस एकता की अनुभूति से रोकती है, क्योंकि उनकी क्रोध, डर, घृणा आदि भावनाओं को उकसाती है।

फिर, सत्य जो हमारे अनुसन्धान का विषय है हमारे बाहर नहीं हमारे अन्दर ही है। जितना अधिक हम कठिनाइयां उत्पन्न करने वालों के साथ हिंसात्मक बर्ताव करते हैं, उतना ही अधिक हम सत्य से दूर होते जाते हैं। बाहर के काल्पनिक शत्रु से लड़ने में, हम आन्तरिक शत्रु की उपेक्षा करते हैं।[२]

१. यं. इ., भा. १, पृ. ३६: य. इ., भा. २, पृ. ११८२; 'स्पीचेज़', पृ. ५०१ हि. स्व., पृ. १४५–४६।

२. 'फ्राम यरवदा मंदिर', पृ. १०।

इस प्रकार अहिंसा आध्यात्मिक एकता के, या रिचर्ड ग्रेग के शब्दों मे, सब जानदारों के आध्यात्मिक जनतन्त्र के, महान सत्य का व्यावहारिक प्रयोग है। गांधीजी के शब्दों में, "वह बुनियादी सिद्धान्त, जो कि अहिंसा के व्यवहार का आधार है, यह है कि जो अपने बारे मे लागू है वही समस्त विश्व के बारे में भी उसी प्रकार लागू है।"[१]

गांधीजी के अनुसार अहिंसा सम्पूर्ण धर्म की जान है। साध्य और साधन एक हैं,[२] इसलिए अहिसा स्वयं सत्य है, उसकी आत्मा है, उसका प्रौढ़तम फल है। "अहिंसा और सत्य इतने ही ओत-प्रोत हैं, जितने कि सिक्के के दोनों बाजू या चिकनी चकरी के दोनों पहलू।" उनको अलग-अलग करना और यह कहना कि कौन उलटा और कौन सीधा है बड़ा कठिन है।[३]

तब भी अहिसा साधन है, और सत्य साध्य। इसीलिए गांधीजी अहिसा की अपेक्षा सत्य के अधिक पुजारी है। वह सत्य के लिए अहिंसा का बलिदान कर सकते है, लेकिन सत्य का त्याग किसी भी वस्तु के लिए नही कर सकते।[४] वह लिखते है, "सत्य के मनन और खोज मे ही अहिंसा के रत्न का अनुसन्धान हुआ था।"[५] उनका अनुभव उनको बतलाता है कि यदि सत्य उनके हाथ से जाता रहे तो वह अहिसा की गुत्थी को कभी सुलझा न सकेंगे।[६] उनके अनुसार सत्य सर्वश्रेष्ठ धर्म है और अहिंसा परम कर्तव्य है।[७]

गांधीजी के अहिंसा की अपेक्षा सत्य पर अधिक ज़ोर देने का एक कारण यह है कि उनका विश्वास है कि सत्य का अस्तित्व देश-काल से परे है, जबकि अहिंसा के अस्तित्व का संबंध केवल ससीम जीवधारियों के पारस्परिक बर्ताव से है।[८] सत्य को त्याग कर अहिसा नैतिक विकास का नही अधःपतन का साधन बन जाती है। गांधीजी के शब्दो मे, "बिना सत्य के (शुद्ध) प्रेम नही होता; बिना सत्य के वह ऐसा देश-प्रेम हो सकता है जिससे दूसरों को

१. ह., १२–११–३८, पृ. ३२६।
२. य. इ., भा. २, पृ. ३९६, य. इ., भा. ३, पृ. १५४।
३. 'आत्म-शुद्धि', पृ. ८–९।
४. ह॰, २८–३–३६, पृ॰ ४९।
५. आचार्य कृपलानी, 'दि गांधियन वे', गांधीजी की भूमिका।
६. 'आत्म-कथा', भा. ५, अ. २९।
७. ह., २८–३–३६, पृ. ४९।
८. रिचर्ड ग्रेग से गाधीजी की एक बातचीत, देखिये 'पावर आफ नानवायलेन्स', पृ. २७६।

हानि पहुंचे, या एक युवक का एक लड़की के लिए वासनामय अनुराग हो सकता है; या ("सत्य के बिना) अयौक्तिक अन्ध-प्रेम हो सकता है, जैसे अज्ञानी माता-पिता का अपने बच्चे के लिए होता है।"[1]

अहिंसा

सत्य की तरह अहिंसा भी सर्वशक्तिमान और असीम है और ईश्वर का समानार्थक है।[2] अहिंसा हमारे अन्दर आत्म-शक्ति या ईश्वरीय शक्ति है। जिस प्रकार आत्म-शक्ति का अस्तित्व बिना भौतिक-शरीर के हो सकता है, उसी प्रकार अहिंसा भी देश-काल का अतिक्रमण करती है और बिना भौतिक साधनों की सहायता के भी कारगर होती है। वह संसार की सबसे बड़ी और सबसे अधिक क्रियात्मक शक्ति है, वह विद्युत् से भी अधिक भावात्मक है, आकाशतत्त्व (ether) से अधिक बलवान है; दूसरी सब शक्तियों के योग से भी अधिक शक्तिशाली है, जीवन की एकमात्र शक्ति है।[3]

सत्य की तरह ही अहिंसा भी श्रद्धा और अनुभूति का विषय है और एक सीमा के बाहर कोरी बौद्धिकता का विषय नहीं है। गांधीजी के शब्दों में, "अहिंसा इतना मानसिक और बौद्धिक रुख नहीं है जितना हृदय और आत्मा का गुण है।"[4] प्रेममय ईश्वर में और भौतिक शरीर से अलग आत्मा के अस्तित्व मे जीवित विश्वास अहिंसा के सफल प्रयोग के लिए अनिवार्य है।

प्लैटो की तरह गांधीजी का भी मत है कि विश्व का संचालन अहिंसा या प्रेम द्वारा होता है, क्योंकि विनाश के मध्य में जीवन का अस्तित्व है। वह लिखते हैं, "यद्यपि प्रकृति में काफी अपकर्षण है, तब भी वह आकर्षण के सहारे ही जीवित रहती है। आत्म-प्रेम औरों के प्रति आदर का भाव उत्पन्न करता है।"[5] "हम सब प्रेम के बन्धन से बंधे हैं। प्रत्येक वस्तु मे केन्द्राभिमुखी शक्ति है जिसके बिना किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं रह सकता······जिस प्रकार नेत्रहीन भौतिक तत्वों मे आकर्षण शक्ति है, उसी प्रकार जीवधारियों मे भी अवश्य होगी और जीवधारियों की इस शक्ति का नाम है प्रेम। जहां प्रेम है वहां जीवन है, घृणा का परिणाम है विनाश।"[6]

१. 'स्पीचेज़', पृ. ५०३।
२. ह०, १-५-३७, पृ० ८६।
३. ह०, १४-३-३६, पृ० ३६।
४. यं० इं०, भा० २, पृ० ११११।
५. यं० इं०, भा० १, पृ० २८४।
६. यं० इं०, भा० १, पृ० ७३४।
प्रकट है कि गांधीजी डारविन साहब के मत के समर्थक जीवशास्त्र के उन विद्वानों से सहमत नहीं जिनका मत है कि जीवधारियों के विकास और

इस प्रकार अहिंसा सर्वकालीन, सर्वव्यापक नियम है जिसका जीवन की प्रत्येक परिस्थिति मे बिना किसी अपवाद के प्रयोग हो सकता है। इसीलिए गांधीजी अनुरोधपूर्वक कहते हैं कि अहिंसा की पूर्ण सफलता की शर्त यह है "जब हम अहिंसा को अपना जीवन-सिद्धान्त बना लें, तो वह हमारे सम्पूर्ण जीवन मे व्याप्त होनी चाहिए। यो कभी-कभी उसे पकड़ने और छोड़ने मे लाभ नहीं हो सकता।"[1] टालस्टाय की तरह गांधीजी का भी विश्वास है कि यदि हम एक बार भी अहिंसा मे हिंसा का समावेश करते है तो हम मान लेते हैं कि अहिंसा अपर्याप्त है और इस प्रकार उसको नैतिक जीवन का नियम मानने से इन्कार कर देते हैं। गांधीजी के अनुसार केवल अहिंसा ही वह शक्ति है जो महत्त्वपूर्ण है। वह ईश्वरीय राज्य है और यदि हम उसे प्राप्त कर ले तो दूसरी सब वस्तुएं अपने आप हमें मिल जायंगी।[2] वह लिखते हैं, "मेरे लिए अहिंसा स्वराज्य से पहले आती है ·····जब तक अहिंसा स्वीकार की जाती है, उसको सबसे प्रथम स्थान देना चाहिए। तभी वह अजेय होती है।"[3] अहिंसा गांधीजी की सब हलचलों की जड़ है।

लेकिन अहिंसा है क्या ?

निषेधात्मक अहिंसा

अहिंसा शब्द निषेधात्मक मालूम होता है। गांधीजी के अनुसार इस सर्वोच्च धर्म की निषेधात्मक परिभाषा का कारण यह है कि हिंसा शारीरिक जीवन की अपरिहार्य आवश्यकता है, जीव हिंसा के बिना जीवन ही असम्भव है; इसलिए अहिंसा का अर्थ है जीवन के लिए आवश्यक हिंसा के परित्याग का प्रयत्न।[4] अहिंसा का अर्थ है शरीर के बन्धन से मनुष्य की मुक्ति और

रक्षा का साधन पारस्परिक संघर्ष है जिससे अयोग्य जीवों का विनाश और योग्य का रक्षण होता है। लेकिन बहुत से विख्यात आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि किसी विशेष प्रकार के जीवों की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि उनमे पारस्परिक संघर्ष की अपेक्षा पारस्परिक सहयोग की मात्रा अधिक हो। पारस्परिक सहयोग की अपेक्षा संघर्ष की अधिकता सदा विनाशक होती है। सहयोग की महत्ता पर ज़ोर देने वाले इन वैज्ञानिकों मे प्रो० ए० एन० व्हाइटहेड और प्रिंस क्रोपाटकिन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

१. ह०, ५-६-३६, पृ० १३७।
२. ह०, १४-३-३६, पृ० ३७।
३. ह०, २४-६-३६, पृ० १७८।
४. ह०, १-९-४०, पृ० २७१।

उस स्थिति की प्राप्ति जिसमें नश्वर शरीर—जिसकी रक्षा के लिए जीव-हिंसा अनिवार्य है – के बिना जीवन सम्भव है।

गांधीजी के अनुसार निषेधात्मक अहिंसा का अर्थ है किसी जीवधारी को दुर्भावना से—क्रोध, स्वार्थवश या चोट पहुंचाने के इरादे से—दुःख न देना, और उसकी जान न लेना। "अहिंसा का अर्थ है पृथ्वी के किसी जीवधारी को विचार, शब्द या कार्य में दुःख देने से बचना।"[१]

निषेधात्मक अहिंसा का अर्थ केवल जान न लेना ही नहीं है। गांधीजी के अनुसार हिंसा के दूसरे और अधिक दोषपूर्ण प्रकार हैं दुःख देने के लिए प्रयुक्त कठोर शब्द और कठोरतापूर्ण निर्णय, दुर्भावना, क्रोध, निर्दयता, घृणा, मनुष्यों और जानवरों को यंत्रणा देना, दुर्बल पर अत्याचार और उसका अपमान, उनके आत्मसम्मान का विनाश इत्यादि। निषेधात्मक रूप से अहिंसक रहने के लिए यह आवश्यक है कि हमारे विचार उस मनुष्य के बारे में भी अनुदार न हों जो अपने को हमारा शत्रु समझता है।[२]

अहिंसा सम्बन्धी अपने विचारों में गांधीजी अहिंसा के शाब्दिक अर्थ से बंध कर नहीं चलते। उनके अनुसार हिंसा का सार है किसी विचार, शब्द या कार्य के पीछे हिंसामय अर्थात् हानि पहुंचाने का इरादा। यदि किसी जानदार की जान उसके लाभ के लिए ली जाय तो जान लेना हिंसा नहीं है। ऐसे जीवधारियों को मार देना, जो धीमी किन्तु निश्चित् मृत्यु की यंत्रणा भोग रहे हैं, अहिंसा है। गांधीजी लिखते हैं, "यदि मेरा बच्चा पागल कुत्ते के काट लेने से बीमार पड़ जाय और उसकी यन्त्रणा कम करने का कोई आशाजनक उपाय न हो तो मैं उसकी जान लेना अपना कर्तव्य मानूंगा।"[३] जैसा कि पाठकों को मालूम होगा, गांधीजी ने एक बार अपने आश्रम के एक बछड़े को ज़हर दिलवा दिया था क्योंकि उसकी असह्य यंत्रणा

१. ह०, ७-६-३५, पृ० २३४।

२. य० इं०, भा० २, पृ० ८६०; 'स्पीचेज', पृ० २२०। रिचर्ड ग्रेग हिंसा की परिभाषा इन शब्दों में करते हैं, "हिंसा कोई कार्य, हेतु, विचार, क्रियात्मक भावना या बाह्य परिचालित रुख है जो स्वभावतः या परिणाम से विभाजक है.. ...दृष्टान्त के लिए हिंसा में अभिमान, घृणा, अवज्ञा, क्रोध, बेमर्जी, बेजा शिकायत, द्वेष और मारना, जख्मी करना, डराना, शोषण करना, धोखा देना, ज़हर देना, बुराई के लिए लालच देना, चापलूसी करना, जान कर चरित्र को दुर्बल करना और ऐसे ही दूसरे अन्याय शामिल हैं।" 'दि पावर आफ नानवायोलेन्स', पृ० २८२।

३. ह०, १६-१२-३६, पृ० ३६२; यं० इं०, भा० २, पृ० ६७१, ६७८।

लाइलाज थी। इस प्रकार आग की ओर दौड़ते हुए बच्चे को बलपूर्वक रोक लेना और उस बच्चे को जिसे सांप ने काट लिया हो जागते रखने के लिए पीटना अहिंसा के दृष्टान्त हैं बशर्ते कि प्रेरक हेतु क्रोध न हो, बल्कि बच्चे को हानि से बचाने की इच्छा हो।[1] जान लेने की एक दूसरी मिसाल गांधीजी इन शब्दों में देते हैं, "ज़रा देर के लिए मान लीजिये कि मेरी लड़की को—जिसकी इच्छा जानने का उस समय मेरे पास कोई साधन नहीं है—बेइज़्ज़त किये जाने का भय है और कोई ऐसा मार्ग नहीं जिससे मैं उसे बचा सकूं, तब मेरे लिए उसकी जान लेना और अपने आपको उस क्रोधित गुण्डे के प्रचण्ड क्रोध को समर्पण कर देना पवित्रतम प्रकार की अहिंसा होगी।"[2]

गांधीजी के अनुसार इन चार शर्तों के पूरा होने पर अहिंसा के अनुसार किसी बीमार व्यक्ति की जान लेना उचित हो सकता है—

(१) बीमारी लाइलाज हो।

(२) सभी सम्बन्धित व्यक्तियों ने बीमार के जीवन की आशा छोड़ दी हो।

(३) बीमारी ऐसी हो कि कुछ सेवा या सहायता न पहुंच सकती हो।

(४) बीमार के लिए यह असम्भव हो कि वह अपनी राय प्रकट करे।[3]

विधायक अहिंसा

भ्रम से अहिंसा अक्सर केवल निषेधात्मक मान ली जाती है। दृष्टांत के तौर पर बर्नार्ड शा साहब की यही राय है।[4] गांधीजी के अनुसार अहिंसा आवश्यक रूप से विधायक और गत्यात्मक शक्ति है। विधायक और क्रियात्मक रूप में अहिंसा का अर्थ है प्रेम, केवल मनुष्यों के लिए ही नहीं, बल्कि सब जीवधारियों के लिए—फूल पौधों और हानिकर कीड़े-मकोड़ों और जानवरों के लिए भी—प्रेम। "इसलिए क्रियात्मक रूप में अहिंसा सब जीवों के प्रति सद्भावना है।"[5] हिंसा से बचना अहिंसा का आकार मात्र है, प्रेम उसका प्राण है। लेकिन गांधीजी अहिंसा को प्रेम के साथ इसलिए समीकृत नहीं करते जिसमें इस आध्यात्मिक शक्ति मे और प्रेम के वासनामय अशुद्ध रूप में अन्तर मालूम हो सके। अहिंसा का प्रेम हानि-लाभ के हिसाब किताब का वह

१. ह०, ६-२-३७, पृ० ४१४ 'हिंदस्वराज्य', १३८-३६।
२. यं० इ०, भा० ३, पृ० ८५६।
३. य० इ०, भा० ३, पृ० ८६७।
४. देखिए आर० एफ० मिलर, 'गांधी, दि होली मैन', पृ० १६०-६२।
५. यं० इं०, भा० २, पृ० २८६।

सौदा नहीं जिसका आधार हो उस व्यक्ति की अच्छाई जो प्रेम का लक्ष्य है। अहिंसा का प्रेम वह सच्चा शुद्ध प्रेम है जो बदला नहीं मांगता और अपना बलिदान कर देने को तैयार रहता है।[१]

शेर, सांप और दूसरे ज़हरीले जानवर और रेंगने वाले जानवर हमारे सजातीय हैं; और हमारी ही तरह ईश्वर की सृष्टि होने के नाते, उनका भी जीवित रहने का उतना ही अधिकार है जितना कि हमारा। यह सच है कि हम नहीं जानते कि बहुत से तथाकथित हानिकर जीवों की प्रकृति की योजना में क्या स्थान है और उनके जीवन का क्या प्रयोजन है। लेकिन यदि ईश्वर की बुद्धिमत्ता और अच्छाई में, उसके प्रेममय और दयालु होने में हमारा विश्वास है, तो हमें मानना होगा कि ईश्वर ने इन जन्तुओं को मनुष्य के विनाश के लिए नहीं रचा है। गांधीजी का विश्वास है कि साधारण कारणों से भी मनुष्य-हिंसा करने की आदत ने हमारी बुद्धि को कलुषित कर दिया है। हम अभी तक यह नहीं सीख पाये कि इन साथी जीवों—विषैले जानवरों सांपों, इत्यादि—के साथ शान्तिपूर्वक कैसे रहें। हम उनसे डरते हैं और उनका विनाश करते हैं। लेकिन जिस जीवन को उत्पन्न नहीं कर सकते, उसके विनाश का हमको कोई अधिकार नहीं, और पूर्ण विकास के लिए वह अधिक से अधिक व्यापक प्रेम आवश्यक है जो सब प्रकार से निर्भय हो और जिसकी पहुंच इन जीवों तक भी हो।[२]

इस प्रकार अहिंसा का अर्थ है अधिक-से-अधिक व्यापक प्रेम—अन्यायी के भी प्रति प्रेम। किन्तु अन्यायी के प्रति निर्विरोध आत्म-समर्पण अहिंसा का अर्थ नहीं। इसके विपरीत अहिंसा का अर्थ है अन्यायी का जान लड़ाकर विरोध। लेकिन गांधीजी की राय है कि अशुभ या बुराई को हम बुराई, हिंसा और प्रतिघात से नहीं जीत सकते। अन्यायी के प्रति हिंसा का प्रयोग करना उसके साथ अपनी आध्यात्मिक एकता को भुला देना है और अन्यायी की भूल को दोहराना है। हिंसात्मक विरोध करके हम अपने को अन्यायी के तल पर गिरा देते हैं, अशुभ के प्रचार में उसके साथ सहयोग करते हैं और इस प्रकार हिंसा और अन्याय की जड़ मजबूत करते हैं।

---

१. यं० इ०, भा० २, पृ० ५५१।

२. ह०, ६-५-३७, पृ० ३८२; य० इ०, भा० २, पृ० ७५७-८४। गांधीजी के अनुसार पशु-पक्षियों के प्रति अहिंसक होने का यह अर्थ नहीं कि हम मानव जीवन की उपेक्षा करके भी उनके प्रति दयालु हों। देखिए ह०९-६-४६, पृ० १७२।

इसके विपरीत अहिंसा अशुभ को शुभ से जीतने का प्रयास है। अहिंसा अनैतिकता का विरोध नैतिकता से और शरीर-बल का प्रतिवाद आध्यात्मिक-शक्ति से करती है। अहिंसा अन्याय के प्रश्न की जड़ तक पहुंचती है. उसका विश्वास है कि मनुष्य स्वभावत: अच्छा है, इसलिए वह जिस तरह अन्यायी ने अन्याय और हिंसा करके अपना मूल्यांकन किया है उसे अस्वीकार करती है। अहिंसक मनुष्य इस बात का प्रयत्न करता है कि कष्ट-सहन से और प्रेम की शक्ति से अन्यायी को पिघला दे, उसके विवेक को जगा दे, उसका हृदय-परिवर्तन करदे जिससे उसको दूसरों के साथ— जिनके साथ वह अन्याय कर रहा है उनके साथ भी —अपनी आध्यात्मिक एकता का बोध हो जाय। अहिंसक मनुष्य तब तक प्रेम और धैर्य्य से कष्ट उठाता है जब तक अन्यायी अपने अन्याय के लिए पश्चात्ताप नहीं करने लगता।

इस प्रकार विधायक अहिंसा का यह अर्थ है कि आत्मपाती दृष्टिकोण से अहिंसावादी को क्रोध और प्रतिघात की भावना पर विजय पाकर आंतरिक शक्ति का विकास करना चाहिये। यह आंतरिक शक्ति, जिसकी अभिव्यक्ति आत्म-संयम और क्षमा की सुबुद्धि में होती है, शारीरिक नहीं वरन् मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति है, और दुर्बल से दुर्बल शरीर वाला व्यक्ति भी इस शक्ति का विकास कर सकता है। वस्तुपाती दृष्टिकोण से इस आत्म-विजय के बाद अहिंसावादी के लिए अन्याय के नैतिक और आध्यात्मिक प्रतिरोध और अन्यायी के सुधार की बात आती है।

संक्षेप में, "अपने आप अधिकतम असुविधा उठाकर दूसरों को अधिकतम सुविधा देना अहिंसा है।"[1] और "किसी जीवधारी को कष्ट पहुंचाने का प्रत्येक कार्य, और जब कभी सम्भव हो, ऐसे कार्य को रोकने के लिए अहिंसात्मक प्रयत्न से अलग रहना, अहिंसा की अवहेलना है।"[2]

निरपेक्ष अहिंसा और अनिवार्य हिंसा

पूर्ण अहिंसा का अर्थ है हिंसा से पूर्ण मुक्ति, अर्थात् दुर्भावना, क्रोध और घृणा से छुटकारा और सबके प्रति प्रेम का बाहुल्य। पूर्ण अहिंसा के दृष्टिकोण से प्रत्येक प्रकार की हिंसा त्याज्य है। लेकिन इस प्रकार की अहिंसा आदर्श स्थित है और तभी प्राप्त हो सकती है जब मन, वचन और कर्म में पूर्ण सहयोग हो।[3] अहिंसा शक्ति है, और निरपेक्ष अहिंसा असीम शक्ति है।

१. य० इ०, भा० २, पृ० ६८४।
२. यं० इ०, भा० ३, पृ० ८१२।
३. य० इ०, १-१०-३१।

लेकिन इस प्रकार की शुद्ध, पूर्ण, असीम, निरपेक्ष अहिंसा केवल ईश्वर का गुण है। अपूर्ण मनुष्य जिस प्रकार निरपेक्ष सत्य को नहीं जान सकता उसी प्रकार वह अहिंसा का पूर्ण अर्थ नहीं जान सकता और न उसे पूरी तरह व्यवहार मे उतार सकता है।

समाज मे जो हिंसा होती है उसके उत्तरदायित्व में समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति का भाग है। गांधीजी लिखते हैं, "क्योंकि अहिंसा के अन्तर्गत सब जीवन की एकता है, एक की भूल का सब पर प्रभाव पड़ता है और इसलिए मनुष्य हिंसा से पूरी तरह छुटकारा नहीं पा सकता। जब तक वह सामाजिक प्राणी है उसको उस हिंसा में भाग लेना ही पड़ेगा जो समाज के अस्तित्व के कारण ही होती है।"[१]

इसके अतिरिक्त, जीवन विनाश की शृङ्खला में बंधा है और हिंसा शारीरिक जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। इसलिए इस अस्थि-चाम के शरीर वाले किसी भी मनुष्य के लिए हिंसा से पूरी तरह छुटकारा असम्भव है।[२] इस प्रकार मनुष्य के रहने, खाने, पीने और इधर-उधर घूमने-फिरने मे आवश्यक रूप से जीवों का विनाश होता है—वह जीव चाहे जितने छोटे क्यों न हों। कुछ जीव-हिंसा मनुष्य को अपने शरीर के भरण-पोषण के लिए ही नहीं वरन् अपने आश्रितों की रक्षा के लिए भी करना पड़ता है।[३] यह अनिवार्य हिंसा है, और समाज ने इसको वैध माना है।

खाने, पीने इत्यादि में होने वाली हिंसा के अतिरिक्त गांधीजी ने अपने लेखों में कुछ ऐसे भी उदाहरण दिये है जिनमें हिंसा से बचाव नहीं हो सकता। इनमे से कुछ हैं पागल कुत्तों को और इधर-उधर घूमने वाले कुत्तों को, जो समाज के लिए ख़तरनाक हो जांय, मार देना; इसी प्रकार संकटमय स्थिति में सांपो, शेरों आदि को मारना; उन चूहों, पिस्सुओं और मच्छरों आदि का विनाश जिनमें प्लेग के कीटाणु हों; फसल बचाने के लिए बंदरों को डराना और हिंसापूर्ण उपायों से भगाना; ऐसे मनुष्य को मार देना जो अपने आश्रित की हत्या करने को हो और जिसको किसी दूसरे प्रकार रोका नहीं जा सकता; पागल के साथ बल-प्रयोग; इत्यादि। लेकिन यह आपद्-धर्म के दृष्टान्त हैं और उनका स्रोत है मनुष्य की अपूर्णता। यह जीवन के सर्वोच्च नियम के रूप में अहिंसा की मान्यता को अप्रमाणित करने वाले अपवाद नहीं हैं। जितना ही मनुष्य का नैतिक और आध्यात्मिक विकास

१. 'आत्म-कथा' (अं), भा० २, पृ० २२६।
२. 'आत्म-कथा' (अं), भा० २, पृ० २२६; यं० इ०, भा० २, पृ० ६६०।
३. यं० इ०, भा० २, पृ० ६७१।

होगा उतना ही इन संकटपूर्ण स्थितियों में अहिंसक व्यवहार-पद्धति का उसका ज्ञान बढ़ेगा और हिंसात्मक युक्तियों के प्रयोग की आवश्यकता घटेगी।

यदि मनुष्य को सच्चा अहिंसावादी बने रहना है तो यह आवश्यक है कि जो अनिवार्य हिंसा उसे करना पड़े वह स्वाभाविक हो, और कम-से-कम हो, उसकी जड़ दया में हो और उसके पीछे समझदारी, रुकावट और अनासक्ति हो। अहिंसावादी को अनिवार्य हिंसा तभी करना चाहिये जब उससे बचने का रास्ता न हो।[1]

गांधीजी के अनुसार कष्ट देना या जान लेना :

(१) अहिंसा है जब वह शान्तिपूर्वक सोच-विचार कर की गई हो और उसका प्रयोजन जिसे कष्ट दिया जा रहा है उसे लाभ पहुँचाने का और उसकी यंत्रणा कम करने का हो।

(२) वैध हिंसा है जब वह शरीर के भरण-पोषण के लिये या आश्रितों की रक्षा के लिये की गई हो।

(३) हिंसा है जब वह क्रोध से, स्वार्थवश, या दुर्भावना से की गई हो।[1]

इस निर्णय के लिये कि किसी विशेष कार्य को करना या न करना अहिंसा है या नहीं, इरादे और कार्य दोनों पर विचार करना आवश्यक है। इरादा संबन्धित कार्य-समूह से जाना जा सकता है। लेकिन यद्यपि इरादा अहिंसा की निश्चयात्मक परख है, वह केवलमात्र परख नहीं है। "किसी जीवधारी को उसके ही हित के अतिरिक्त मारना हिंसा है, (मारने वाले का) हेतु दूसरे दृष्टिकोण से चाहे जितना उच्च क्यों न हो। और वह मनुष्य भी हिंसा का अपराधी है जो हृदय में दूसरे के प्रति दुर्भावना को स्थान देता है, यद्यपि समाज के डर के कारण या अवसर की कमी के कारण वह अपनी दुर्भावना को कार्य मे परिणत नहीं कर पाता।"[2]

अहिंसा में निम्न कोटि के जीवों, पशु-पक्षियों आदि के प्रति निष्प्रयोजन हिंसा—शिकार, शरीर की बनावट के ज्ञान के लिए जानवरों की चीर-फाड़,

---

१. यं० इं०, भा० २, पृ० ६७१ और ६८३।

इसी प्रकार जी० एच० सी० मैक्ग्रेगर 'दि न्यू टेस्टामेंट बेसिस आफ़ पैसिफिज्म' में दो प्रकार की शक्तियों में भेद करते है :—(१) वह शक्ति जिसका प्रयोग नैतिक उद्देश्य के लिए होता है, जैसे कि डाक्टर का नश्तर, और (२) वह शक्ति जिसके प्रयोग के पीछे कोई नैतिक उद्देश्य नहीं है, जैसे युद्ध में प्रयुक्त शक्ति।

२. यं० इं०, भा० ३, पृ० ८८३।

मांस-भोजन, आदि—के लिए स्थान नहीं। गांधीजी निरामिष-भोजन को हिन्दू-धर्म की अमूल्य देन बताते हैं और अपने स्वास्थ्य को खतरे में डाल कर भी इस सिद्धान्त को मानते रहे है। उनकी राय है कि मांस-भोजन आत्म-संयम में बाधक है और मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक विकास को रोकता है। लेकिन वह भोजन को अनावश्यक महत्त्व नहीं देते और उस संकुचित दृष्टिकोण के विरुद्ध हैं जो धर्म और नैतिकता की परिभाषा भोजन के शब्दों मे करता है।[1] वह लिखते हैं, "अहिंसा केवल भोजनशास्त्र की बात न होकर उसका अतिक्रमण करती है। मनुष्य क्या खाता-पीता है यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। जो महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि उसके (खाने-पीने के) पीछे कितना आत्मत्याग और आत्मानुशासन है।"[2] इस प्रकार अहिंसा का प्रयोग और विकास केवल शाकाहारियों तक सीमित नहीं है, क्योंकि अहिंसा बाह्य आचार की अपेक्षा भावना का विषय अधिक है।

इसी प्रकार अहिंसा के विकास के लिए आवश्यक है कि साधक वही धंधा करें जिसमें कम-से-कम हिंसा होती है। अहिंसक व्यक्ति के व्यवसाय को बुनियादी रीति से हिंसा से मुक्त होना चाहिए और उसमें दूसरों का शोषण न होना चाहिए। उन पेशों और उद्योगों मे जिनका आधार शरीर-श्रम है कम-से-कम शोषण होता है और वही सत्याग्रही के लिए उपयुक्त हैं। प्रकट है कि कसाई का पेशा, शिकार, युद्ध और युद्ध की तैयारी से सम्बन्धित कार्य अहिंसा से मेल नहीं खाते।[3]

संक्षेप मे, जितना अधिक मनुष्य समझ-बूझ कर हिंसा से दूर रहेगा, उतना ही वह पूर्ण अहिंसा के, अर्थात् निरपेक्ष सत्य के या ईश्वर के पास होगा।

लेकिन यह प्रश्न हो सकता है कि इससे क्या लाभ कि पहिले तो आप अहिंसा को शाश्वत सिद्धान्त की उच्चता पर आसीन करें और तब यह स्वीकार करें कि मनुष्य के लिए उसका पूरी तरह जीवन की प्रत्येक परिस्थिति मे प्रयोग असम्भव है? क्या पश्चिम के युद्ध-विरोधियों की भांति यह मानना ज़्यादा अच्छा न होगा कि कुछ परिधिवर्ती कठिन मामलों मे अहिंसा अनुपयुक्त है और हिंसा अधिक कारगर होती है?

इस आलोचना का गांधीजी यह उत्तर देते हैं कि जो आदर्श पूरी तरह

---

१. यं० इं०, भा० २, पृ० ११८४–८५।

२. यं० इं०, भा० ३, पृ० ८२१।

३. ह०, ८–६–४०, पृ० २७२।

जीवन में सिद्ध किया जा सकता है वह ऊंचा आदर्श नहीं हो सकता, क्योंकि उसमे अनवरत प्रयास, निरन्तर खोज की—जो सब आध्यात्मिक प्रगति का आधार है—गुंजाइश नहीं रहती।[1] इसलिए मनुष्य के लिए अपनी अपूर्णता और दुर्बलता के कारण आदर्श को व्यावहारिकता के निचले स्तर पर ले आना नैतिक संकट है। गांधीजी अनुरोधपूर्वक कहते हैं, "एक शाश्वत सिद्धान्त मे अपवाद मानने की अपेक्षा मेरे लिये यह कहना अधिक अच्छा है कि मुझमें काफ़ी अहिंसा नहीं है। फिर, मेरा अपवादों को न मानना मुझे अहिंसा की कला में अपने को पूर्ण बनाने को प्रोत्साहित करता है।"[2]

तीन प्रकार की अहिंसा

यदि पूर्ण अहिंसा की सिद्धि अपूर्ण मनुष्य के बस की बात नहीं और यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए यह निश्चय करने को स्वतन्त्र है कि वह किस सीमा तक अहिंसा का प्रयोग करेगा, तो प्रश्न उठता है कि अहिंसा और हिंसा की भेद-रेखा कहां खींची जाय? क्या डरपोक की अहिंसा भी हिंसा की अपेक्षा अधिक नीति-संगत है?

इन प्रश्नों का गांधीजी जो उत्तर देते हैं उसे बताने से पहिले इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि उनके अनुसार नैतिक दृष्टिकोण से अहिंसा तीन प्रकार की हो सकती है:—

इनमें से उच्चतम है समझ-बूझ कर साधनयुक्त व्यक्ति द्वारा स्वीकार की हुई वीरों की अहिंसा। इस अहिंसा को मनुष्य संकट में आवश्यकता से लाचार होकर नहीं, वरन् नैतिक विवेचना पर आधारित आन्तरिक विश्वास के कारण ग्रहण करता है। मनुष्य वीरता की अहिंसा को इसलिए नहीं स्वीकार करता कि उससे तात्कालिक मतलब बन जायगा, वरन् इसलिए कि वह विकास के उस स्तर पर पहुँच गया है जहाँ हिंसा असह्य है। यह अहिंसा केवल राजनैतिक नहीं होती, बल्कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यापक, जीवन का नियम-स्वरूप···होती है। यह बिना मानसिक अपवादों की अहिंसा है—ऐसी अहिंसा जो स्वार्थयुक्त हानि-लाभ के हिसाब-किताब पर निर्भर नहीं होती। ऐसी अहिंसा को ग्रहण करने वाला उसको छोड़ देने के स्थान में अपना सब-कुछ बलिदान करने को तैयार रहता है। इस प्रकार की अहिंसा पहाड़ को भी हटा देती है, जीवन से कायापलट कर देती है और अपनी अटल आस्था से किसी भी परिस्थिति में मुँह नहीं मोड़ती।

---

१. यं० इं०, भा० ३, पृ० ६४०।

२. ह०, ६–३–४०, पृ० ३१।

इससे नीचे के तल पर है कामचलाऊ, व्यावहारिक अहिंसा जो जीवन के किसी विशेष क्षेत्र में उचित नीति की तरह स्वीकार की गई हो। गांधीजी इसको दुर्बल की अहिंसा या निष्क्रिय प्रतिरोध (पैसिव रेज़िस्टेन्स) कहते हैं—दुर्बल की अहिंसा, क्योंकि इसमें हिंसा के त्याग का कारण, नैतिक विश्वास नहीं, दुर्बलता है। यदि इस प्रकार की अहिंसा का प्रयोग कायरता के आवरण की तरह नहीं, बल्कि ईमानदारी से और जब तक वह ग्राह्य है वास्तविक साहस के साथ होता है तो कुछ हद तक उसका परिणाम अच्छा ही होता है।[1] लेकिन वह इतनी कारगर नहीं होती जितनी कि पूर्ण जीवन में व्यापक वीरता की अहिंसा। दुर्बलता की अहिंसा का आधार है व्यावहारिकता, न कि छोटे-बड़े सब मनुष्यों की नैतिक और आध्यात्मिक समता और एकता में विश्वास। इसलिए जब आवश्यकता होती है तब दुर्बलता की अहिंसा हिंसा के प्रयोग की, अर्थात् मनुष्यों को केवलमात्र साधन समझ कर बर्ताव करने की भी आज्ञा दे सकती है।

पहिले प्रकार की अहिंसा का समूहों द्वारा विकास कठिन है; क्योंकि समूहों के लिए नैतिक विकास का वह ऊँचा तल, जो जीवन-नियम की तरह अहिंसा के प्रयोग के लिए आवश्यक है, कठिन है। भारतवर्ष में कांग्रेस की अहिंसा पहिले सत्याग्रह आन्दोलन के समय से ही व्यावहारिक प्रकार की रही है। गांधीजी ने समय-समय पर, विशेषकर सन् १९३९ के बाद, कांग्रेस को वीरता की अहिंसा के रास्ते पर ले चलने का भरसक प्रयत्न किया; किन्तु वह अपने प्रयास में सफल नहीं हुए।

आघात करने की क्षमता, इच्छा नहीं, अहिंसा की पूर्वमान्यता है। गांधीजी तो इसको स्वयंसिद्ध सिद्धान्त मानते हैं कि "मनुष्य मनुष्य की तुलना करने में अहिंसात्मक मनुष्य की अहिंसा की शक्ति उसकी हिंसा करने की शक्ति के—इच्छा के नहीं ठीक अनुपात में होगी।"[2] लेकिन इस क्षमता के पीछे जो वास्तविक शक्ति है उसका स्रोत शरीर-शक्ति नहीं, वरन् निर्भयता और अजेय इच्छा-शक्ति है।[3] इस प्रकार अहिंसा बलवान और वीर का गुण है और निर्भयता के बिना असम्भव है।[4]

१. यं० इ०, भा० १, पृ० २६५।
२. ह०, १२-१०-३५, पृ० २७६।
३. 'स्पीचेज़', पृ० ७६०; य० इ०, भा० १; पृ० २६०, 'हिन्द स्वराज्य', पृ० ६१।
४. यं० इं०, भा० २, पृ० १११३।

तीसरे प्रकार की अहिंसा, जिसको हम भ्रम से अहिंसा कहते हैं, कायर और नामर्द का निष्क्रिय प्रतिरोध है। वास्तव में वह कायरता का आवरण है। प्रेम और भय परस्पर विरोधी शब्द हैं। और इसलिए "कायरता और अहिंसा उसी प्रकार साथ-साथ नहीं रह सकते जिस प्रकार पानी और आग।"[1] कायरता मुसीबतों का सामना करने के बजाय उनसे भागती है और अस्वाभाविक, अमनुष्योचित और अपमानजनक है। कायर विपक्षी से घृणा करता है और उसको अधिक-से-अधिक हानि पहुँचाना चाहता है, लेकिन उसमें न मरने की शक्ति है, न मारने की। नामर्दी की घृणा ऐसी सूक्ष्म हिंसा है जिस पर क़ाबू पाना साधारण हिंसा की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन है। कायर न तो ईश्वर में विश्वास करता है, न अपने आप में, इसलिए कायरता सब प्रकार की शक्ति का अभाव है। वह बुरी से बुरी बुराई है। और वह असत्य का मार्ग है, क्योंकि वह सब से बड़े सत्य, मनुष्यों की आध्यात्मिक एकता और समानता, को भुला देती है। कायर में उच्चतम प्रेम के प्रदर्शन की क्षमता नहीं होती। उसका अहिंसा का ढोंग हिंसा का निष्क्रिय स्वरूप है और सत्य के प्रति अपराध है। हिंसक में मर्दानगी है, शक्ति है और साहस है। उसमें कुछ सच्चाई भी है, क्योंकि वह अपनी भावनाओं के प्रति सच्चा है। इसीलिए गांधीजी के शब्दों में, "हिंसक मनुष्य के किसी दिन अहिंसक हो जाने की आशा है, लेकिन कायर के लिए कोई आशा नहीं। इसलिए मैंने अनेक बार कहा है कि यदि हम अपने आपको, अपनी स्त्रियों को और अपने पूजा के स्थानों को कष्ट-सहन की शक्ति से, अर्थात अहिंसा से, बचाना नहीं जानते, तो हमको, यदि हम मनुष्य हैं, कम-से-कम लड़कर इनकी रक्षा के योग्य बनना होगा।"[2] इस प्रकार जब कायरता और हिंसा में चुनाव हो तो गांधीजी की राय हिंसा के पक्ष में है। उनके निकट बदला निष्क्रिय, नामर्दानगी और लाचारी के आत्मसमर्पण से कहीं अधिक अच्छा है। "यदि हमारे हृदय में हिंसा है तो नामर्दानगी पर अहिंसा का आवरण रखने की अपेक्षा हिंसा अधिक अच्छी है।"[3]

आत्म-बल होने के कारण अहिंसा हिंसा के भौतिक बल से असीम गुनी शक्ति-शालिनी है और हिंसा की अपेक्षा अहिंसा के लिए बहुत उच्च-कोटि के साहस की—बिना मारे मरने के साहस की—आवश्यकता है। जिस

१. ह०, ४-११-३६, पृ० ३३१।
२. य० इं०, भा० ३, पृ० २८२-८३।
३. ह०, २१-१०-३६, पृ० ३१०।

मनुष्य में यह उच्च-कोटि का साहस नहीं उसको भी गांधीजी अहिंसा के नाम पर निर्लज्जता के साथ ख़तरे से भागने की अपेक्षा मारने और मरने की राय देते हैं।

अहिंसा और हिंसा

संसार प्रायः भ्रम से हिंसा को वास्तविक शक्ति मान लेता है और उसे अन्याय, शोषण और दूसरी बुराइयों को दूर करने के लिए आवश्यक समझता है। कुछ अंश तक इसका कारण यह है कि स्वाभाविक होने के कारण अहिंसा की ओर ध्यान आकृष्ट नहीं होता; लेकिन साधारण क्रम मे बाधक होने के कारण हिंसा ध्यान आकृष्ट करती है। प्रेम के असर से करोड़ों कुटुम्बों के लड़ाई-झगड़े मिट जाते हैं, लेकिन इतिहास इसका उल्लेख नहीं करता। यदि दो भाइयों में हथियारों से या अदालती—गांधीजी के अनुसार अदालत मे भी एक प्रकार का हथियार या पशुबल ही है—लड़ाई हो तो उनका नाम अख़बारों में छपे, पास-पड़ोस वाले उन्हीं की चर्चा करें और शायद इतिहास में भी उनका उल्लेख हो जाय।[1]

इसके अतिरिक्त, अहिंसक मनुष्य का आश्रय होता है आत्मबल और उसके पास कोई दृश्य हथियार नहीं होते। उसकी बातें ही नहीं, उसके कार्य भी प्रभावहीन मालूम होते हैं। इसके प्रतिकूल हिंसा के दृश्य हथियार और स्पष्ट प्रभाव हैं। संसार आभास से धोखे मे आ जाता है और उसके ऊपर हिंसा का जादू है।

वास्तव में अहिंसा संसार में सब से अधिक क्रियात्मक शक्ति है, वह अपने आप कार्य कर सकती है और उसके प्रचार के लिए शारीरिक शक्ति की आवश्यकता नहीं। उसकी तुलना मे शारीरिक शक्ति कुछ भी नहीं। गांधीजी दोनों शक्तियों की कार्य-विधि की तुलना इन शब्दों मे करते हैं. "जो मनुष्य घातक हथियारों का प्रयोग करता है और जिनको अपना शत्रु समझता है उनके विनाश पर तुला हुआ है, उसे प्रति २४ घण्टे में कम-से-कम कुछ आराम की आवश्यकता होती है और थोड़ी देर के लिये हथियार रख देना पड़ता है...सत्य और अहिंसा के पुजारी के लिए यह बात नही और उसका यह सीधा सा कारण है कि वह बाह्य हथियार नहीं। उनका स्थान मनुष्य के हृदय में है और आप सोते हों या जागते हों, वह सक्रिय रूप से कार्य करते रहते हैं...अहिंसा और सत्य का योद्धा सदा और अनवरत रूप से सक्रिय रहता है।"[2]

---

१. हि० स्व०, पृ० १४२-४३।
२. यं० इं०, २१-१२-१६३१।

फिर, आत्म-शक्ति का प्रभाव विरोधी पर उसके अनजान में पड़ता है और ऐसा प्रभाव उस प्रभाव से कहीं अधिक होता है जिसके बारे में विरोधी सचेत होता है। गांधीजी के शब्दों में, "वह (अहिंसा) सीधी, अविरल, किंतु तीन-चौथाई अदृश्य और केवल एक-चौथाई दृश्य है। अपनी दृश्यता में वह व्यर्थ मालूम पड़ती है...लेकिन वह उग्र रूप से सक्रिय है और अपने अन्तिम परिणाम में अधिक-से-अधिक प्रभावोत्पादक है...हिंसक मनुष्य का कार्य, जब तक वह चलता रहता है, अधिक-से-अधिक दृश्य है, लेकिन वह सदा अस्थायी होता है...अहिंसा अधिक-से-अधिक अदृश्य और अधिक-से-अधिक प्रभावोत्पादक है।[1]"

प्रेम की शक्ति, जिसका विकास दुर्बल शरीर वाले के लिये भी सम्भव है, इतनी बलवती होती है कि वह बिना सहायता के पूरे हथियारबन्द संसार का विरोध कर सकती है। इसी शक्ति द्वारा कमज़ोर माता, भूल और अवज्ञा करने वाले मज़बूत शरीर वाले झगड़ालू पुत्र को सीधा कर लेती है। यह प्रेम-शक्ति प्रयोग में सार्वभौम है।[2] वास्तव में प्रेम जानवरों के साथ भी कारगर होता है। ऐसे मनुष्यों के उदाहरणों का उल्लेख मिलता है जिनका निर्भय प्रेम मनुष्यों तक ही मर्यादित न था और जो बिना किसी प्रकार की हानि उठाये मित्रों की भांति शेरों, सिंहों और सांपों के पास पहुँचते थे।

इस प्रकार अहिंसा मनुष्य के पास अधिकतम बलशाली शक्ति है—मनुष्य की चतुरता से विनिर्मित विनाशकता के अधिक-से-अधिक शक्तिशाली हथियार से भी अधिक शक्तिशाली।

अहिंसा में असफलता का उसी प्रकार गुंजाइश नहीं जिस प्रकार हिंसा में सफलता की; क्योंकि, "घृणा मारती है जबकि प्रेम जिलाता है... जो प्रेम से प्राप्त होता है, उसका लाभ सदा के लिये है। जो घृणा से प्राप्त होता है वह वास्तव में बोझ हो जाता है, क्योंकि वह घृणा को बढ़ाता है।" इसके अतिरिक्त, "सत्याग्रही के लिये कोई समय की सीमा नहीं, और न उसके कष्ट-सहन की क्षमता की सीमा है ..जिसे पराजय कहते हैं वह विजय की ऊषा हो सकती है। वह जन्म के पूर्व की पीड़ा हो सकती है।...क्रोधरहित और दुर्भावनारहित कष्ट-सहन के चढ़ते हुए सूर्य के सामने कठोरतम हृदय और गुरुतम अज्ञान अदृश्य हो जाते हैं।"[3] अहिंसा की कोई सीमा नहीं।

---

१. ह०, १०-३-३६, पृ० ४१-४२।

२. य० इं०, भा० २, पृ० ८६८।

३. य० इं०, भा० २, पृ० ८४६।

यदि एक विशेष मात्रा काफ़ी न मालूम हो तो मात्रा बढ़ा देना चाहिये। यह अचूक दवा है।

लेकिन अहिंसा आकाश-पुष्प या केवल संत-ऋषियों के ही व्यवहार की चीज़ नहीं। आत्म-शक्ति होने के कारण वह सब के लिए बराबर सहज है। बच्चे, युवा और वयस्क, स्त्रियां और पुरुष, व्यक्ति और समुदाय, सभी उसका प्रयोग कर सकते हैं। अहिंसा मानव-जाति का नियम है, इसलिए जनता भी—बिना अहिंसा के अर्थ के पूरे ज्ञान के—उसका प्रयोग कर सकती है। जैसा कि गांधीजी ने सन् १९४० मे मालिकान्दा मे 'गांधी सेवा संघ' के वार्षिक सम्मेलन के अवसर पर कहा था, "अहिंसा सब के लिये, सब जगहों के लिये, हर समय के लिये है।" उनकी राय है कि व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में और सभी व्यवहारों में अहिंसा की अभिव्यक्ति हो सकती है और होना चाहिए।

सत्य और अहिंसा नए आदर्श नहीं हैं। वह जीवन के शाश्वत नियम हैं और हज़ारों वर्षों से संसार के प्रमुख विचारक और धर्म संस्थापक उनकी शिक्षा देते रहे हैं; लेकिन इन आदर्शों में गांधीजी के पहिले आज की सी सक्रियता और गतिशीलता, अर्थ की परिपूर्णता और प्रयोग की व्यापकता न थी। यह आदर्श या तो केवल सन्त-महात्माओं के प्रयोग के लिए थे या दुर्बलों और कायरों की कमज़ोरी के आवरण-रूप। यह मान लिया गया था कि वह ठीक आदर्श हैं; लेकिन यह भी विश्वास था कि अपूर्णता, दुर्बलता और अन्याय के इस संसार में वह वस्तुतः अव्यवहार्य हैं। साधारण तरह से यह कहा जाता था कि उद्योग-धन्धों में और व्यवसाय में और इनसे भी अधिक न्यायालयों में और राजनीति में बिना धोखाधड़ी के सत्य नहीं चल सकता। इसी प्रकार गौतमबुद्ध और ईसा की धर्म-शिक्षा के बाद भी अहिंसा प्रायः सब प्रकार के झगड़ों के निपटाने का, समाज के संगठन का और वैयक्तिक और सामूहिक सम्बन्धों की सुव्यवस्था का पर्याप्त साधन नहीं माना जाता था। गांधीजी से पहिले अहिंसा का प्रयोग अधिकतर धार्मिक मनुष्यों और छोटे-छोटे समूहों तक सीमित था और व्यापक प्रयोजनों के लिए न होता था।

गांधीजी ने इन बुनियादी नियमों की आधुनिक जीवन की पृष्ठभूमि में नवव्याख्या की है। संसार के इतिहास में सब से पहिले उन्होंने अहिंसा का प्रयोग इतने व्यापक पैमाने पर व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन के सब प्रकार के प्रश्नों को हल करने के लिए किया है। इस व्यापक प्रयोग के लिये उन्होंने उपयुक्त संस्थाएं गढ़ी हैं और विशेषज्ञों को तैयार किया है। उन्होंने अपने

१. ह०, २०-८-३८, पृ० २२६।

प्रयोगों द्वारा शिक्षा दी है और प्रदर्शित किया है कि यह आदर्श समग्र मानव-जाति के व्यवहार के लिए—सब जगहों के लिए, हर समय के लिए, जीवन की प्रत्येक परिस्थिति के लिए—हैं। संशयवादी संसार को उन्होंने दिखाया है कि सत्य और अहिंसा मनुष्य के हाथ में सर्वश्रेष्ठ अमोघ हथियार हैं। इस प्रकार उन्होंने इन आदर्शों के अर्थ को व्यापक और विशद बनाया है, उनको नए जीवन की स्फूर्ति दी है और गत्यात्मक बनाया है।

: ४ :

नैतिक सिद्धान्त (चालू)

सत्याग्रही नेता का अनुशासन

ब्रह्मचर्य

सत्य साध्य है और अहिंसा साधन है।

अहिंसा स्वार्थ-रहित, कष्ट-सहन करने वाला प्रेम है जो शरीर और मन की शुद्धि के बिना असम्भव है। इसलिये सत्याग्रही के लिये यह आवश्यक है कि वह अहिंसा के प्रयोग की क्षमता के विकास के लिये आत्मशुद्धि के आधारभूत नैतिक अनुशासन को स्वीकार करे। जिन व्रतों को गांधीजी अहिंसा के विकास के लिये आवश्यक मानते हैं उनमे ब्रह्मचर्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। वह इस व्रत को इतना ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं जितना सत्य को और उनका विश्वास है कि सत्याग्रही नेता को ब्रह्मचर्य का पालन करने का प्रयत्न करना चाहिए और इस व्रत को, व्यावहारिक प्रयोजन के लिये, सिद्ध ही कर लेना चाहिए।[1]

सार्वजनिक और चालू बोली मे ब्रह्मचर्य का अर्थ है कामलिप्सा का संयम या जननेन्द्रिय-विकार का निरोध। लेकिन गांधीजी इस अर्थ को अधूरा, खोटा और संकुचित समझते हैं। वह ब्रह्मचर्य का बहुत विस्तृत अर्थ करते हैं। उनके अनुसार ब्रह्मचर्य ईश्वर या ब्रह्म का नियम है जिसका पालन करके हम ईश्वर को पा सकते हैं। ब्रह्मचर्य का मूल अर्थ है ब्रह्म के सत्य के—शोधसम्बन्धी आचार अर्थात् सर्वेन्द्रियसंयम। "ब्रह्मचर्य का ठीक और पूरा अर्थ है ब्रह्म की खोज।...सारी इन्द्रियों के पूर्ण संयम बिना साक्षात्कार असंभव है। इसलिए ब्रह्मचर्य का अभिप्राय है मन, वचन और कर्म से हर समय और हर स्थान मे, सम्पूर्ण इन्द्रियों का संयम।" इस प्रकार अपवित्र विचार या क्रोध भी ब्रह्मचर्य की अवहेलना है। "जब तक अपने विचारों पर इतना क़ब्ज़ा न हो जाय कि अपनी इच्छा के बिना एक भी विचार न आने पावे तब तक वह सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं।" गांधीजी का मत है कि विस्तृत अर्थ

---

१. ह०, २३-७-३८, पृ० १६२, 'सर्वोदय', अक्तूबर १६३८, पृ० ३५ गांधीजी का पत्र।

को भुलाकर संकुचित अर्थ में ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन का प्रयत्न निष्फल है... और इन्द्रियों को इधर-उधर भटकने देकर जननेन्द्रिय–निरोध का प्रयत्न सदा असफल होगा। इसलिए जो संकुचित अर्थ में ब्रह्मचर्य पालन का प्रयत्न करे उसे पहिले से ही प्रत्येक इन्द्रिय को उसके विकार से रोकने का निश्चय कर लेना चाहिए।[1]

सच पूछिए तो ब्रह्मचर्य के व्रत के अनुसार विवाह की गुञ्जाइश नहीं, क्योंकि विवाह आत्म-दर्शन के लिये आवश्यक नहीं। "विवाह उसी प्रकार (उच्चतम आध्यात्मिक स्थिति से) पतन है जिस प्रकार जन्म।"[2]

गांधीजी जानते हैं कि पूर्ण ब्रह्मचर्य आदर्श स्थिति है और अपूर्ण मनुष्य इस व्रत को पूरी तरह सिद्ध नहीं कर सकता। मगर तब भी हमें चाहिए कि हम उसी प्रकार ठीक आदर्श अपने सामने रखें और उस तक पहुँचने की शक्ति भर चेष्टा करें जिस प्रकार जब बच्चों को बारहखड़ी लिखना सिखाया जाता है तो उन्हें अक्षर का अच्छे-से-अच्छा नमूना दिखाया जाता है और वे यथाशक्ति उसकी हूबहू नकल करने की चेष्टा करते हैं।[3] लेकिन गांधीजी व्यावहारिक आदर्शवादी हैं और वह एक ओर आत्मसंयम और प्रवृत्तियों को ऊर्ध्वगामी बनाने के प्रयत्न के और दूसरी ओर केवल ज़बरदस्ती इन्द्रियों को दबाने के बीच सीमारेखा खींचते हैं; और यद्यपि वह आदर्श को नीचा नहीं करते, वह भिन्न-भिन्न नैतिक तलों के व्यक्तियों के लिये क्रम से बढ़ता हुआ आत्मसंयम ठीक समझते हैं। उदाहरण के लिये, यदि संतान की इच्छा है या स्त्री पुरुष में घनिष्ट मित्रता और पवित्र साहचर्य का प्रयोजन है— और गांधीजी इन इच्छाओं को प्राकृतिक मानते हैं - तो विवाह आवश्यक है;[4] किन्तु यदि आवश्यक हो भी तो यथासंभव विवाह देर से किया जाय और विवाह अनुशासन का और ऊर्ध्वगामी बनने की प्रक्रिया का, न कि काम-लिप्सा का, साधन होना चाहिए। वैवाहिक स्थिति का मूलभूत नियम यह है कि स्त्री-पुरुष-संयोग केवल तभी न्यायोचित है जब उसका एकमात्र हेतु हो संतानोत्पत्ति। बिना प्रजोत्पादन के हेतु के विषयेच्छा निम्न-कोटि का भ्रष्टाचार है, परमेश्वर और मानवता के प्रति पाप है, और इसलिए वह ठीक ही निन्द्य माना गया है।[4] मर्यादित रूप में (केवल प्रजनन के लिये) विषय-

---

१. देखिए 'आत्म-शुद्धि', अ० ३, 'ब्रह्मचर्य पर म० गांधी के अनुभव', 'अनीति की राह पर', 'आत्मकथा', भा० ३, अ० ७—८।

२. स्पीचेज़, पृ० ८२६।

३. 'ब्रह्मचर्य पर म० गांधी के विचार', पृ० २८।

४. ह० २३-७-३८, पृ० १६२।

संयोग सुन्दर और श्रेष्ठ वस्तु है, इसमें शर्म की कोई बात नहीं है।[1] गांधीजी हिन्दू स्मृतियों के इस मत का समर्थन करते हैं कि उन विवाहित लोगों को, जो इस मूलभूत नियम के अनुसार आचरण करते हैं, ब्रह्मचारी मानना चाहिए।[2] वह इसे वैवाहिक ब्रह्मचर्य का आदर्श कहते हैं और मनुस्मृति की तरह एक बच्चे को धर्मज और दूसरों को कामज समझते हैं।

वह युवा स्त्री-पुरुषों की कठिनाइयों और दुर्बलताओं को जानते हैं और पाखंड और केवलमात्र बाह्य दमन के विरुद्ध हमें चेतावनी देते हैं। सन् १९३७ ई० में दो विवाहित दम्पतियों को आशीर्वाद देते हुए उन्होंने कहा था, "पाखंडी मत बनो। जो तुम्हारे लिये असंभव हो उसे सिद्ध करने के निष्फल प्रयत्न में अपने स्वास्थ्य को मत खो बैठो। मैंने तुम्हारे सामने ठीक आदर्श, समकोण रक्खा है। जहां तक हो सके उस समकोण तक पहुँचने की चेष्टा करो।"[3] वह लिखते हैं, "जब किसी को यह ज्ञात हो कि वह अपने दैनिक विचारों में अपनी इच्छा के प्रतिकूल भी वैवाहिक जीवन व्यतीत कर रहा है, तब विवाह ही अधिकतम प्राकृतिक और वांछनीय स्थिति है।"[4] उनका विश्वास है कि "मन को विकारपूर्ण रहने देकर शरीर को दबाने की कोशिश करना हानिकर है।"[5] वह इस बात पर ज़ोर देते हैं कि ब्रह्मचर्य केवल शारीरिक नहीं, मानसिक स्थिति है। उन विवाहित स्त्री-पुरुषों के लिये, जो संतान नहीं चाहते, काम-लिप्सा को जीतना चाहते हैं, लेकिन ऐसा करने में असफल हैं, गांधीजी 'सुरक्षित-काल' के तरीक़े को अनुचित नहीं बताते, क्योंकि उसमें आत्म-संयम का एक तत्त्व है।[6]

१. ह०, २८-३-३६, पृ० ५६ और २५-४-३६, पृ० ८४।
२. ह०, १४-३-३६, पृ० ३६।
३. ह०, २४-४-३७, पृ० ८२।
४. यं० इ०, भा० २, पृ० १२३४।
५. 'आत्म-शुद्धि', पृ० १३।
६. देखिए गांधीजी और श्रीमती मार्गरेट सैंगर की बातचीत, श्री महादेव देसाई लिखित विवरण, ह० २५-१-३६, पृ० ३६३—८। प्रजोत्पत्ति की रोकथाम के पक्ष में होते हुए भी गांधीजी आधुनिक कृत्रिम निग्रहों के विरोधी हैं और आत्मसंयम के जीवन को ठीक साधन मानते हैं। कृत्रिम उपाय मनुष्य को उसके कर्म के फल से बचाने का प्रयत्न करते हैं और निःसत्वकारी, कामोत्तेजनावर्द्धक, उच्छृङ्खलताजनक हैं और नैतिक और शारीरिक सर्वनाश का निश्चित साधन है।

गांधीजी ने अपने लेखों में इस बात के कारण बताए हैं कि क्यों सत्याग्रही नेता को ब्रह्मचर्य या वैवाहिक ब्रह्मचर्य के आदर्श को व्यावहारिक प्रयोजनों के लिये सिद्ध कर लेना चाहिए। यदि नेता लगभग पूर्ण ब्रह्मचारी है तो व्यावहारिक दृष्टिकोण से उसके लिये कुछ भी असंभव न होगा। यदि जनन-शक्ति का दुरुपयोग करने के बजाय उसकी रक्षा होती है, तो वह उच्चतम् सृजनात्मक शक्ति में परिणत हो जाती है। कामवासना पर अनुशासन व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति बढ़ाता है। पूर्ण ब्रह्मचर्य का अर्थ है विचारों पर पूर्ण नियंत्रण। विचार ही हमारे वचन और कर्म की जड़ है। हमारे वचन और कर्म उसी नैतिक तल पर होते है जिस पर हमारा विचार। "इसलिए पूर्णरूप से नियंत्रित विचार सर्वश्रेष्ठ शक्ति है और वह स्वयं (बिना किसी बाह्य सहायता के) कार्य कर सकता है।"[१] "विचार-नियंत्रण का अर्थ है कम-से-कम शक्ति द्वारा अधिक-से-अधिक कार्य।"[२] इसके अतिरिक्त सत्य और अहिंसा की सिद्धि—जिसका अर्थ है मनुष्य-जाति की सेवा द्वारा सार्वभौम प्रेम की सिद्धि—केवलमात्र ब्रह्मचारी के लिये संभव है। मनुष्य-जीवन का ध्येय या तो आत्म-सुख हो सकता है या विषय-वासनामय शरीर की कामनापूर्ति। वासनामय जीवन शरीर के बंधन को दृढ़ करता है और आत्म-संयम, स्वार्थराहित्य और अनासक्ति का—जिनके बिना मनुष्य सत्याग्रही नहीं हो सकता—विरोधी है। ब्रह्मचर्य या वैवाहिक ब्रह्मचर्य सार्वजनिक सेवा में लगे हुए सत्याग्रही को निजी कुटुम्ब के झंझटों से बचाता है।[3]

१. ह०, २३-७-३८, पृ० १९२

२. ह०, १०-६-३६, पृ० १६०।

श्री रामकृष्ण परमहंस के अनुसार यदि कोई मनुष्य १२ वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचारी रहे तो उसे श्रेष्ठ शक्ति प्राप्त होती है। उसके अन्दर एक नवीन ज्ञान-नाड़ी का विकास होता है, वह सब कुछ याद रख सकता है और सब कुछ जान सकता है। देखिए रोमा रोलां कृत 'लाइफ आफ रामकृष्ण', पृ० १७७। इसी पुस्तक में रोमा रोलां का कहना है कि सभी महान् रहस्यवादियों और अधिकतर अध्यात्मवादियों का स्पष्ट अनुभव है कि विषयवासना के शारीरिक और मानसिक त्याग से उच्चकोटि की आध्यात्मिक शक्ति और संचित सृजनात्मक शक्ति प्राप्त होती है।

३. 'आत्म-शुद्धि', पृ० ११।

बाइबिल का निम्न उद्धरण गांधीजी के मत से मिलता-जुलता है:—

"वह जो अविवाहित है ईश्वरीय बातों की और ईश्वर को प्रसन्न करने की

गांधीजी के अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा ब्रह्मचर्य सम्बन्धी उनके सिद्धान्तों के बारे मे बहुत अधिक गलतफ़हमी और आलोचना हुई है। उनके मित्रों और आलोचकों ने कहा है कि आधुनिक मनोविज्ञान और चिकित्साशास्त्र के अनुसन्धानों के विरुद्ध गांधीजी प्रवृत्तियों के ज़बरदस्ती दबाने पर ज़ोर देते है; संन्यास और त्याग के जीवन में विश्वास के कारण उनके ब्रह्मचर्य सम्बन्धी विचार वास्तविकता से दूर जा पड़े हैं; विषयेच्छा केवलमात्र शारीरिक कार्य न होकर जीवन-प्रजनन या जीवन-विस्तार का साधन है; और यदि सब बातों को ध्यान मे रखें तो उनका यह सिद्धांत दुर्बल है।[1]

लेकिन गांधीजी पर बलपूर्वक प्रवृत्तियों को दबाने का दोषारोपण अनुचित है। उनके लेखों मे ऐसे वाक्यों की बहुलायत है जो यह सिद्ध करते हैं कि गांधीजी आधुनिक मनोविज्ञान और चिकित्सा-शास्त्र की इस शिक्षा के प्रति उदासीन नहीं हैं कि कार्य करने की प्रवृत्तियों को केवल दबाना संकटमय और रोगकारी है। इसी अध्याय मे ऊपर दिये गए तीन उद्धरण इस बात का प्रमाण हैं।[2] विस्तार के भय से अधिक उद्धरण देना अनावश्यक है।

जैसा कि ऊपर सत्य के सम्बन्ध में गांधीजी के विचारों की विवेचना करने में बताया गया है, वह उन लोगों मे जो स्वतन्त्र रीति से, स्वयं अपने ही प्रयास से, सत्य का निर्धारण करते हैं और उनमें जो दूसरों द्वारा विकसित सत्य को स्वीकार करते हैं और उसपर आचरण करते हैं—नैतिक पूर्णता के लिए क्रियात्मक साधना करने वाले नेताओं और साधारण स्थिति के अनुगामियों में—फर्क करते हैं। सत्याग्रही नेताओं से ही व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए ब्रह्मचर्य के आदर्श की सिद्धि की गांधीजी की मांग है।

चिन्ता करता है; किन्तु वह जो विवाहित है, सांसारिक बातों की और अपनी स्त्री को प्रसन्न करने की चिन्ता करता है।" 'कोरिंथियन्स', ७।३२-३३।

१. राधाकृष्णन्, 'महात्मा गांधी, पृ० १८, ४८, १०५, १६१;
'आर्यन पाथ', सितम्बर १६३८, पृ० ४५२;
सी० एफ० एन्ड्रयूज़, 'महात्मा गाधीज़ आइडियाज़', पृ० १०१;
'स्पीचेज़', श्री एन्ड्रयूज़ की प्रस्तावना,
'इण्डियन रिव्यू', जुलाई १६३८, स्प्रेट का 'गांधीजी ऐज़ ए साइकालोजिस्ट' शीर्षक लेख।

२. देखिए पृ० ७६।

जहाँ तक साधारण मनुष्यों का सम्बन्ध है, गांधीजी उनके सामने भी ठीक आदर्श रखते हैं, लेकिन वह चाहते हैं कि साधारण मनुष्य यथाशक्ति उस आदर्श तक पहुँचने का प्रयास करें। उनके लिए गांधीजी 'सुरक्षित-काल' के तरीक़े की भी अनुमति देते हैं। लेकिन प्रजनन के हेतु के बिना विषयेच्छा को वह संयमहीनता समझते हैं और उसके विरुद्ध एक ज़ोरदार दलील रखते हैं। वह कहते हैं, "किसी आदर्श के व्यवहार की कोई सीमा नहीं हो सकती। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति इस बात को मानेगा कि अमर्यादित विषयेच्छा का एकमात्र परिणाम व्यक्ति और मनुष्य-जाति का निश्चित विनाश ही हो सकता है।"[1]

लेकिन गांधीजी ब्रह्मचर्य को असम्भव आदर्श नहीं मानते। वह आत्मा की विकास क्षमता को सीमाबद्ध करने से इन्कार करते हैं। उनका विश्वास है कि सब की आत्मा एक है और सफल आत्म-नियन्त्रण...एक भी उदाहरण... का स्पष्ट विश्वसनीय प्रमाण निश्चयात्मक है। उदाहरण के लिए यदि ब्रह्मचर्य गांधीजी के लिए सम्भव है तो किसी भी मनुष्य के लिए, जो आवश्यक प्रयत्न करता है, सम्भव है।[2] उनका कहना है कि सभी देशों के कुछ महान व्यक्तियों ने इस उच्च आदर्श पर आचरण किया है।

आधुनिक मनोविज्ञान का भी यही निष्कर्ष है कि मानुषी प्रवृत्तियों में बड़े हेर-फेर हुए हैं, उनमें ऊद्‌र्ध्वगामी होने की बेहद क्षमता है और इसी क्षमता का उपयोग व्यक्तिगत और सामाजिक प्रगति का मार्ग है। यह निष्कर्ष गांधीजी के मत का पोषक है। स्वर्गीय डा० जे० डी० अनविन के अनुसन्धानों का भी निष्कर्ष है कि समाज का सांस्कृतिक विकास ठीक उसी अनुपात से होता है जिसमें वह विवाह के पहिले और बाद में विषयेच्छा के अवसरों को मर्यादित करता है।[3] लेकिन जैसा कि आल्डुस हक्सले का कहना है, दबाव पर आधारित विषयेच्छा-नियंत्रण के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न सामाजिक शक्ति से सांस्कृतिक विकास की आशा की जा सकती है, पर यह आवश्यक नहीं कि उससे नैतिक विकास भी हो।[4] लेकिन गांधीजी का आदर्श केवल यंत्रवत विषयेच्छा-नियंत्रण की अपेक्षा कहीं अधिक उच्च है और इसलिए हक्सले की आलोचना उसको लागू नहीं हो सकती।

---

१. ह०, २०-३-३७, पृ० ४४।
२. ह०, ३०-५-३८, पृ० १२५।
३. जे० डी० अनविन, 'सेक्स ऐण्ड कल्चर'।
४. हक्सले, 'एन्ड्स ऐण्ड मीन्स', पृ० ३१८।

आज जब अनवरत वासना-पूर्ति का जीवन आत्म-दर्शन और आत्माभिव्यक्ति के साथ समीकृत किया जाता है, जब स्वतन्त्र प्रेम, आज़माइशी विवाह और सुगम तलाक़ का फैशन है, संसार को गांधीजी के से नेताओं की आवश्यकता है जो हमें समझा सकें कि विषयेच्छा मनुष्य की एकमात्र वास्तविकता नहीं है और पाशवी इच्छाओं के नियंत्रण और पुनर्शिक्षण के बिना आत्मानुभूति असम्भव है।

अस्वाद

ब्रह्मचर्य के साधनों में से गांधीजी ने अस्वाद को स्वतन्त्र व्रत का स्थान दिया है।[1] इस व्रत का अर्थ है कि हमारा खाना सादा होना चाहिए और हमको रस के लिए नहीं, शरीर को क़ायम रखने के लिए ही भोजन करना चाहिए।[2] स्वाद-वृत्ति से छुटकारा पाने के लिए गांधीजी उपवास और भोजन-सम्बन्धी प्रतिबन्ध की, विशेषकर वासनोत्तेजक भोजन से बचने की, सिफारिश करते हैं। लेकिन यह अनुशासन तभी उपयोगी होता है जब मन भी देह-दमन में साथ देता है अर्थात् जब मन में विषय-भोग के प्रति वैराग्य हो जाता है।[3] गांधीजी का मत है कि प्रार्थना के रूप में निरन्तर प्रयास भी आवश्यक है, क्योंकि पूर्णता और भूलों से मुक्ति केवल ईश्वर की कृपा से ही प्राप्त होती है।

अभय

सत्य और अहिंसा के विकास के लिए अभय आवश्यक है।[4] असत्य और हिंसा की जड़ भय ही है। भय ही कायरता का स्रोत है। गांधीजी के

---

१. ब्रह्मचर्य के अन्य मुख्य साधन हैं—ब्रह्मचर्य की आवश्यकता का अनुभव, पवित्र साथी और पवित्र पुस्तकें रखना, प्रार्थना और सत्य, अहिंसा आदि १० व्रत।

२. 'आत्मकथा', भा० ४, अ० २७।

३. वही, भा० ३, अ० ८।

४. आधुनिक चिकित्साशास्त्र, जीवशास्त्र, शरीरशास्त्र और मनोविज्ञान के अनुसन्धानों के परिणामस्वरूप इस बात का पर्याप्त प्रमाण प्राप्त है कि विभाजक भावनाएं, जिनमें से मुख्य क्रोध और डर हैं, सामाजिक विकास के कारण अब अनावश्यक और हानिकर हो गई हैं। प्राचीन काल में वह मनुष्यजाति की जीवनरक्षा में सहायक थीं, क्योंकि वह खतरे के वक्त शरीर को उत्तेजित कर देती थीं। उस उत्तेजित अवस्था में मनुष्य, यदि खतरेका कारण बलवान हुआ तो भाग कर और यदि कमज़ोर हुआ तो उस पर हमला करके अपनी रक्षा करता था। सामाजिक विकास के कारण

शब्दों में "सम्भवतः कायरता बड़ी-से-बड़ी हिंसा है। वह निश्चय ही खूरेज़ी और ऐसी ही दूसरी बातों की अपेक्षा जिन्हें हिंसा का नाम दिया जाता है, अधिक बड़ी (हिंसा) है; क्योंकि वह ईश्वर में श्रद्धा की कमी और उसके गुणों के अज्ञान से उत्पन्न होती है।"[1] सत्य और अहिंसा का विकास केवल बलवान ही कर सकते हैं, लेकिन बल निर्भयता में है, शरीर के मांस बढ़ जाने में नहीं।[2] निरंकुश शासन आतंक के आधार पर ही पनपता है। गांधीजी निर्भयता पर बहुत ज़ोर देते हैं, उसे आत्म शुद्धि का लक्षण मानते हैं और स्वराज्य की भय-त्याग के शब्दों में परिभाषा करते हैं।[3]

गांधीजी की हलचलों का एक उद्देश्य यह रहा है कि वह अपने देश-वासियों के आत्म-विश्वास को दृढ़ करें और उनकी डर और अधीनता की भावना को दूर कर दें। निस्संदेह वह भारतवासियों को निर्भयता के गुण का विकास करने और उसको व्यवहार में लाने की शिक्षा देने में बहुत कुछ सफल हुए हैं। वाईकाउंट सैमुअल लिखते हैं, "उन्होंने हिन्दोस्तानी को अपनी पीठ सीधी करने, अपनी आंखें उठाने और परिस्थिति का निश्चल दृष्टि से सामना करने की शिक्षा दी।"[4] गांधीजी अभय का अर्थ इन शब्दों में करते हैं:—"समस्त बाह्य भयों से मुक्ति—मौत का भय, धन माल लुटने का भय, कुटुम्ब-परिवार सम्बन्धी भय, रोग का भय, आहार का भय, आबरू-इज़्ज़त का भय, किसीको बुरा लगने का भय- यों भय की वंशावली जितना बढ़ावें बढ़ाई जा सकती है।"[5] लेकिन निर्भयता आवे कैसे? "भयमात्र देह

आज खतरे का रूप बदल गया है, और भागकर या हमला करके या दूसरी शारीरिक क्रियाओं से उनसे रक्षा नहीं हो सकती। रक्षा के लिए जटिल मानसिक और नैतिक क्रियाओं की आवश्यकता होती है। विभाजक भावनाओं द्वारा उत्पन्न उत्तेजना, जो पहले शारीरिक क्रियाओं द्वारा दूर हो जाती थी, अब इन क्रियाओं के रक्षा के लिए अनावश्यक हो जाने के कारण तेजाबियत पैदा कर देती है और स्वास्थ्य के लिए हानिकर और रोगोत्पादक है। देखिये, आर० बी० ग्रेग, 'दी पावर आव नानवायोलेंस' अ० ४ और ११; डब्ल्यू० बी० कैनन 'बाडीली चेंजेज़ इन पेन, हंगर, फियर एण्ड रेज'।

१. यं० इं०, भा० ३, पृ० ६७६।
२. 'हिन्द स्वराज्य', पृ० ६१।
३. 'स्पीचेज़', पृ० ८२४, य० इ०, ७-१-३२।
४. राधाकृष्णन्, 'महात्मा गांधी', पृ० २६५।
५. 'आत्मशुद्धि', पृ० ३३।

के कारण हैं, देह-सम्बन्धी रोग—आसक्ति दूर हो तो अभय सहज ही प्राप्त हो।"[1] अनासक्ति के विकास के लिए हमको अपनी वासनाओं को, उन आंतरिक शत्रुओं को, जीतना होगा जिनसे सबको डरना चाहिए। गांधीजी का मत है कि आत्मसंयम द्वारा हमको मानसिक समता प्राप्त करना चाहिए। उस स्थित-प्रज्ञ के लिए, जिसने अपने आपको जीत लिया है, बाह्य भय अपने आप छूट जाते हैं, लेकिन इस दशा की सिद्धि उसीके लिए सम्भव है, जिसको शरीर का अतिक्रमण करने वाली आत्मा की झलक दिखाई दे। ऐसे व्यक्ति में ऊँचे से-ऊँचे बलिदान की क्षमता होती है। इसीलिए गांधीजी का विश्वास है कि, "सचमुच वह महान राष्ट्र है जहांके लोग मौत के तकिये पर अपना सिर टेकते हैं। जिसने मौत का डर तोड़ दिया है उसे फिर कोई डर नहीं रहता है।"[2] गांधीजी प्रार्थना की ओर बिना हिचकिचाहट के अन्तरात्मा की आज्ञा मानने की आवश्यकता पर जोर देते हैं। अंतरात्मा की आवाज़ ईश्वर की इच्छा है, और प्रत्येक विचार और कार्य का अन्तिम विचारक है।[3] दृढ़ निश्चय, सतत प्रयत्न और आत्म-विश्वास का विकास भी आवश्यक है।[4]

अस्तेय

सत्य और अहिंसा में अस्तेय और अपरिग्रह, जो अस्तेय का निष्कर्ष है, का भी समावेश है। अस्तेय, अपरिग्रह, शारीरिक श्रम और स्वदेशी यही व्रत गांधीजी के तत्त्वदर्शन के आर्थिक पहलू को निर्धारित करते हैं।

प्रकट है कि सत्य और सार्वभौम प्रेम के साधक को चोरी नहीं करना चाहिए। लेकिन गांधीजी अस्तेय का प्रयोग साधारण चालू अर्थ की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत अर्थ में करते हैं। दूसरे की वस्तु का उसकी अनुमति के

१. 'आत्मशुद्धि', पृ० ३४।
२. 'हिंद स्वराज्य', पृ० १५५।
३. य० इं०, १-७-३२, 'एथिकल रेलिजन', पृ० ४१।
४. 'आत्म-शुद्धि', पृ० ३४१। आर० बी० ग्रेग निर्भयता के विकास के लिए इन साधनों के उपयोग का परामर्श देते हैं:—प्रतिदिन मनुष्य-जाति की एकता और शाश्वत आदर्शों के बारे में नियमित रूप से ध्यान; बच्चों को निर्भयता की उचित शिक्षा, घोड़े पर चढ़ने, नाव चलाने आदि ऐसे खेलों की शिक्षा जिनमें खतरों का चतुरतापूर्ण क्रियाओं में सामना करने की मनोवृत्ति का विकास होता है और इस प्रकार बहुत कुछ डर वैज्ञानिक दिलचस्पी में बदल जाता है। देखिए ग्रेग, 'दि पावर आव नानवायोलेन्स', पृ० २६०-६२।

बिना लेना, या किसी वस्तु को इस विश्वास से अपने पास रख लेना कि वह किसीकी भी नहीं है—चोरी के यह केवलमात्र दृष्टान्त नहीं। किसी भी वस्तु को, जिसकी हमको आवश्यकता नहीं है, लेना; पिता का अपने बालकों के जाने बिना उन्हें मालूम न होने देने की इच्छा से चुपचाप किसी चीज़ का खाना, आवश्यकताओं को उचित से अधिक बढ़ाना; किसीकी चीज़ को देख कर ललचाना, भविष्य में किसी वस्तु को प्राप्त करने के बारे में चिंतित होना; विचारों की चोरी—ये सब अस्तेय के व्रत के विरुद्ध मानसिक या शारीरिक अपराधों के दृष्टान्त हैं।[1]

अपरिग्रह

अपरिग्रह अस्तेय के अर्थ का उन वस्तुओं के अधिकार में रखने तक विस्तार है जिनकी हमको निकट वर्तमान में आवश्यकता नहीं है। पूर्ण अपरिग्रह पूर्ण प्रेम का परिणाम है, और इसका अर्थ है पूर्ण त्याग। उसके अनुसार न तो मनुष्य के मकान होने चाहिए और न कल के लिए खाने और कपड़े का संग्रह। मनुष्य को अपने नित्य के खाने के लिए ईश्वर के सहारे रहना चाहिए। शरीर भी एक प्रकार की सम्पत्ति है और मनुष्य को चाहिए कि जब तक शरीर रहे वह उसका उपयोग सेवा के लिए करना सीखे। इस प्रकार रोटी नहीं, सेवा ही उसकी सच्ची खूराक बन जाना चाहिए।[2] विचारों के सम्बन्ध में अपरिग्रह का अर्थ है कि तथाकथित ज्ञान, जो हमें आंतरिक जीवन के मूल्यों से और मनुष्य-जाति की सेवा से हटाता है, सीधा-सादा अज्ञान है, और हमको उससे बचना चाहिए।[3] इस प्रकार अपरिग्रह का अर्थ है जड़ पदार्थों पर आश्रित न होना। उसका यह भी निष्कर्ष है कि किसी भी प्रकार की निजी संपत्ति न होनी चाहिए। निजी संपत्ति को हटाने के बारे में गांधीजी के विचार कम्यूनिस्टों से भी आगे बढ़े हुए हैं।

लेकिन पूर्ण अपरिग्रह एक काल्पनिक धारणा है और कोई उसके अनुसार पूरी तरह व्यवहार नहीं कर सकता। गांधीजी के शब्दों में, "आरंभ में किसी चीज़ पर अधिकार न रखना अपने शरीर पर से अपने कपड़े उतार देने की तरह नहीं; बल्कि अपनी हड्डियों पर से अपना मांस उतार देने की तरह है।"[4] "लेकिन यदि हम इस (व्रत की सिद्धि) के लिए प्रयत्नशील

१. 'आत्मशुद्धि', पृ० ३३-३५।
२. वही, पृ० २६-३०।
३. वही, पृ० ३०-३१।
४. राधाकृष्णन, 'महात्मा गांधी', पृ० ५६।

हों तो हम संसार में समता की दशा की स्थापना में किसी भी दूसरी पद्धति की अपेक्षा अधिक सफल हो सकते है"।[1]

गांधीजी यह मानते हैं कि सत्याग्रही की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिये शारीरिक और सांस्कृतिक सहूलियतों की एक हद तक आवश्यकता है। लेकिन इन आवश्यकताओं की पूर्त्ति एक तल से ऊपर न जाना चाहिए; क्योंकि यदि ऐसा न होगा और सत्याग्रही की आवश्यकताओं की वृद्धि होती रहेगी, तो उसकी वासना-प्रियता बढ़ेगी, उसके आध्यात्मिक विकास में रुकावटें पड़ेंगी, उसका शारीरिक और मानसिक अधःपतन होगा और वह मनुष्य-जातिकी सेवा के उच्च ध्येय से दूर होता जायगा।[2]

१. 'माडर्न रिव्यू' (अक्तूबर १९३५) में एन० के० बसु का लेख, 'ऐन इंटरव्यू विद महात्मा गांधी'।

२. सीधी-सादी संस्कृति के मनुष्यों में व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रायः अभाव है। उदाहरण के लिए एस्किमो और अरापेश जातियों में लगभग सभी सम्पत्ति सार्वजनिक होती है। कहा जाता है कि एस्किमो लोग सम्पत्ति के प्रति इतने उदासीन हैं कि वह उससे घृणा-सी करते हैं। जैसा कि जिलेस्पी साहब ने लिखा है, जिन समितियों में सञ्चय-वृत्ति पर जोर दिया जाता है उनमें वह (सञ्चय-वृत्ति) शक्ति और सुरक्षा के साथ सम्बन्धित रहती है। जिलेस्पी का सुझाव है कि सामाजिक सुरक्षा का उचित प्रबन्ध करने से, शक्ति वृत्ति को निरुत्साहित करने से और आत्मसम्मान का आधार-शक्ति और बाह्य सम्पत्ति के स्थान पर समाज में सहयोग की भावना को बनाने से मनुष्य-स्वभाव की किसी दृढ़, आन्तरिक आवश्यकता की उपेक्षा न होगी, वरन् समाज द्वारा निर्धारित व्यक्तिगत सम्पत्ति की आवश्यकता दूर हो जायगी और युवा व्यक्तियों की चिन्तायुक्त प्रतिक्रियाओं का और वयस्क मनुष्यों की विषादयुक्त प्रतिक्रियाओं का एक कारण दूर हो सकेगा। जिस प्रकार का चरित्र सन्तोषप्रद नवसमाज के विकास के लिए आवश्यक है उसके आधारभूत गुण जिलेस्पी साहब के अनुसार है – समाज के अन्दर अज्ञात-नाम रहने की (प्रसिद्धि से बचने) की इच्छा; योग्यता का विकास और कुशलता प्राप्ति, न कि बाह्य सम्पत्ति का सञ्चय; सहयोग, न कि प्रतियोगिता की भावना; स्वतन्त्रता के आधार को यथार्थवादी दृष्टिकोण से स्वीकार करना अर्थात् स्वतन्त्रता के लिए खतरे उठाना और यदि आवश्यकता हो तो प्रत्येक प्रकार के बलिदान को, मृत्यु को भी स्वीकार करना। –'साइकोलाजिकल एफेक्टस ऑव वॉर ऑन सिटिजन एण्ड सोल्जर', अ० ३ और ७, विशेषकर पृ० १०० और २४०।

ट्रस्टी

यदि सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व सच्चे और अहिंसक साधनों से दूर हो सके तो गांधीजी उसके हटा देने के पक्ष में हैं।

जबतक मनुष्य अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति के त्याग के लिए तैयार नहीं हैं, उन्हें सम्पत्ति की ओर अपना रुख बदल देना चाहिए और सम्पत्ति के स्वामी की तरह नहीं, उसके संरक्षक (ट्रस्टी) की तरह आचरण करना चाहिए और सम्पत्ति का उपयोग समाज के हित के लिए करना चाहिए।[1]

यदि सब अपरिग्रह, शारीरिक श्रम और सम्पत्ति का ट्रस्टी की तरह उपयोग करने के आदर्शों के अनुसार चलें तो समाज में आर्थिक समता स्थापित हो जाय। यदि उन आदर्शों पर सब आंशिकरूप से व्यवहार करें तो भी परिणाम-स्वरूप वितरण न्यायोचित होगा। इसीलिए गांधीजी कहते हैं, "मेरा आदर्श है सम-वितरण, लेकिन जहां तक मैं देख सकता हूं उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए मैं न्यायोचित वितरण के लिए कार्य कर रहा हूँ।"[2]

गांधीजी सबसे ट्रस्टी की भांति उनकी सम्पत्ति का उपयोग कराने के लिए समझाने-बुझाने और अहिंसक असहयोग के साधनों का आश्रय लेंगे।[3] यदि आवश्यक हो तो वह इसके लिए भी तैयार हैं कि राज्य कम-से-कम बल-प्रयोग द्वारा आर्थिक अवस्था का समीकरण करे। लेकिन वह राज्य को अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि राज्य हिंसा पर आधारित है, और स्वेच्छा से किये गए अहिंसक कार्य को अपेक्षाकृत अधिक अच्छा समझते हैं।[4]

भारतवर्ष के समाजवादी प्रायः गांधीजी की ट्रस्टी की धारणा की आलोचना करते हैं। वे कहते हैं कि पूंजीपति मज़दूरों के साथ अपने बर्ताव में गांधीजी के इन विचारों से अनुचित लाभ उठाते हैं; किन्तु गांधीजी के अनुसार ट्रस्टी का सिद्धान्त अहिंसा का आवश्यक परिणाम है। वह कोई क्षणिकसाधन या धोखादेही की बात नहीं है। "मुझे विश्वास है कि वह मेरे अन्य सिद्धान्तों के बाद भी जीवित रहेगा। उसके पीछे दर्शन और धर्म की स्वीकृति है। यह बात कि सम्पत्तिवालों ने उस सिद्धान्त के अनुसार

१. 'आत्म-शुद्धि', पृ० ३४–३५।

२. यं० इ०, भा० ३, पृ० १२४।

३ यं० इ०, २६–११–३१।

४. ऊपर उद्धृत एन० के० बसु का लेख।

आचरण नहीं किया, सिद्धान्त की असत्यता नहीं, धनवानों की कमज़ोरी साबित करती है। कोई दूसरा सिद्धान्त अहिंसा से मेल नहीं खाता।"[१]

मार्क्सवादी और गांधीजी दोनों इस बात के विरुद्ध हैं कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का दुरुपयोग हो, उसको शोषण का साधन बनाया जाय या उसके उपयोग में जनहित की उपेक्षा हो। लेकिन गांधीजी राज्य के विरोधी हैं और उसकी शक्ति को नहीं बढ़ाना चाहते, क्योंकि राज्य सदा निर्धनों का शोषक रहा है। मार्क्सवादियों के प्रतिकूल वह पूंजीपतियों और दूसरे सम्पत्तिवालों को—जिनके हाथ में आज उत्पादन के साधन हैं—सुधार का एक और अवसर देना चाहते हैं। इसलिए वह इस बात के पक्ष में हैं कि पूंजीपति और सम्पत्तिवान, जनमत के दबाव से, अपनी सम्पत्ति का प्रबन्ध और उपयोग राष्ट्रहित के लिए करें और उनको इस सेवा के बदले लाभ का राष्ट्र द्वारा निर्धारित अंश उनके निजी व्यय के लिए मिल जाय। उनके बाद उनके बच्चे, यदि वे योग्य हों, संरक्षक बने रहें। लेकिन इस ट्रस्टी-प्रथा के विकास के लिए जागरूक जनमत आवश्यक है।[२]

मार्क्सवाद के सामाजिक आदर्श के अनुसार भी ट्रस्टी की धारणा आवश्यक है। वर्गहीन समाज में, जिसमें हिंसा और मुनाफे का उद्देश्य दूर हो चुकेंगे, वह मनुष्य जिनके सुपुर्द उत्पादन-सम्बन्धी तथा अन्य कार्य होंगे, वेतन पाने वाले राज्य-कर्मचारी न होंगे, क्योंकि वर्गहीन समाज राज्यहीन भी होगा। इन मनुष्यों को अपने निर्वाह के लिए धन या उसके समतुल्य वस्तुओं की आवश्यकता होगी और यदि वह उनके सुपुर्द किये गए कार्यों के प्रबन्ध में, स्वार्थरहित सेवा के आदर्श से प्रेरित होकर ट्रस्टी की भांति व्यवहार न करेंगे तो वर्गहीन और राज्यहीन समाज का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायगा।[३]

निर्धनता

गांधीजी के आलोचकों को निर्धनता के आदर्श पर भी आपत्ति है। लेकिन याद रखना चाहिए कि अपरिग्रह का व्रत स्वेच्छा से स्वीकृत निर्धनता का आदर्श है। वह दैवी नम्रता की निर्धनता है जिसमें मनुष्य का नैतिक और आध्यात्मिक विकास होता है। वह निराशा और आलस्य पर आधारित दरिद्रता की और जबरदस्ती की निर्धनता नहीं, जो व्यक्ति का अधःपतन करती

१. ह०, १६–१२–३६, पृ० ३७६।
२. ह०, ३१–३–४६, पृ० ७६३।
३. काका कालेलकर, 'गांधीवाद : समाजवाद', पृ० ५८–६०।

है। ज़बरदस्ती की निर्धनता की मुसीबत में पड़े मनुष्यों को गांधीजी स्वेच्छा से स्वीकार की हुई निर्धनता की शिक्षा नहीं देते। वह जानते हैं कि आर्थिक दृष्टि से भारत की जनता की दशा बहुत ही असन्तोषप्रद है। भारत संसार के सबसे अधिक निर्धन देशों मे से है। ठीक प्रकार के नैतिक और नागरिक जीवन के लिए जितनी आय की आवश्यकता होती है, भारत के अधिकतर निवासियों की आय उससे भी बहुत कम है। "उन्होंने कभी बाहुल्य का दुःख नहीं जाना जिससे वे स्वेच्छा से स्वीकार किये हुए कष्ट-सहन, भूख या दूसरी शारीरिक असुविधा के सुख की क़द्र कर सकें।"[1] गांधीजी द्वारा अंग्रेजी सरकार के दृढ विरोध का एक कारण भारत का आर्थिक विनाश और शोषण था। ग्रामोद्योगसंघ और चर्खासंघ का कार्य भारत के ग्राम्य जीवन के आर्थिक नव-निर्माण की ओर निर्धनता-पीड़ित जनता की दशा सुधारने की गांधीजी की तीव्र इच्छा की मूर्तिमान अभिव्यक्ति है।

सार्वजनिक सेवा को समर्पित गांधीजी का लम्बा जीवन अपरिग्रह का नमूना है। अपरिग्रह के तात्त्विक और शाब्दिक अर्थ मे उन्होंने तत्परता के साथ इस व्रत पर आचरण किया, कठोर त्यागपूर्ण अनुशासन स्वीकार किया और अपनी शारीरिक आवश्यकताओं को घटा-घटा कर कम-से-कम कर दिया।

अपरिग्रह का औचित्य

गांधीजी सञ्चय-प्रवृत्ति के नियन्त्रण को सत्याग्रही के लिए आवश्यक अनुशासन क्यों मानते हैं? इसका कारण गांधीजी के मूलभूत सिद्धान्त भी हैं और कुछ व्यावहारिक बातें भी। अपरिग्रह का सिद्धान्त आत्मशक्ति मे गांधीजी के विश्वास का परिणाम है। आत्मशक्ति सब जड़ साधनों का अतिक्रमण करती है और आध्यात्मिक उन्नति, अर्थात् आध्यात्मिक एकता की अनुभूति के लिए यह नितांत आवश्यक है कि हम शरीर को कसें और अपनी आवश्यकताओं को कम करें। प्रकृति उतना ही उत्पन्न करती है जितना कि तात्कालिक आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त है और उससे अधिक नहीं।[2] आध्यात्मिक एकता के सिद्धान्त की यह मांग है कि हम दरिद्रता और आर्थिक असमता और इनकी बुराइयां दूर करने का प्रयत्न करें और इसके लिए

१. म० गांधी, 'दि व्हील आव फार्चून' (१९२२), पृ० ७५–६।

२. 'आत्म-शुद्धि', पृ० २७–२८; 'स्पीचेज़', पृ० ३२४; ह०, १०–१२–१९३८, पृ० ३७३।

आवश्यक है कि हम कल की बात भुलाकर केवल उतना भर रक्खें जो हमारी वर्तमान आवश्यकताओं के लिए काफ़ी है।[1]

गांधीजी इस आदर्श की अपने धार्मिक विश्वासों के शब्दों में भी व्याख्या करते हैं। जिसे हम अज्ञानवश अपनी सम्पत्ति कहते हैं उस सबका एकमात्र स्वामी स्रष्टा है। मनुष्य इतना तुच्छ अणु है कि उसका सम्पत्ति-अधिकार का विचार हास्यास्पद मालूम होता है और ईश्वर के सर्वाधिकार के विरुद्ध अपराध है। ईश्वर-सृजित होने के नाते उसे चाहिए कि वह सब-कुछ त्याग दे और उसे स्रष्टा के चरणों पर अर्पण कर दे। सब जीवों की सेवा में जीवन व्यतीत करने के दृढ़ निश्चय का सूचक यह समर्पण इस जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के उपयोग के औचित्य का कारण और उसकी शर्त है। उन सन्तों और पैग़म्बरों का अनुभव, जिन्होंने स्वेच्छा से निर्धनता का जीवन व्यतीत किया और जिनकी आध्यात्मिक देन इतिहास में महत्त्वपूर्ण है, हमको विश्वास दिलाता है कि ईश्वर को पूर्ण समर्पण और यह अडिग आस्था कि हमारी आवश्यकता अवश्य पूरी होगी कभी निष्फल नहीं जाते।[2] ऐसी वस्तुओं को अपने पास रखना जिनकी हमें इस समय आवश्यकता नहीं है, ईश्वर में हमारी दृढ़ श्रद्धा की कमी की सूचक है।

मनुष्य की धन-प्रियता के हानिकर मानसिक और नैतिक प्रभाव का गांधीजी का तजुर्बा भी उनके इस विश्वास को दृढ़ करता है। उनका विचार है कि धन के बारे में ईसा की सुविख्यात कठोर शिक्षा[3] हमारे लिए जीवन का शाश्वत नियम है। ईसा की भांति गांधीजी का भी विश्वास है कि कोई भी ईश्वर और धन दोनों की सेवा नहीं कर सकता। उनका अनुभव है कि सम्पत्ति दृढ़ आसक्ति उत्पन्न करती है, उसका मनुष्य के विचार और कार्य पर एकाधिकार होने लगता है, मनुष्य आत्मा की नितांत उपेक्षा करने लगता है और आध्यात्मिक अवनति होने लगती है। संसार में बहुत-सी हिंसा का कारण सम्पत्ति-सम्बन्धी झगड़े हैं।

१. 'स्पीचेज़', पृ० २८७, ३२४; 'आत्म-शुद्धि', पृ० २८।

२. ह०, ३०-१-३७ में प्रकाशित गांधीजी के व्याख्यान।

३. "एक अमीर आदमी के ईश्वरीय राज्य में जाने की अपेक्षा ऊंट का सुई के नाके में से निकल जाना ज्यादा आसान है।" 'मैथ्यू', १९, २४। "न तो यात्रा का थैला रक्खो, न थैली में सोना, चांदी या पीतल, न दो कोट, न जूते, न छड़ियां; क्योंकि मज़दूर खाना पाने का अधिकारी है।" 'मैथ्यू', १०, ९-१०।

गांधीजी ने सन् १९३६ ई० में अमेरिकन धर्मशिक्षक डा० मॉट से कहा था, "यह मेरा अनुभव पर आधारित दृढ़ विश्वास है कि आध्यात्मिक मामलों में धन का महत्त्व कम-से-कम है।"[१] डा० मॉट के साथ एक दूसरी बातचीत में सत्याग्रही के जीवन में धन के स्थान के बारे में अपने विचारों को सार-रूप में रखते हुए उन्होंने कहा था, "मैंने सदा अनुभव किया है कि जब एक धार्मिक संस्था के पास आवश्यकता से अधिक धन होता है, उसके लिए ईश्वर में श्रद्धा खो देने का और धन में श्रद्धा रखने का खतरा होता है··· आपको धन के आश्रय पर रहना छोड़ देना होगा। बात यह है कि जैसे ही धन-सम्बन्धी सुरक्षितता निश्चित हो जाती है, आध्यात्मिक दिवालियापन भी निश्चित हो जाता है"।[२]

यदि हम गांधीजी की आधारभूत धारणाओं—आत्म-शक्ति में विश्वास, सर्वभूतहित का ध्येय और नैतिक साधनों की आवश्यकता—के औचित्य को मान लें तो उनके निष्कर्ष को मानना ही पड़ेगा। जान-बूझकर, स्वेच्छा से स्वीकार की हुई निर्धनता आध्यात्मिक एकता की अनुभूति में सहायक होगी। वह हमें निर्भय बनायेगी और जीवन की सादगी के कारण हमें सत्य की साधना के लिए काफ़ी समय मिलेगा। वह समाज के आर्थिक संगठन और आर्थिक सम्बन्धों में क्रान्ति उपस्थित कर देगी और प्रतिद्वन्द्विता और शोषण, युद्ध और साम्राज्यवाद और जनसाधारण के विकास के दूसरे प्रतिबन्ध दूर हो जायेंगे। सत्याग्रही नेताओं और कुछ हद तक साधारण सत्याग्रहियों के लिए भी अपरिग्रह आवश्यक है, क्योंकि वह उनको जेल के कठोर जीवन और सरकार द्वारा सम्पत्ति के ज़ब्त किये जाने के लिए तैयार करता है।

यदि हमारा आदर्श है नैतिक नव-निर्माण, न कि इन्द्रिय-तृप्ति, तो हमें ऐसे समाज का विकास करना होगा जिसके नेता इच्छापूर्वक स्वीकृत निर्धनता

१. ह० २६–१२–३६, पृ० ३६८।

२. ह० १०–१२–३८, पृ० ३७१। श्री महादेव देसाई ने अपरिग्रह पर गांधीजी के विचारों का सार इन शब्दों में दिया है :--

"हो सकता है कि आपको जड़पदार्थों के प्रयोग का या उनके स्वामित्व का अवसर हो, लेकिन जीवन का रहस्य यह है कि उसका अभाव आपको न अखरे। यदि आप किसी उद्देश्य के लिए जीवन समर्पण करने को तैयार हैं तो उसके लिए धन भी आजायेगा, लेकिन यदि धन नहीं है तो उसका अभाव आपको अखरेगा नहीं और आपका उद्दिष्ट कार्य चलता रहेगा, शायद धन के अभाव में और भी अच्छी तरह चलता रहेगा।"

के आदर्श से अनुप्राणित हो और जिसमें जनसाधारण में, विलासिता और अधःपतन करने वाली दरिद्रता की चरमसीमाओं से बचकर, जीवन की आवश्यक सहूलियतों का न्यायोचित वितरण हो।

शरीर-श्रम

इन्हीं व्रतों से सम्बन्धित शारीरिक श्रम का व्रत है। यूरोप में पहले-पहल रूसी विचारक बान्डारिफ ने इस आदर्श पर बहुत जोर दिया था। किन्तु इस आदर्श के वास्तविक प्रचारक टाल्स्टाय और रस्किन थे। गांधीजी इस सिद्धान्त के लिए टाल्स्टाय और रस्किन के प्रति बहुत ऋणी हैं। यह व्रत अस्तेय के सिद्धांत का निष्कर्ष है और अपरिग्रह की सिद्धि का साधन है।

शारीरिक श्रम के नियम का अर्थ है कि मनुष्य को हाथ-पैर की मेहनत से, अपना पसीना बहाकर, रोटी कमाना चाहिए। रोटी जीवन की अनिवार्य प्राथमिक आवश्यकताओं का प्रतीक है। इन आवश्यकताओं के लिए उत्पादक श्रम की आवश्यकता पड़ती है और जो इन आवश्यक वस्तुओं का उपभोग बिना इस श्रम से ठीक तरह हिस्सा लिये करता है वह चोर है। तथाकथित सभ्य पर वास्तव में भ्रष्ट मनुष्य, जो अपनी आवश्यकताएं बढ़ाते हैं और शारीरिक श्रम नहीं करते, ग़रीबों का शोषण करते हैं और उनका अपनी सन्तुष्टि के साधनमात्र की तरह उपयोग करते हैं।

इन प्राथमिक आवश्यकताओं में भोजन का स्थान पहला है, इसलिए शारीरिक श्रम के आदर्श-स्वरूप को खेती से सम्बन्धित होना चाहिए। यदि यह सम्भव हो तो शारीरिक श्रम प्राथमिक आवश्यकता से सम्बन्धित किसी दूसरे उत्पादक-श्रम के रूप में होना चाहिए। इसके उदाहरण हैं कताई, बुनाई, बढ़ई या लोहार का काम, इत्यादि। चर्खे के प्रति गांधीजी का प्रेम इस कारण है कि कताई, अपेक्षाकृत खेती से भी अधिक, शारीरिक श्रम का सार्वभौम रूप बनने के योग्य है। वह लिखते हैं, "सत्याग्रही उत्पादक कार्य में लगता है और लाखों मनुष्यों के लिए कताई से अधिक सरल और अधिक उत्पादक कोई और कार्य नहीं।"[1] इसके अतिरिक्त, "किसी दूसरे ग्रामोद्योग में ग्रामवासियों की अधिकतम संख्या के हाथों में, अल्पतम पूंजी और संगठन सम्बन्धी प्रयास से, इतना अधिक रुपया रखने की क्षमता नहीं है जितनी कताई और उसकी सहायक प्रक्रियाओं में है।"[2] सत्याग्रह आन्दोलन के साथ सम्बन्धित होने के कारण चर्खा भारत की जनता के अहिंसा को विकसित

१. ह०, २-१२-३६, पृ० ३६० ।
२. ह०, १६-१२-३६, पृ० ३७६ ।

करने के प्रयास का प्रतीक भी हो गया है।

किन्तु शारीरिक श्रम में गांधीजी बौद्धिक श्रम को नहीं सम्मिलित करते। क्योंकि, "शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति शरीर द्वारा ही होना चाहिए, केवल मानसिक या बौद्धिक श्रम आत्मा के लिए है। वह अपनी स्वयं तुष्टि है। उसके लिए कभी मेहनताना नहीं मांगना चाहिए।"[१] बौद्धिक कार्य और रोटी कमाने के अतिरिक्त अन्य शारीरिक श्रम प्रेम का श्रम होना चाहिये और उसे केवल समाज के हित के लिए करना चाहिये।[१] इस आदर्श के व्यवहार का परिणाम होगा अपरिग्रह और उससे केन्द्रीय उत्पादन का मूलोच्छेद हो जायगा।

लेकिन यह आवश्यक है कि शारीरिक श्रम, जिसको गांधीजी सर्वोत्कृष्ट समाज-सेवा समझते हैं[२] दबाव से या जबरदस्ती नहीं, स्वेच्छा से स्वीकार किया गया हो। निःसंदेह आज करोड़ों भारतवासी आधे वर्ष शारीरिक श्रम करते हैं। लेकिन यदि सम्भव होता तो वह इस नियम को टाल देते। उनका नियम-पालन जबरदस्ती का है और वह उनकी शुद्ध भावनाओं को दुर्बल और निर्जीव बना देता है और दरिद्रता, रोग और असन्तोष को जन्म देता है।

इस आदर्श पर पूरी तरह व्यवहार करना कठिन है; किन्तु यदि पूरे नियम का पालन न करके भी मनुष्य अपने दैनिक भोजन के लिए पर्याप्त शारीरिक श्रम करें तो समाज इस आदर्श की ओर बहुत बढ़ेगा।[3] अपनी आवश्यकता से अधिक पैदा करने वालों को अपनी (आवश्यकता से) अधिक आमदनी के ज्यादातर हिस्से का उपयोग समाज के हित के लिए करना होगा। दूसरे शब्दों में आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति पर स्वामित्व और ट्रस्टीपन साथ-साथ चलेंगे।[3] जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, हो सकता है कि ट्रस्टीपन के आदर्श के अनुसार पूरी तरह व्यवहार न हो सके; लेकिन इन आदर्शों पर चलने के प्रयत्न से कम-से-कम, धन का न्यायोचित वितरण हो जायगा।

यदि मनुष्य स्वेच्छा से शारीरिक श्रम के आदर्श को अपनायें तो निस्सन्देह संसार आजसे कहीं अधिक सुखी, शान्तिपूर्ण और स्वस्थ हो जायगा। इस नियम का हमारे वातावरण पर क्रान्तिकारी प्रभाव होगा।

१. ह०, २९-६-३५, पृ० १५६।

२. ह०, १-६-३५, पृ० १२५; २६-६-३५, पृ० १५६।

३. य० इ०, २६-११-१६३१।

नैतिक दृष्टिकोण से जीवन में सादगी आयगी, अहिंसात्मक सिद्धांतों के अनुसार जीवन को गढ़ना आसान हो जायगा और अन्तर्दृष्टि का शारीरिक श्रम के साथ सामञ्जस्य होगा। शारीरिक दृष्टिकोण से बीमारियां बहुत घटेंगी और शरीर स्वस्थ और सुदृढ़ होगा। बौद्धिक दृष्टिकोण से मनोविज्ञान के पंडित और शिक्षाविशेषज्ञ बहुत दिनों से यह मानते आये हैं कि हाथों से कार्य करने से मानसिक विकास में बहुत सहायता मिलती है। आर्थिक दृष्टि से यह नियम आधुनिक संसार के बहुत से रोगों की अचूक दवा है। वह गांवों और देश को स्वावलम्बी बना देगा।। वह गरीबी और अमीरी दोनों को कम करेगा, गरीबों का शोषण रोकेगा और धनिकों की श्रेष्ठता की धारणा को दूर करेगा। हरएक मनुष्य अपना स्वयं स्वामी बन जायगा और वर्गभेद मिट जायंगे।[1]

स्वदेशी

स्वदेशी का व्रत गांधीजी के तत्त्व-दर्शन में बड़ा महत्त्वपूर्ण है। स्वदेशी का अर्थ है वह जो अपने देश का हो या अपने देश में बना हो। गांधीजी के अनुसार स्वदेशी "धार्मिक अनुशासन है जिसका पालन व्यक्ति को उससे होने वाले शारीरिक कष्ट की बिल्कुल उपेक्षा करके करना चाहिये।"[2] वह इसे जीवन का पवित्र नियम बताते हैं और उनका विचार है कि यह नियम बुनियादी मनुष्य-स्वभाव में सन्निहित है।[3]

स्वदेशी का उद्देश्य राजनैतिक नहीं, आध्यात्मिक है। उद्देश्य यह है कि मनुष्य को सब जानदारों के साथ आध्यात्मिक एकता की अनुभूति हो सके। शरीर उस एकता की पूर्ण अनुभूति में रुकावट डालता है और आत्मा का स्थायी या स्वाभाविक निवास-स्थान नहीं है, इसलिए आध्यात्मिक और चरम अर्थ में स्वदेशी आत्मा की सांसारिक बंधन से मुक्ति का सूचक है।[4] जब तक आत्मा मुक्त न हो जाय, आध्यात्मिक एकता की अनुभूति का एकमात्र मार्ग है जानदारों की सेवा। स्वदेशी का नियम सेवा के एकमात्र ठीक मार्ग का निर्देशक है। गांधीजी इस नियम की

१. अहिंसात्मक आदर्शों से, विशेषरूप से, शारीरिक श्रम और अपरिग्रह से, केन्द्रित उत्पादन और मुनाफे का उद्देश्य मेल नहीं खाते। विस्तृत विवेचन के लिए अ० ८ और ११ देखिये।

२. 'स्पीचेज', पृ० ३८०।

३. वही, पृ० ३५५।

४. 'यरवदा मंदिर', पृ० ८६।

परिभाषा इन शब्दों में करते हैं :—"स्वदेशी हमारे अन्दर वह भावना है जो हम पर यह प्रतिबन्ध लगाती है कि हम अपेक्षाकृत अधिक दूर के वातावरण को छोड़कर पास के वातावरण का उपयोग करें और उसकी सेवा करें।"[1] "मुझे अपने निकटतम पड़ोसी को भुलाकर दूर के पड़ोसी की सेवा न करनी चाहिये।"[2]

स्वदेशी उच्चकोटि की आध्यात्मिक देश-भक्ति है। उसका अर्थ है कि हमको दूसरे देशों की अपेक्षा अपने देश की सेवा करना चाहिये और अपने देश के अन्दर दूर के स्थानों की अपेक्षा अपने निकटवर्ती पड़ोस की सेवा में लगना चाहिये। इस आदर्श की यह भी माग है कि हम अपने देश के आदर्शों और संस्थाओं को अपनाएं। इसका अर्थ है कि सुपरिचित संस्थाओं के प्रति विचाररहित अन्ध आसक्ति नहीं, बल्कि ऐसा प्रेम होना चाहिये जो अच्छाई-बुराई को परख सकता है, जब आवश्यकता हो तो उनका सुधार और विकास कर सकता है और दूसरों की स्वस्थ और हितकारी विशेषताओं को अपना सकता है। स्पष्ट है कि वर्तमान समाज के स्वस्थ अंशों के प्रति यही उचित रुख है। इस नियम की उपेक्षा का अर्थ है पूर्व परम्परा के मूल्यवान अंशों का अनावश्यक विरोध, असन्तोष को उत्तेजित करना और जनता को कष्ट देना।

गांधीजी इस बात पर ज़ोर देते हैं कि पड़ोस और देश का हमारी सेवा पर पहला अधिकार है, पर उनके इस अनुरोध को उस संकीर्ण आक्रमणकारी जातीयतावाद के साथ समीकृत करना, जो दूसरों के विनाश पर पनपता है, नितान्त भ्रमपूर्ण है। सेवा की शुद्धता स्वदेशी का जीवन-प्राण है। साधनों की अशुद्धता स्वदेशी के आध्यात्मिक उद्देश्य को निष्फल कर देगी। इस प्रकार स्वदेशी का आदर्श समुदायों के संकीर्ण, स्वार्थपूर्ण हितों को और देश के या मनुष्य-जाति के हित की उपेक्षा को कभी प्रोत्साहन नहीं देता। स्वदेशी की केवल यह मांग है कि हम अपने पड़ोसियों के प्रति अपने उचित कर्त्तव्यों का पालन करें और उनको इस बात के लिए तैयार करें कि, आवश्यकता पड़ने पर, वह अपने आपको देश और विश्व के हित के लिए

१. 'स्पीचिज़', पृ० २७५।

२. मालूम होता है कि यही नियम ईसा के बार-बार यह कहने का कारण था कि उनका जीवनोद्देश्य यहूदियों से सम्बन्धित था और इसी कारण उन्होंने अपने शिष्यों को यहूदी लोगों के अतिरिक्त दूसरों के पास जाने से रोका और उनको धर्म-पथ-भ्रष्ट यहूदियों के पास भेजा।

बलिदान कर दें। गांधीजी के शब्दों में, "मेरा देश-प्रेम निराकरणशील (परिमित) और (दूसरों को) सम्मिलित करने वाला (व्यापक) दोनों है। वह निराकरणशील इस अर्थ में है कि मैं नम्रता के साथ अपना ध्यान अपनी जन्मभूमि तक परिमित रखता हूं, लेकिन वह व्यापक इस अर्थ में है कि मेरी सेवा प्रतिद्वन्द्वितापूर्ण नहीं है।"[1] "मैं हिन्दुस्तान की उन्नति इसलिए चाहता हूं जिससे समस्त विश्व का कल्याण हो। मैं नहीं चाहता कि हिन्दुस्तान दूसरी जातियों के विनाश (के आधार) पर उन्नति करे।"[2]

गांधीजी ने स्वदेशी को विश्व-सेवा की पराकाष्ठा बतलाया है,[3] और उन्होंने इस बात का विवेचन किया है कि क्यों अपेक्षाकृत निकटतम की सेवा वांछनीय है। वह कहते हैं कि हमारी सेवा की क्षमता जिस संसार में हम रहते हैं उसके ज्ञान से परिमित है। इसलिए हमारा प्रथम कर्त्तव्य यह है कि हम अपने आपको अपने उन पड़ोसियों की सेवा को समर्पण कर दें जो हमारे निकटतम हैं और जिनको हम सबसे अधिक अच्छी तरह जानते हैं।[4] पड़ोसियों की शुद्ध सेवा से उन लोगों की जो हम से दूर रहते हैं कभी हानि नहीं हो सकती। इसके विपरीत जो मनुष्य दूर के निवासियों की सेवा करने जाता है वह दोहरा अपराधी है। वह अपने पड़ोसियों की—जिनको उसकी सेवा पर अधिकार है—दोष-पूर्ण उपेक्षा का अपराधी है। उसका प्रयास दूर के निवासियों के प्रति अनिच्छित बुराई होगी, क्योंकि अपने अज्ञान के कारण सम्भवतः वह नए स्थान के वातावरण को विक्षुब्ध कर देगा।[5] इसके अतिरिक्त जब मनुष्य अपने निकटवर्ती पड़ोसियों की भी ठीक से सेवा करने योग्य नहीं, तब दूर के स्थानों की सेवा की बात सोचना दंभ है।[6]

गांधीजी का विश्वास है कि गीता की शिक्षा—अपने कर्तव्य (स्व-धर्म) पालन में मृत्यु भी श्रेयस्कर है, दूसरे का कर्त्तव्य (पर-धर्म) भयपूर्ण है—स्वदेशी के कर्त्तव्य को भी लागू है, क्योंकि अपने निकटवर्ती वातावरण के सम्बन्ध में स्वदेशी ही स्वधर्म है।[7]

१. 'स्पीचेज', पृ० २८१।
२. य० इ०, भा० २, पृ० ६६४।
३. 'यरवदा मन्दिर', पृ० ६३।
४. ह०, २८-८-३६, पृ० २२७।
५. 'यरवदा मंदिर', पृ० ८६-६१।
६. 'स्पीचेज़', पृ० २८१।
७. 'यरवदा मंदिर', पृ० ६१।

गांधीजी का पूरा तत्त्वदर्शन स्वदेशी के सिद्धान्त से अनुप्राणित है। उनकी संस्कृति सम्बन्धी धारणाओं पर, आध्यात्मिक विश्वासों और नैतिक सिद्धान्तों पर, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और शिक्षा-सम्बन्धी विचारों पर इस आदर्श की गहरी छाप पड़ी है।

उनके संस्कृति सम्बन्धी विचारों मे स्वदेशी की धारणा की अभिव्यक्ति भारतवर्ष की ग्रामीण सभ्यता के प्रति उनके प्रेम मे है और इस प्रेम का कारण है इस संस्कृति के आध्यात्मिक और अहिंसात्मक मूल्य। गांधीजी बिना सोचे-समझे पश्चिम की प्रत्येक बात से घृणा नहीं करते[1]। लेकिन निःसंदेह वह आधुनिक सभ्यता की हिंसा और जड़वाद की निन्दा करते है। वह आधुनिक सभ्यता को अविश्वास की दृष्टि से देखते है, क्योंकि उनका कहना है कि वासनाप्रियता और शक्ति-पूजा की धुन मे यह सभ्यता आत्मा और उसके विकास की उपेक्षा करती है। विनाशकता की कला का भयप्रद विकास और औद्योगीकरण के दोष—होड़, शोषण, धनप्रियता, युद्ध और साम्राज्यवाद—इन सब का परिणाम है आध्यात्मिक और नैतिक अधःपतन। जो आत्मा की प्राथमिकता मे विश्वास करते हैं उनको गांधीजी के इस निष्कर्ष पर कोई आपत्ति न होगी कि आधुनिक सभ्यता क्षणिक है और केवल नाम-मात्र की सभ्यता है।[2] उनके आध्यात्मिक और नैतिक विचारों का आधार भारत की दार्शनिक परम्परा है। उन्होंने प्राचीन भारतीय आदर्शों की नव-व्याख्या की है और उनका आधुनिक जीवन की परिस्थिति में उपयोग किया है।

स्वदेशी का सिद्धान्त धर्म की ओर उनके रुख को भी स्पष्ट करता है। "जहाँ तक धर्म का सिद्धांत है, मुझे चाहिये कि मैं अपने आपको अपने पूर्वजों के धर्म तक सीमित रक्खूं, अर्थात् अपने निकटवर्ती धार्मिक वातावरण का उपयोग करूं। यदि मुझे वह दोषपूर्ण मालूम हो तो मुझे चाहिए मैं उसे दोषों से मुक्त करके उसकी सेवा करूं।"[3]

१. "मुझमें यह मानने की काफी नम्रता है कि पश्चिम मे ऐसा बहुत कुछ है जिसे अपनाना हमारे लिए लाभदायक होगा। बुद्धिमत्ता किसी एक महाद्वीप या जाति का एकाधिकार नहीं है। पश्चिम की सभ्यता के प्रति मेरा विरोध वास्तव मे उसके बिना सोचे-समझे नकल करने का विरोध है।" य० इ०, भा०, ३, पृ० २८६।

२. 'हिन्द स्वराज', अ० ६ और १३।

३. 'स्पीचेज़', पृ० २७३-७४।

सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में भी वह देशी संस्थाओं के उपयोग और उनको दोष-मुक्त करने में विश्वास करते हैं। उदाहरण के लिए, उनके अधिकतर सत्याग्रही शस्त्र, असहयोग, सविनय आज्ञाभंग, उपवास, धरना इत्यादि प्राचीन भारत के राजनैतिक और सामाजिक प्रतिरोध-विधियों के आधुनिक संस्कृत स्वरूप हैं। सामाजिक क्षेत्र में वह वर्णाश्रम-धर्म के समर्थक हैं, यद्यपि आजकल की जाति-पांति की प्रथा के विरोधी हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में दक्षिण अफ्रीका के दिनों से ही वह आग्रह पूर्वक यह कहते रहे हैं कि शिक्षा-प्रणाली को राष्ट्रीय परम्परा से मेल खाना चाहिए और उसका माध्यम मातृभाषा होना चाहिये।

आर्थिक क्षेत्र में वह देश के और गांवों के भी स्वावलम्बन के पक्ष में हैं। हां, वह यह अवश्य मानते हैं कि बाहर से ऐसी चीज़ों के मंगाने में कोई हानि नहीं जो उन्नति के लिए आवश्यक हैं।[1] उनके अनुसार स्वदेशी का अर्थ है "विदेशी वस्तुओं का निराकरण करके देश में बनी वस्तुओं का प्रयोग, जहां तक यह प्रयोग घरेलू धन्धों की रक्षा के लिए आवश्यक है— विशेषकर उन धन्धों की रक्षा के लिए जिनके बिना भारत कंगाल हो जायगा।"[2] "विदेशों में बनी वस्तुओं को केवल इस कारण अस्वीकार करना कि वह विदेशी हैं और राष्ट्रीय समय और धन को अपने देश में उन वस्तुओं के उत्पादन की उन्नति में व्यय करना जिनके लिए देश अनुपयुक्त है, अपराधपूर्ण मूर्खता है और स्वदेशी की भावना का निषेध है।"[3]

स्पष्ट है कि गांधीजी सब प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विरोधी नहीं

१. स्वदेशी के इस रूप के बारे में गांधीजी के विचारों का विकास हुआ है। मिशनरी कान्फ्रेन्स मद्रास (१९१६), में दिये हुए उनके 'स्वदेशी' शीर्षक भाषण से पता चलता है कि तब वह देश के पूर्ण स्वावलम्बन के और शेष संसार से आर्थिक पृथक्त्व के पक्ष में थे। भारत के दूसरे देशों के साथ व्यापार के बारे में उन्होंने कहा, "यदि भारत के बाहर से व्यापार की एक वस्तु भी न आई होती तो आज यह देश दूध और शहद से भरापूरा होता ...यह देश अपने आप (बिना दूसरे देशों की सहायता के) रह सकता है यदि केवल वह अपनी सीमा के अन्दर अपनी आवश्यकता की प्रत्येक वस्तु उत्पन्न कर ले और उसको इस प्रकार के उत्पादन में सहायता मिले।" 'स्पीचेज़', पृ० २७८।

२. य० इं०, भा० २, पृ० ७६७।

३. 'यरवदा मंदिर', पृ० ६६-६७।

हैं, यद्यपि उनका मत है कि आयात केवल उन्हीं वस्तुओं तक परिमित रहना चाहिए जो हमारे विकास के लिए आवश्यक हैं और जो यहाँ पैदा नहीं की जा सकतीं और निर्यात विदेशियों के वास्तविक लाभ की वस्तुओं तक।"[1]

स्वदेशी के आदर्श के अनुसार सब तरह के विदेशी कपड़े का निराकरण आवश्यक है। अंग्रेज़ों के आने के पहिले भारत अपनी आवश्यकता का कपड़ा बना लेता था और वैसा ही आज भी कर सकता है। इसके अतिरिक्त भारत के से खेतिहर देश में खादी सार्वभौम सहायक धन्धा है जिसके सहारे अध-भूखे और आधे समय बेकार रहने वाले किसान अपनी अपर्याप्त आमदनी बढ़ा सकते हैं। इसीलिए गांधीजी खादी को स्वदेशी के सिद्धान्त का आवश्यक और अधिकतम महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष और समाज के प्रति स्वदेशी-धर्म के पालन का पहिला आवश्यक क़दम समझते हैं।[2] लेकिन खादी से स्वदेशी के आर्थिक-रूप का प्रारम्भ होता है, अन्त में स्वदेशी का अर्थ है विदेशी कपड़े का और उन वस्तुओं का, जो अपने देश में बनाई जा सकती हैं, बहिष्कार, यद्यपि सब विदेशी वस्तुओं का नहीं, और अपने देश में बनी वस्तुओं को व्यापक रूप से अपेक्षाकृत अधिक वांछनीय मानना और उनका प्रयोग करना।

खादी के द्वारा स्वदेशी को अपनाने का यह अर्थ नहीं कि भारत इंगलैंड के और दूसरे देशों के मिल-मालिकों को नुक़सान पहुंचाना चाहता है। इन मिल-मालिकों ने, भारत के मुख्य सहायक धन्धे का विनाश करके उसके आर्थिक संगठन को विशृङ्खल करके और उसको भूखों-कंगालों का देश बनाकर, महापाप किया है। यदि भारत स्वदेशी को अपनाए और यह विदेशी मिल-मालिक इस बुराई से बच जांय तो उनको नैतिक लाभ ही होगा।

सन् १९२१ ई० तक गांधीजी स्वदेशी के आर्थिक रूप में और विदेशी वस्तुओं के आर्थिक बहिष्कार मे अन्तर देखते थे। स्वदेशी आध्यात्मिक अनुशासन है, वह विधायक कार्यक्रम है और शक्ति और शुद्धता बढ़ाने वाली प्रक्रिया है। दूसरी ओर सन् १९२१ ई० तक वह विदेशी वस्तुओं के आर्थिक बहिष्कार को तात्कालिक दंड-व्यवस्था और काम चलाऊ राजनैतिक शस्त्र मानते थे जिसके प्रयोग से विरोधी पर अनुचित दबाव पड़ता है। उनका मत था कि आर्थिक बहिष्कार का प्रयोग इसलिए होता है कि जानबूझ कर हानि पहुंचा कर विरोधी देश को मजबूर किया जाय। दंड देने की भावना दुर्बलता-सूचक है और एक प्रकार की हिंसा है।[3]

---

१. यं० इं०, भा० २, पृ० ७६७।

२. यं० इं०, १८–६–३१।

३. यं० इं०, भा० १, पृ० १४७ और ४८७–८।

लेकिन सन् १९२१–२२ ई० के सत्याग्रह-आन्दोलन में कांग्रेस ने ज़ोरों से ब्रिटिश माल का बहिष्कार किया और गाँधीजी ने इस पर एतराज़ नहीं किया।[1] कुछ वर्ष हुए एक चीन-निवासी से बातचीत करते हुए उन्होंने यह मत प्रकट किया था कि वह आक्रमणकारी राष्ट्र के आर्थिक बहिष्कार के पक्ष में हैं।[2] प्रकट है कि उनके मत में परिवर्तन हो गया है। मालूम होता है कि अब उनका विचार यह था कि आर्थिक बहिष्कार में हिंसा और बदले की भावना का समावेश आवश्यक नहीं है और उसका प्रयोग अहिंसात्मक असहयोग के साधन की तरह भी हो सकता है।[3]

अस्पृश्यता-निवारण

गांधीजी अस्पृश्यता-निवारण के व्रत को भी आवश्यक मानते हैं। यह व्रत आध्यात्मिक एकता के सिद्धान्त का निष्कर्ष है। हम सभी उसी एक अग्नि की चिनगारियाँ, उसी ईश्वर के जीव हैं। इसलिए गांधीजी की शिक्षा है कि हम मनुष्य-मनुष्य के बीच का भेद, जीवमात्र के साथ का भेद, मिटा दें और जीवमात्र की सेवा करें।[4]

गांधीजी के सामाजिक संगठन सम्बन्धी विचारों का निर्धारण वर्ण-नियम द्वारा हुआ है। यह नियम जैसा कि हम पहिले अध्याय में बता आए हैं, अहिंसा पर आधारित है और गांधीजी इसको सच्चा समाजवाद कहते हैं। आज वर्णों का प्रारम्भिक रूप बिगड़ गया है और वह बेशुमार ऐसी जातियों में बदल गये हैं जो ऊँच-नीच के भेद मानते हैं और वैवाहिक और सामाजिक संबंधों पर कठोर प्रतिबंध लगाते हैं। लेकिन गांधीजी जाति-प्रथा और उसके प्रतिबंधों के विरुद्ध हैं और वर्ण शब्द का प्रयोग इस बिगड़े हुए चालू अर्थ में नहीं करते। उनका विचार है कि वास्तविक अर्थ में वर्ण आज नष्ट हो चुके हैं। वर्ण का आदर्श-रूप हिन्दुओं के लिए ही नहीं सम्पूर्ण मानवता के लिए आवश्यक है। गांधीजी वर्ण-नियम की परिभाषा इन शब्दों में करते हैं, "वर्ण-नियम का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने पूर्वजों का धंधा धर्म—कर्तव्य – की भांति अपनाना चाहिये, यदि वह (धंधा) बुनियादी नीति से अनमेल न हो। उसी धंधे से वह (व्यक्ति) अपनी जीविका कमाए। वह धन-संचय न करे, किन्तु बचत को जनहित में लगा दे।"[5] वर्ण का जन्म से

१. देखिये अ० ६।
२. देखिये अ० ११।
३. देखिये अ० ६।
४. 'आत्म-शुद्धि', अ० ७।
५. ह०, २८–६–३४, पृ० २६०–६१।

निकट का सम्बन्ध है, यद्यपि यह सम्बन्ध अटूट नहीं है। वर्ण का निर्धारण जन्म से होता है, किन्तु उसकी रक्षा (वर्ण के) कर्तव्य-पालन से होती है। ब्राह्मण माता-पिता का पुत्र ब्राह्मण कहलावेगा, किन्तु वयस्क हो जाने पर यदि उसके जीवन में ब्राह्मण के गुणों की अभिव्यक्ति न होगी तो उसे ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। उसका ब्राह्मणत्व से पतन हो चुकेगा। दूसरी ओर, वह व्यक्ति, जो जन्म से ब्राह्मण नहीं है किन्तु अपने आचरण में ब्राह्मण के गुणों की अभिव्यक्ति करता है, ब्राह्मण माना जायगा, यद्यपि वह स्वयं इस वर्ण को स्वीकार न करेगा।[1] इस नियम का पालन स्वेच्छा से होना चाहिये और उसमें शर्म या प्रतिष्ठा का विचार न आना चाहिये। इस नियम का यह भी अर्थ है धंधों और पेशों में कोई ऊँचा-नीचा नहीं, सब बराबर हैं और सम्पत्ति का उपयोग समाज के हित के लिए ट्रस्टी की भाँति ही करना चाहिये।[2] अस्पृश्यता वर्ण-नियम के विपरीत है।

जब गांधीजी अस्पृश्यता की निन्दा करते हैं तो उनके ध्यान में विशेष रूप से भारत में चालू अस्पृश्यता होती है। किन्तु अस्पृश्यता का नियम व्यापक महत्ता का है, क्योंकि संसार भर में, प्रत्येक देश में, हमारे देश की तरह, मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद-भाव की दीवारें हैं। अमेरिका में नीग्रो जाति के प्रति, उपनिवेशों में वहां के रहने वालों के प्रति, अन्य देशों में आदिवासियों के प्रति और यहूदियों के प्रति दुर्व्यवहार इसी रोग का लक्षण है और धर्म, जाति, वंश इत्यादि के भेदों को भुलाकर सब मनुष्यों की समता के सिद्धान्त का निषेध है।

सर्व-धर्म-समभाव

गांधीजी केवल मनुष्यों की समता में ही नहीं, संसार के प्रमुख धर्मों की समता में भी विश्वास करते हैं। सर्वधर्मसमभाव इस बात का निष्कर्ष है कि मनुष्य को ज्ञात सत्य सदा आपेक्षिक होता है, निरपेक्ष कभी नहीं होता।

जिस प्रकार आत्मा अनेक शरीरों में प्रकट होती है, उसी प्रकार एक ही सच्चा और पूर्ण धर्म है, लेकिन मनुष्य द्वारा प्रचारित होने पर वह अनेक हो जाता है। मनुष्य अपूर्ण है, इसलिए सभी धर्म सत्य के अपूर्ण प्रकाशन हैं और उनमें भूल की संभावना है। इस प्रकार कोई भी धर्म नितान्त पूर्ण नहीं, सभी अपूर्ण हैं।[3] धर्मों की तुलनात्मक श्रेष्ठता का प्रश्न ही नहीं उठता। सत्याग्रही को चाहिये कि प्रत्येक धर्म का आदर करे और उनके प्रति समता की भावना विकसित करे। उसे चाहिये कि वह अपने धर्म को जाने। लेकिन

---

१. ह०, २८-९-३४, पृ० २६०-६१।

२. ह०, ६-३-३७, पृ० २५-६।

सभी धर्मों में दोष हैं, इसलिए उसे अपना धर्म न छोड़ना चाहिए।[1] धर्म-परिवर्तन का यदि कोई उचित कारण हो सकता है तो वह है आध्यात्मिक आवश्यकता और आन्तरिक प्रेरणा। जीवन या सम्पत्ति की रक्षा के लिये या अन्य किसी सांसारिक प्रयोजन से धर्म-परिवर्तन नितांत अनुचित और हानिकर है।[2] लेकिन यद्यपि गांधीजी सत्याग्रही के धर्म-परिवर्तन के पक्ष में नहीं है, वह धर्म-परिवर्तन के लिए किये गये प्रचार पर कानूनी रुकावटों के भी विरोधी हैं।[3] सत्याग्रही का कर्तव्य है कि वह दूसरे धर्मों का अध्ययन करे, उनमें जो कुछ ग्राह्य प्रतीत हो उसे अपने धर्म मे सम्मिलित कर ले और अपने धर्म क दोषों को दूर करे। लेकिन सर्वधर्मसमभाव का यह अर्थ नहीं कि हम अधर्म के प्रति सहिष्णु हों या दूसरे धर्मों के दोषों को न देखें।[4]

नम्रता

सत्याग्रही या सत्य के शोधक को नम्र भी होना चाहिए। लेकिन नम्रता का कोई अलग व्रत नहीं और न उसका अभ्यास हो सकता है। "नम्रता का अभ्यास करना तो दम्भ सीखना हुआ।"[5] यदि मनुष्य सत्य का भक्त है और उसका जीवन सेवापूर्ण है तो नम्रता अपने आप आएगी।

नम्रता नैतिक और आध्यात्मिक अनुपात की वह भावना है जो सब मनुष्यों को असीम शाश्वत ईश्वर से सम्बन्धित करती है और इस प्रकार उनको ठीक आपेक्षिक स्थान देती है।[6] वह सब मनुष्यों की, वास्तव में सब जानदारों की, आध्यात्मिक एकता और समता की चेतना है।[7] नम्रता में शक्ति-प्रियता और पदलोलुपता के लिए कोई गुंजाइश नहीं, नम्र मनुष्य यह अनुभव करता है कि उसका कुछ भी महत्त्व नहीं। गांधीजी लिखते हैं, 'मुझे अपने आप को शून्य बना लेना चाहिए। जबतक मनुष्य अपनी गिनती पृथ्वी के सारे जीवों

१. ह०, ६-३-१९३७, पृ० २५-६।

२. ह०, १२-१-४७, पृ० ४८८।

३. ह०, १३-१-१९४०, पृ० ४१३।

४. 'आत्म-शुद्धि', अ० १०; ह०, २८-९-१९३५, पृ० २६०-१।

५. 'आत्म-शुद्धि', पृ० ५५-६।

६. आर० बी० ग्रेग का 'इण्डियन रिव्यू' (फरवरी १९३४) में 'दि परसनालिटी आव महात्मा गांधी' शीर्षक लेख, पृ० ८४।

७. आर० बी० ग्रेग नम्रता को "एक प्रकार का आध्यात्मिक समतावाद" कहते है। ('दि पावर आव नान्वायोलेन्स', पृ० २५८)।

के अन्त में नहीं करेगा उसे मोक्ष नहीं मिलेगा।"[1] नम्र मनुष्य को अपनी नम्रता की चेतना नहीं रहती। नम्रता श्रेष्ठता और अपकृष्टता की भावनाओं से अलग रहती है क्योंकि यह दोनों भावनाएँ एकता का नहीं पृथकत्व का लक्षण हैं। नम्रता का अर्थ आलस्य भी नहीं। "नम्रता का अर्थ तीव्रतम पुरुषार्थ है, पर यह सब परमार्थ के लिए होना चाहिए।"[2]

सत्याग्रही के लिए नम्रता नितान्त आवश्यक है क्योंकि जो नम्र नहीं वह विश्वात्मा से पृथक् है और इस प्रकार दुर्बल है। इस प्रकार का मनुष्य अहिंसा का अभ्यास नहीं कर सकता। वह अहिंसक नहीं है क्योंकि उसमें सबके प्रति समभाव नहीं है। उसका अहंभाव सत्य का निषेध है क्योंकि सभी जीवधारी विश्व में अणु समान हैं। नम्रताहीन मनुष्य के लिये अपनी भूल स्वीकार करना असंभव है। जो मनुष्य अपने को कुछ समझता है उसके लिए यह असम्भव है कि वह ईश्वर को पूरी तरह अपना सहारा बनाए और बिना इसके वह सत्याग्रही नहीं बन सकता।

अहंता के बंधन को तोड़ देना, नम्र होना और विश्वात्मा के साथ एकता की अनुभूति—शक्ति का यही महानतम स्रोत है। अहिंसक प्रतिरोध के आन्दोलन में सत्याग्रही नेता के लिए नम्रता अनमोल सम्पत्ति है। वह लम्बी-चौड़ी बात नहीं बनाता, उसका कार्य ही उसका प्रचारक होता है, और उसकी स्थिति की नैतिकता ही उसका शक्ति-स्रोत। उसका नम्रतापूर्ण रुख उसके अनुगामियों का संख्या बढ़ाता है, तटस्थों को भी उसकी ओर लाता है और विरोधियों का विरोध ठंडा करता है। अहिंसात्मक आन्दोलन में नम्रता शीघ्र सफलता मिलने की कुंजी है।

इसी नैतिक अनुशासन को सत्याग्रही को स्वीकार करना होगा। इस अनुशासन में पृथकताशील भावनाओं और प्रवृत्तियों, विशेषरूप से प्रजनन, संचयशीलता, झगड़ालूपन, भय और घृणा का नियमन और उनको ऊर्ध्व-गामी बनाना आवश्यक है। मिस्टर ऐन्ड्रयूज़ के शब्दों में यह अनुशासन

---

१. 'आत्म-कथा' (अ०), भा० २, पृ० ५६३, मनोवैज्ञानिक और आदिम निवासियों की संस्कृति-सम्बन्धी प्रमाणों के आधार पर आर० डी० जिलेस्पी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ऐसे समाज का विकास सम्भव है जिसमें पद और शक्ति प्रमुख मूल्य नहीं हैं और शक्ति-प्रियता की प्रवृत्ति को निरुत्साहित करने से सम्पत्ति संचय की प्रवृत्ति भी दुर्बल हो जाती है। दि साइकोलाजिकल एफेक्ट्स आव वार आन सिटिज़न एण्ड सोल्जर', अ० ३।

२. 'आत्म-शुद्धि', पृ० ५८।

"विवेकबुद्धि के उन विभिन्न आन्तरिक कार्यों का अनोखा सम्मिश्रण है जिसका प्रकाशन प्रतिपालन के बाह्य कार्यों में होता है।"[१] विभिन्न व्रतों का उद्गम-स्थान सत्य होने के कारण उनमें परस्पर निकट का सम्बन्ध है और यदि उनमें से किसी एक की भी उपेक्षा की जाय तो दूसरे व्रतों की भी उपेक्षा होती है।[२] इस प्रकार यह अनुशासन सत्याग्रह का अविभाज्य अङ्ग है। अहिंसात्मक प्रतिरोध, जिसके साथ चालू भाषा में सत्याग्रह समीकृत किया जाता है, इन्हीं मूल्यों का, विशेषकर सत्य और अहिंसा का, झगड़ों में प्रयोग है। यद्यपि प्रत्येक मनुष्य के अन्दर आत्मा की दैवी शक्ति है और इस अनुशासन के अनुसार जीवन को गढ़ने की क्षमता है, पर गांधीजी इस पूरे अनुशासन को उन नेताओं के लिये ही अनिवार्य मानते हैं जो अपने ही प्रयत्नों से सत्य का स्वतन्त्र अनुसंधान करना चाहते हैं। साधारण स्वयंसेवक से भी वह अनुशासन की आशा रखते हैं, किन्तु नैतिक शुद्धता के इस उच्च तल की नहीं जो नेता के लिए आवश्यक है।[३]

प्रारम्भिक अहिंसात्मक आन्दोलनों में, जहाँतक सत्याग्रही अनुगामियों का सम्बन्ध था, गांधीजी का अनुरोध हेतु की अपेक्षा प्रतिपालन के बाह्य कार्यों पर अधिक था। उन्होंने सन् १९२१ ई० में लिखा था, 'मैं मानता हूँ कि सब असहयोगियों का हेतु प्रेम नहीं बल्कि अर्थहीन घृणा है। मनुष्य घृणा से अपने को बलिदान नहीं करता ···किस हेतु से मनुष्य ठीक काम करता है इससे क्या मतलब ?"[४] बाद में भी वह बाह्य-प्रतिपालन पर बहुत ज़ोर देते थे, विशेषरूप से कताई पर जिसको वह अहिंसात्मक अनुशासन की कसौटी और निर्धनों के साथ समीकरण का प्रतीक मानते थे। लेकिन अब उनका मापदण्ड कठिन हो गया था। पिछले आन्दोलनों का हवाला देते हुए उन्होंने सन् १९३९ ई० में लिखा था, "मैं तब अपनी शर्तों में इतना सख़्त न था जितना अब हूँ।"[५] अहिंसा के बारे में वह अब आग्रहपूर्वक कहते थे कि केवल बाह्य-प्रतिपालन काफ़ी नहीं है और जनता को भी प्रतिपक्षी के प्रति मन में दुर्भावना या क्रोध को स्थान नहीं देना

---

१. सी० एफ० एन्ड्रयूज़, 'महात्मा गांधीज़ आइडियाज़', पृ० १११।

२. ह०, ८–६–४७, पृ० १८०।

३. यं० इं०, भा० १, पृ० ३४–६।

४. यं० इं०, भा० १, पृ० २५३–४।

५. ह०, २–१२–३९, पृ० ३६१।

चाहिए।' उनका कहना है कि अगर जनता का अहिंसा में विश्वास बिना पूरी जानकारी के भी हो तो कोई बात नहीं। नेताओं में उन्हें सच्ची श्रद्धा होनी चाहिए। नेताओं का अहिंसा में विश्वास बुद्धियुक्त होना चाहिए और उन्हें चाहिए कि अपने जीवन को पूरी तरह अहिंसामय बनाने का प्रयत्न करें।

लेकिन क्या यह अनुशासन व्यवहार्य है ? क्या गांधीजी अपनी विचार-सरणी में मनुष्य-स्वभाव की सीमा को भुलाकर नहीं चलते ? इसके अतिरिक्त, क्या उनका आदर्श ठीक है ? क्या उससे सर्व-जनहित की सिद्धि हो सकती है ? और यदि आदर्श ठीक भी है तो इन कल्पित सिद्धान्तों का प्रयोग जीवन की वास्तविक परिस्थिति में कैसे होना चाहिये ? इन प्रश्नों का विवेचन हम अगले दो अध्यायों में करेंगे।

: ५ :

मनोवैज्ञानिक मान्यताएँ और नैतिक आदर्श की व्यावहारिकता

राजनैतिक सिद्धान्तों का मनोवैज्ञानिक आधार होता है और गांधीजी के राजनैतिक तत्त्वदर्शन की प्रामाणिकता कुछ अंश में इस बात पर आश्रित है कि वह कहांतक मनुष्य के वास्तविक स्वभाव को समझने में सफल हुए हैं।

उनके आलोचक प्रायः कहते हैं कि उनके तत्त्वदर्शन का मनोवैज्ञानिक आधार दुर्बल है। वह मनुष्य-स्वभाव से असम्भव की, देव-तुल्य व्यवहार की, आशा करते हैं।[1] वह मनुष्य-स्वभाव को वास्तविकता के दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न नहीं करते, मनुष्य की स्वाभाविक त्रुटियों की उपेक्षा करते हैं और मनुष्य-स्वभाव और जीवन को शाश्वत आदर्शों के अनुसार बनाने की मानुषी क्षमता का अतिरञ्जित चित्र खींचते हैं।[2]

दूसरी ओर गांधीजी का कहना है कि वह स्वप्नद्रष्टा नहीं व्यावहारिक आदर्शवादी हैं; उन्होंने "रंग-बिरंगे मनुष्य स्वभाव" को परखा है; और वह मनुष्य-स्वभाव के सतर्क अध्येता हैं।[3] सत्याग्रही नेता की हैसियत से उनका दीर्घकालीन अनुभव, जनता के साथ उनका लगातार सम्पर्क, भारत के उनके दौरे, आधी सदी का उनके देश-विदेश के बहुत-से स्त्री-पुरुषों से पत्र-व्यवहार—निस्संदेह इन सब के कारण उनको मनुष्य-स्वभाव का गम्भीर ज्ञान है।

---

१. उदाहरण के लिए २८ अक्तूबर, १९३९ के हरिजन में गांधीजी का 'काज़ेज़' शीर्षक लेख देखिये।

२. राधाकृष्णन्, 'महात्मा गांधी', पृ० १९१; एम. रत्न स्वामी, 'दि पोलिटिकल फिलासोफी अ व मिस्टर गांधी', पृ० १६।

३. यं० इं०, भा० १, पृ० ६०५, ह०, २–२–३४, पृ० १६ और 'आत्म-कथा' पृ० ३१७।

मनुष्य-स्वभाव

मनुष्य-स्वभाव के बारे में गांधीजी के विचार उनके आध्यात्मिक विश्वासों और नैतिक सिद्धान्तों के साथ अविभाज्यरूप से सम्बन्धित हैं। वह केवल मनुष्य के शारीरिक, बाह्य आचार पर ही ध्यान नहीं देते, बल्कि मनुष्य के वास्तविक स्वभाव, उसके सच्चे आध्यात्मिक स्वरूप को भी जानते हैं। उनकी दृष्टि केवल मनुष्य-स्वभाव की वर्तमान अवस्था तक ही परिमित नहीं रहती, वह हमें बताते हैं कि मनुष्य किस प्रकार अपने स्वभाव को सुधारे और बने जिसमें यथासंभव आत्माभिव्यक्ति हो सके।

गांधीजी का यह विश्वास नहीं कि मनुष्य में जीवन के प्रारम्भ में ही अच्छाई ही अच्छाई होती है और वह एक फ़रिश्ता होता है। "हममें से प्रत्येक में अच्छाई और बुराई का सम्मिश्रण है। क्या हममें प्रचुर मात्रा में बुराई नहीं है? मुझमें तो काफ़ी है……और मैं सदा ईश्वर से मुझे उससे (बुराई से) शुद्ध करने की प्रार्थना करता हूं। मनुष्यों में भेद केवल (अच्छाई-बुराई के) परिमाण का है।"[1]

वह यह मानते हैं कि मनुष्य के पूर्वज जानवर थे। "शायद हम सब प्रारम्भ में जानवर थे। मैं यह विश्वास करने को तैयार हूँ कि हम पशुओं से मनुष्य विकास की धीमी प्रक्रिया से बने हैं।"[2] "मनुष्य को दो मार्गों में से एक को चुनना होगा, ऊर्ध्वगामी या अधोगामी, लेकिन क्योंकि उसके अन्दर पशु है, वह ऊर्ध्वगामी की अपेक्षा अधोगामी को अधिक आसानी से चुनेगा, विशेषकर यदि अधोगामी मार्ग उसके सामने सुन्दर रूप में रक्खा जाय .... अधोगामी प्रवृत्ति उसमें (मनुष्यों में) सन्निहित है।"[3]

ऊंचे से ऊंचे वृक्ष भी आकाश को नहीं छू पाते। गांधीजी का भी विश्वास है कि महानतम मनुष्य भी जब तक वह शरीर के बन्धन में हैं, दोषपूर्ण होते हैं। "निर्दोष कोई (मनुष्य) नहीं, ईश्वरभक्त भी नहीं। वह ईश्वर के भक्त इस कारण नहीं कि वह निर्दोष हैं बल्कि इस कारण हैं कि वह अपने दोषों को जानते हैं और अपने आपको सुधारने के लिए सदा तैयार रहते हैं।"[4] जहां तक गांधीजी का सम्बन्ध है वह अक्सर स्पष्ट शब्दों में उन कमज़ोरियों को स्वीकार करते थे जो कभी-कभी सूक्ष्मरूप से उनको

१. ह०, १०-६-३६, पृ० १८५-६।
२. ह०, २-४-३८, पृ० ६५।
३. ह०, १-२-३५, पृ० ४१०।
४. ह०, २८-१-३६, पृ० ४४६।

विक्षुब्ध करती थीं। स्वाभाविक नम्रता के साथ वह लिखते हैं, "मैं उसी तरह दूषित हो जाने वाले शरीर का जामा पहिने हूं जैसा कि मेरे साथी मनुष्यों में दुर्बलतम पहिने हैं, और इसलिए इसी प्रकार भूलें कर सकता हूं जैसे कि कोई और।"[१]

सामाजिक मनोविज्ञान के विद्यार्थी इस बात से परिचित हैं कि व्यक्तिगत बर्ताव की अपेक्षा समुदायों के सदस्य की हैसियत से मनुष्य का बर्ताव कम नीतिसंगत होता है। समुदाय में साथियों की संख्या से उसकी शक्ति और सुरक्षा की भावना जागृत होती है, उत्तरदायित्व की भावना दुर्बल हो जाती है और वह समुदाय के उत्तेजक प्रभाव के प्रति आत्मसमर्पण कर देता है और ऐसे कार्यों में हिस्सा लेता है जिनसे वह साधारण रीति से अलग रहता। गांधीजी को भी समुदायों की अपेक्षा व्यक्तियों पर अधिक भरोसा है।[२] समुदाय की अपेक्षा व्यक्ति पर बुद्धि का और नैतिक विचारों का अधिक प्रभाव पड़ता है। सत्याग्रही समुदाय इतना अहिंसात्मक और सच्चा नहीं हो सकता जितने कि व्यक्तिगत सत्याग्रही, क्योंकि प्रतिरोध के सामूहिक आंदोलन में ध्यान आन्तरिक शुद्धता से हटकर बाह्याचरण की ओर रहता है और आत्म-शक्ति पर इसका हानिकर प्रभाव पड़ता है। इसी कारण सन् १९३३ ई० में जब गांधीजी ने सामूहिक सविनय आज्ञाभंग (mass civil disobedience) के आन्दोलन को स्थगित कर दिया, तब भी उन्होंने आन्दोलन के व्यक्तिगत रूप को चालू रक्खा। १९४०-४१ के सत्याग्रह को भी उन्होंने सामूहिक आज्ञाभंग से अलग रक्खा और उसको बड़े पैमाने पर वैयक्तिक आज्ञा भंग का आन्दोलन बनाया। गांधीजी समुदायों को अविश्वास की दृष्टि से नहीं देखते, न वह यही मानते हैं कि उनमें सामूहिक सत्याग्रह के प्रयोग की क्षमता नहीं है, लेकिन सामूहिक सत्याग्रह में वह अहिंसा में श्रद्धा, पर्याप्त अनुशासन और सुयोग्य नेतृत्व की आवश्यकता पर ज़ोर देते हैं।

यद्यपि वह व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन में मनुष्य स्वभाव की दुर्बलताओं से अच्छी भांति परिचित हैं, किन्तु वह मनुष्य को स्वभाव से भ्रष्ट, केवलमात्र पशु नहीं मानते। पाप और भूलें और इच्छास्वातन्त्र्य का दुरुपयोग मनुष्य का वास्तविक रूप नहीं है। मनुष्य सब से पहिले आत्मा है और इसी कारण गांधीजी को मनुष्य स्वभाव में अटल श्रद्धा है। अधिक से अधिक पशु-तुल्य मनुष्य में भी आध्यात्मिक अंश, अर्थात् सुधार की क्षमता

---

१. यं० इं०, भा० १, पृ० ६६६।

२. यं० इं०, भा० १, पृ० ६३५।

है, और वह इससे इन्कार नहीं कर सकता। मनुष्यों और पशुओं में अन्तर है, मनुष्यों में देवत्व के अनुभूति की स्वयं-चेतन प्रवृत्ति है। गांधीजी के शब्दों में, "हम पाशवी बल के साथ उत्पन्न हुए थे, लेकिन हम इसलिये उत्पन्न हुए थे कि हम अपने अन्दर रहने वाले ईश्वर का साक्षात्कार कर सकें। यही मनुष्य का विशेषाधिकार है और यही मनुष्य को पशु-सृष्टि से पृथक् करता है।"[1]

दूसरे अध्याय में गांधीजी के आत्मा और मनुष्य के विकास की असीम क्षमता-सम्बन्धी विचारों का वर्णन हो चुका है। मनुष्य-स्वभाव के बारे मे गांधीजी के कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष इन्हीं विचारों पर आधारित हैं। वह मनुष्य के देवत्व मे विश्वास करते हैं। देवत्व का अर्थ यह है कि मनुष्य के लिए बुरा होने की अपेक्षा अच्छा होना अधिक स्वाभाविक है, यद्यपि पतन सुधार की अपेक्षा अधिक आसान मालूम पड़ता है।[2] उनका दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य स्वभाव से ऊर्ध्वगामी है।[3] हिंसा के बीच जीवन का अस्तित्व इस बात का प्रमाण है कि हिंसा, स्वार्थपरता इत्यादि की अपेक्षा प्रेम, सहयोग आदि गुण अधिक प्रभावशाली हैं।

गांधीजी का यह भी विश्वास है कि मनुष्य-स्वभाव में मूलभूत एकता और समानता है और प्रत्येक मनुष्य में उच्चतम विकास की क्षमता है। उनके शब्दों मे, "सब मे एक ही आत्मा है। इसलिये उसकी विकास सम्भावना सब मे समान है।"[4] "मेरे जीवन के नियामक आदर्श मनुष्य जाति के ग्रहण करने के लिए पेश किये जाते हैं। मैंने क्रमिक विकास द्वारा उनको प्राप्त किया है। मुझे तनिक भी सन्देह नही, कोई भी मनुष्य या स्त्री वही प्राप्त कर सकता है जो मैने किया है, यदि वह वैसा ही प्रयत्न करे और उसी आशा और श्रद्धा का अभ्यास करे।" "और मेरा दावा है कि जिस पर मैं व्यवहार करता हूँ, वह सभी के लिये व्यवहार्य है, क्योंकि मैं साधारण मनुष्य हूँ और उन्हीं प्रलोभनों और दुर्बलताओं के खतरे में हूँ जिनके (खतरे में) हम मे से छोटे से छोटा मनुष्य है।"[5] "मुझे मेरे बचपन से शिक्षा मिली है और मैंने

---

१. ह०, २-४-३८, पृ० ६५।
२. ह०, २५-३-३६; पृ० ६४; १९-९-३६, पृ० १०६; और ७-९-३५, पृ० २३४।
३. ह०, १८-५-४०, पृ० १५४।
४. यं० इं०, भा० २, पृ० २०४।
५. यं० इं०, भा० ३, पृ० ५१७।

इस सत्य को अनुभव से जांचा है कि मानवता के प्राथमिक गुणों का विकास मनुष्य-जाति में से निकृष्टतम के लिए संभव है। यही असन्दिग्ध सार्वभौम सम्भावना मनुष्य को ईश्वर के अन्य जीवों से पृथक् करती है।"[१] गांधीजी के इस विश्वास का समर्थन आधुनिक मनोविज्ञान के पण्डितों के इस मत से होता है कि मनुष्य-स्वभाव में बड़े सुधार और परिवर्तन हो चुके हैं और हो सकते हैं।

गांधीजी ने इस बात का विस्तृत विवेचन किया है कि मनुष्य को अपना स्वभाव किस प्रकार का बनाना चाहिए, या दूसरे शब्दों में आत्म-दर्शन के लिये या अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये किन प्रमुख गुणों का अभ्यास करना चाहिए। व्रतों पर आधारित इस नैतिक अनुशासन का विस्तृत वर्णन हम तीसरे और चौथे अध्यायों में कर चुके हैं। इस अनुशासन का अर्थ है पाशवी प्रवृत्तियों और भावनाओं का—प्रजनन, संचयशीलता, झगड़ालूपन, क्रोध और घृणा का—नियंत्रण। विधायक रूप से इस अनुशासन की मांग है कि हम सब के प्रति प्रेम, अर्थात् सब की सेवा, द्वारा सत्य की खोज में लगें। इस प्रकार जान-बूझकर अहिंसा का अभ्यास करना पूर्णता का पथ है।

आदर्श की व्यावहारिकता

लेकिन किसी आदर्श का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सम्भव होना एक बात है, व्यवहार्य होना दूसरी। यद्यपि गांधीजी का आदर्श मनोविज्ञान की दृष्टि से असम्भव नहीं, क्या वह व्यवहार्य है? क्या उच्चतम नैतिक आचरण की मांग से गांधीजी मनुष्य पर बहुत ज्यादा दबाव नहीं डालते? क्या साधारण मनुष्य गांधीजी के आदर्श से प्रभावित होंगे? इसके अतिरिक्त, क्या गांधीजी के आदर्श पर पूरी तरह व्यवहार हो सकता है?

गांधीजी का आदर्श केवलमात्र तर्क-संगत काल्पनिक आदर्श या किताबी सिद्धांत नहीं है। वह कर्मयोगी हैं और सिद्धान्तों के बारे में व्यवहार के सिवा अन्य शब्दों में सोचते ही नहीं। न वह कभी किसी भी ऐसी बात की शिक्षा देते हैं जिस पर उन्होंने स्वयं पूरी तरह आचरण न किया हो। वह ज़ोर देकर कहते हैं कि उनको केवल स्वप्नद्रष्टा समझना नितांत भ्रमपूर्ण है। उनके अनुसार उनका आदर्श केवल थोड़े से चुने हुए मनुष्यों के लिए नहीं बल्कि सम्पूर्ण मनुष्य जाति के दैनिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यवहार के लिए है।

---

१. ह० १६-५-३६, पृ० १०६।

गांधीजी इस बात की आशा नहीं करते कि अहिंसा के आदर्श का पूर्ण अभ्यास हो सकेगा। वह इस बात मे विश्वास नहीं करते कि मनुष्य कभी निर्दोष, पूर्ण हो जायगा। लेकिन उनको विश्वास है कि मनुष्य मे पूर्णता की ओर बढ़ने की, दोषों से छुटकारा पाने का प्रयत्न करने की, बेहद क्षमता है। दूसरे शब्दों में, उनको मनुष्य की पूर्णता मे नहीं पूर्णता की ओर बढ़ने की क्षमता मे विश्वास है। जब तक मनुष्य इस शरीर के बंधन में है, वह प्रयत्न करने से आदर्श के निकट पहुँच सकता है लेकिन उसे पूरी तरह जीवन मे कभी नहीं उतार सकता। वह लिखते हैं, "हमे आदर्श के बारे में निश्चित होना चाहिए। हम सदा उसकी पूर्ण अनुभूति मे असफल रहेंगे लेकिन हमको उसके लिए प्रयत्न करने मे कभी न रुकना चाहिए।"[१] "आदर्श और व्यवहार मे सदा अन्तर रहेगा। यदि आदर्श की (पूर्ण) अनुभूति संभव हो तो आदर्श आदर्श न रह जायगा।"[२]

गांधीजी के अनुसार आदर्श स्थिति पूर्ण स्थिति है और शरीर के बंधन से मर्यादित होने के कारण हम केवल शरीर के विनाश के बाद ही पूर्णता प्राप्त कर सकते है।[३] इसके अतिरिक्त "यदि पूर्णता की स्थिति शरीरधारी मनुष्य की पहुँच मे होती तो आदर्श की उस अनवरत खोज, उसके लिए उस सतत प्रयास की—जो आध्यात्मिक विकास का आधार है—गुंजाइश कहां होती?"[४] इस कारण गांधीजी साध्य की अपेक्षा साधन पर, सफलता की अपेक्षा प्रयास पर अधिक ज़ोर देते हैं। वह शाश्वत प्रयत्नशीलता मे विश्वास करते हैं।

गांधीजी जानते हैं कि स्वभाव पर नियन्त्रण रखने में और उसको सुधारने मे, जीवन भर के लगभग अमिट संस्कारों को मिटाने में कितना कष्ट सहना पड़ता है और कितने संकटपूर्ण मानसिक संघर्ष का सामना करना पड़ता है। वह लिखते हैं, "पुराने संस्कारों को मिटाना सबके लिए आसान नहीं है, कम-से-कम मेरे लिए तो नहीं है"।[५] वह जानते हैं कि स्वयं अपने जीवन मे अशुभ को जीतना और सच्चे और अहिंसात्मक बनना कठिन प्रक्रिया है। सन् १९३६ ई० में डा० थर्मन से बातचीत करते हुए उन्होंने कहा था,

१. स्पीचेज, पृ० ३०१।
२ ह० १४-१०-३६, पृ० ३०२।
३. ह०, १७-४-३७, पृ० ८७।
४. यं० इं०, भा० ३, पृ० ६४०।
५. यं० इं०, भा० २, पृ० १२०४।

"स्वयं अपने जीवन में अहिंसा की अभिव्यक्ति की पूर्वमान्यता है गम्भीर अध्ययन, महान् अध्यवसाय, और अपने आपको सब दोषों से पूरी तरह शुद्ध करना। यदि भौतिक विज्ञानों का पूर्णज्ञान प्राप्त करने के लिए आपको पूरा जीवन लगा देना पड़ता है तो सबसे महान आध्यात्मिक शक्ति का—जिसको मनुष्य जान सकता है—पूरा ज्ञान प्राप्त करने के लिए कितने जीवनों की आवश्यकता होगी—लेकिन यदि कई जीवन भी लग जांय तो क्या चिन्ता ? क्योंकि यदि जीवन में एक यही स्थायी वस्तु है, यदि यही केवलमात्र महत्त्वपूर्ण वस्तु है, तो आप उसका ज्ञान प्राप्त करने में जितना भी प्रयत्न करेंगे वह उचित ही होगा।"[१]

जीवन की नैतिक पुनर्रचना का कार्य आज बहुत कठिन हो गया है, क्योंकि आधुनिक सभ्यता ने हानिकर मूल्यों पर—वासना-संतुष्टि, संचयप्रियता, प्रतिद्वन्द्वता और दूसरी स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियों पर—ज़ोर देकर हमारी नैतिक दृष्टि को दुर्बल बना दिया है। गांधीजी अच्छी तरह जानते हैं कि उनका सत्याग्रही अनुशासन ऊंचा आदर्श है और अधिकतर मनुष्यों के लिए धनलिप्सा और वासनाप्रियता के प्रलोभनों के कारण इस अनुशासन को स्वीकार करना बहुत कठिन होगा। इसलिए वह प्रत्येक से यह आशा नहीं करते कि वह तुरन्त इस आदर्श पर व्यवहार करने लगेगा। लेकिन वह निराशावादी भी नहीं है। उनका कहना है कि हमें न तो इस आदर्श से डरना चाहिए, न निराशा के कारण आदर्श पर चलने का प्रयत्न छोड़ देना चाहिए और न आदर्श को नीचे गिराना चाहिए, क्योंकि "अपनी सुविधा के लिए आदर्श को नीचे गिराने में असत्य है, हमारा पतन है।"[२]

गांधीजी हमारे सामने बहुत भारी मांग भी नहीं रखते। वह जानते हैं कि स्वभाव धीरे-धीरे, प्रयत्न और कष्ट-सहन की क्रमिक प्रक्रिया द्वारा बदलता है। उनकी मांग केवल यह है कि हमारा आदर्श ठीक हो, हम आशा और श्रद्धा रक्खें, अपनी मर्यादा को समझें और यथाशक्ति आदर्श तक पहुंचने का सच्चा प्रयत्न करें। उनका मत है कि अधिकतम सफलता का यही मार्ग है। इस प्रकार वह उतावले नहीं हैं। वह धीमे लगातार विकास के लिए पर्याप्त समय देते हैं। 'यदि समय लगता है तो वह समग्र काल-चक्र का अणुमात्र है।"[३] इसके अतिरिक्त पुनर्जन्म के सिद्धांत के अनुसार इस जीवन की नैतिक

---

१. ह०, १४-३-१९३६, पृ० ९९३।

२. 'आत्म-शुद्धि', पृ० १६।

३. ह०, १५-६-३५, पृ० १३८।

उन्नति भविष्य में हमें प्राप्त होगी। "मुझे पुनर्जन्म में उसी प्रकार विश्वास है जिस प्रकार अपने वर्तमान शरीर के अस्तित्व में। इसलिए मैं जानता हूं कि थोड़ा भी प्रयत्न बेकार न जायगा।"[1] उनको जनता पर नेताओं के दृष्टान्त के प्रभाव का भी भरोसा है। वह हिन्दस्वराज्य में लिखते हैं, "जैसा कुछ करेंगे वैसा ही उनको देखादेखी दूसरे भी करेंगे। ...पहले एक ही आदमी ऐसा करेगा, फिर दस, उसके बाद सौ, इस तरह बढ़ते ही जायंगे; क्योंकि समाज के बड़े आदमी, यानी नेता लोग जो करते हैं, उसी का फिर आम लोग भी अनुसरण करने लगते हैं।"[2] इस प्रकार गांधीजी इस बात पर ज़ोर देते हैं कि हमारा मार्ग ठीक हो और हम सच्चे उत्साह से प्रयत्न करें।

हो सकता है कि सत्य और प्रेम का आदर्श आज मनुष्यों को बहुत कठिन, आकर्षणहीन और अव्यवहार्य लगे, लेकिन वास्तविक महत्व है आदर्श की शुद्धता का न कि जन-साधारण को उसके अव्यवहार्य मालूम होने का। एक समय था जब मनुष्य हिंसा की तरह दासता, नरमांस भक्षण और ऐसी बहुत-सी दूसरी बुराइयों के—जो आज इतनी घृणित लगती हैं—त्याग के बारे में संशयपूर्ण थे। "आधुनिक विज्ञान हमारी याद में असंभव मालूम पड़ने वाली बातों के संभव हो जाने के दृष्टान्तों से भरा है। लेकिन भौतिक विज्ञान की सफलताएं जीवन के विज्ञान की—जिसका सार है हमारे जीवन का नियम प्रेम—सफलता के सामने कुछ भी नहीं है।"[3]

यह दोहराना आवश्यक नहीं कि गांधीजी ज़बरदस्ती स्वाभाविक प्रवृत्तियों को दबाने के हानिकर और रोगजनक प्रभाव को अच्छी तरह जानते हैं। पिछले अध्याय में हम उनके लेखों से यह प्रमाणित करने वाले उद्धरण दे चुके हैं कि वह प्रवृत्तियों को बलपूर्वक दबाने को प्रोत्साहन नहीं देते। उनका नैतिक अनुशासन आवश्यकरूप से प्रवृत्तियों और भावनाओं को ऊर्ध्वगामी बनाने की प्रक्रिया है और उसमें केवल विवेकबुद्धि के आंतरिक कार्य ही नहीं, उनके अनुरूप प्रतिपालन के बाह्य कार्य भी सम्मिलित हैं। अस्वाद, शरीर-श्रम और अपरिग्रह इत्यादि के व्रतों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि गांधीजी प्रवृत्तियों को ऊर्ध्वगामी बनाने की प्रक्रिया में कार्य को बहुत महत्त्वपूर्ण समझते हैं। उनका विश्वास है कि, "जैसे ही व्यक्ति उन सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करता है जिनमें उसको विश्वास है वैसी ही, उसे सफलता

१. यं० इं०, भा० २, पृ० ११०४।
२. 'हिन्द-स्वराज्य', पृ० १८३।
३. ह०, २६–६–३६।

मिलती है।"[1] गांधीजी मौन, प्रार्थना और उपवास को भी नैतिक विकास की प्रक्रिया में लाभप्रद सहायक समझते हैं।[2]

संक्षेप में, गांधीजी मनुष्य के शारीरिक आचरण को मनुष्य-स्वभाव का एक अंशमात्र मानते हैं। अपने दर्शन मे वह मनुष्य के शारीरिक आचरण के अतिरिक्त उसके वास्तविक आध्यात्मिक स्वरूप को भी ध्यान में रखते हैं। वह हमें यह बताते हैं कि किस प्रकार मनुष्य अपनी इन्द्रियों को नियंत्रण में रख सकता है और अपनी उच्च प्रवृत्तियों का विकास कर सकता है। इस आत्म-नियंत्रण और विकास के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य आदतों का दास न बनकर इच्छाशक्ति के प्रयोग के, आत्म-परिचालन के, मार्ग पर चले। यह गांधीजी का दृढ़ विश्वास है—और इस विश्वास का स्रोत ईश्वर मे उनकी श्रद्धा है—कि मनुष्य-स्वभाव पूरी तरह निर्धारित और न बदलने वाला नही है और प्रत्येक मनुष्य को जीवन के सुधारने की बेहद गुञ्जाइश है। सत्याग्रह का आधार यह मनोवैज्ञानिक पूर्वमान्यता है कि निकृष्टतम विरोधी की आन्तरिक अच्छाई सच्चे मनुष्य के शुद्ध कष्टसहन द्वारा जागृत हो सकती है। इस प्रकार सत्य की साधना, अर्थात् अहिंसा का बोधपूर्ण अभ्यास, न तो असंभव है और न अव्यवहार्य ही है, यद्यपि वह एक कठिन आदर्श है और उसे जीवन मे उतारने के लिए अनवरत प्रयत्न और सतत् जागरूकता की आवश्यकता है।

कष्ट-सहन और त्याग का औचित्य

लेकिन यद्यपि गांधीजी का आदर्श मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से असंभव और अव्यवहार्य नहीं है, स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ टैगोर और दूसरे विचारकों ने उसकी आलोचना की है और उसको चरमवादी, त्यागप्रधान, निषेधात्मक, अपूर्ण और अनुचित बतलाया है। यह कहा जाता है कि गांधीजी का आदर्श तपस्या और वैराग्य पर नामुनासिब ज़ोर देता है और जीवन को अनाकर्षक और सूना बना देता है। आलोचकों के अनुसार गांधीजी संन्यास के लिए संन्यास की व्यवस्था करते हैं; अर्थात संन्यास को ही जीवन का ध्येय बना देते हैं; कला के लिए गुञ्जाइश नहीं रखते; और जीवन से बहुत-कुछ प्रसन्नता और महत्व को हटा देते हैं। उनके आदर्श का अर्थ है जीवन से भागना और अनुभव को अस्वीकार करना। जापानी कवि योन नगूची गांधीजी को "भूख

---

१. 'इण्डियन रिव्यू' (जुलाई, १६३८) में पी० स्प्रैट के गांधीजी के सम्बन्ध में लेख में उद्धृत, पृ० ४४६।

२. इनके संक्षिप्त वर्णन के लिए अ० ६ देखिये।

और दुःख के अनन्त पथ का पथिक" कहता है। उनका एक आलोचक, जो उनको "त्याग का धर्मशिक्षक" कहता है, लिखता है, "गांधीजी उस प्रकार के संन्यासी हैं जो इसलिए शरीर को कसते हैं, और प्रत्येक वस्तु की, जो केवलमात्र जीविका के लिए अनावश्यक है, निन्दा करते हैं और शरीर के विनाश के लिए जल्दी करते हैं जिससे शरीर मे क़ैद आत्मा शीघ्रता से ईश्वर से ऐक्य स्थापित कर ले।"[1]

निर्संदेह गांधीजी का मत है कि शक्ति-प्रियता और वासनाओं का शरीर आत्मा की उच्चतम उन्नति में रुकावट है।[2] उनका विश्वास है कि कष्टसहन और त्याग, शरीर को लगातार कसना, यह जीवन की प्रासंगिक नहीं, केन्द्रीय वास्तविकताएं हैं और नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए आवश्यक हैं। जब वह लंदन में विद्यार्थी थे तभी त्याग मे धर्म है यह बात उनके दिल को जंच गई थी।[3] अपने एक लेख मे जिसमें उन्होंने अपने धार्मिक और नैतिक विश्वासों का वर्णन किया है वह लिखते हैं, "सामान्य रीति से यह सिद्धान्त बनाया जा सकता है कि भौतिक सहूलियतों में वृद्धि किसी प्रकार भी नैतिक उन्नति मे सहायक नहीं होती।"[4] "सुखी जीवन का भेद त्याग में है। त्याग जीवन है। भोगविलास का अर्थ है मृत्यु।"[5] उनका यह दृढ विश्वास है कि, "जैसे-जैसे आप शरीर को कसते हैं उसी अनुपात मे आत्म-शक्ति बढ़ती है।"[6] 'बिना शरीर को कसे ईश्वर का साक्षात्कार असंभव है। देवमन्दिर मानकर शरीर के लिए आवश्यक कार्य करना एक बात है और अस्थिचर्म के शरीर की तरह जो उसकी मांग है उसका निषेध दूसरी बात है।"[7] "एक हद के बाद जैसे-जैसे आत्मा की उन्नति होती है उसी अनुपात मे शरीर कृश

१. मिलर, 'गाधी, दि होली मैन', पृ० १५७; राधाकृष्णन्, 'महात्मा गाधी' पृ० १६१, २०२, २५०; 'इण्डियन रिव्यू' (जुलाई १६३८) में जॉ० स्प्रैट का गाधीजी पर लेख, पृ० ४५१; 'माडर्न रिव्यू' (जुलाई, १६३१), ए० आर० वाडिया का 'गाधीजी एण्ड मशीन्स' शीर्षक लेख पृ० ८८।

२. य० इं०, भा० २, पृ० १०३४।

३. 'आत्म-कथा', पृ० ७६।

४. 'स्पीचेज़', पृ० ७७०।

५. ह०, २४-२-४६, पृ० १६।

६. यं० इं०, भा० १, पृ० १०७।

७. ह०, १०-१२-३८, पृ० ३७३।

होता है।"[1] इस प्रकार उनके अनुसार "कष्टसहन करने वाले के कष्ट-सहन का परिमाण उन्नति की माप है। जितना शुद्ध कष्ट-सहन होगा, उतनी ही अधिक उन्नति।"[2]

लेकिन गांधीजी कष्ट-सहन को आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक क्यों मानते हैं? आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का अर्थ है सबसे प्रेम करने की, अर्थात् सबके लिए कष्ट सहने की, क्षमता। कष्ट सहने वाले प्रेम के आदर्श के उच्चतम तल तक पहुँचने के लिए हमें सबसे अधिक निर्धन और दीन की सी दशा में रहना होगा। इसलिए हमें अपनी आवश्यकताओं को परिमित करना होगा और आत्मा के विकास के लिए शरीर पर नियंत्रण रखना होगा। गांधीजी कहते हैं, "सब जीवधारियों के साथ एकता की अनुभूति के लिए जो बलिदान मनुष्य कर सकता है उसकी कोई भी सीमा नहीं, लेकिन निस्सन्देह इस आदर्श की महत्ता आपकी आवश्यकताओं को मर्यादित कर देती है...।"[3] वासना-प्रियता और आवश्यकताओं को बढ़ाने की गुञ्जाइश नहीं, "क्योंकि यह विश्वात्मा के साथ अन्तिम एकता-स्थापन की ओर उन्नति में बाधक है।"[4]

लेकिन त्याग से गांधीजी का अर्थ वह संसार-विमुखता नहीं जिसके कारण मनुष्य वर्तमान जीवन की मांगों की उपेक्षा करके जंगल की राह लेता है। "कुछ काम न करना त्याग नहीं है। वह अकर्मण्यता है।" वह चाहते हैं कि हम उस त्याग-वृत्ति का विकास करें जो कार्य को ईश्वर-प्रार्थना का रूप देती है और हमें प्रेम और सेवा करने योग्य बनाती है। वह चाहते हैं कि हमारा जीवन आत्म-समर्पण का जीवन हो, हम प्रत्येक कार्य बलिदान की भावना से करें और अपनी क्षमता का उपयोग जन-सेवा के लिए करें।[5] इस प्रकार गांधीजी त्याग और आत्म-विकास का सामाजिक और राजनैतिक जीवन के कर्तव्यों के साथ सामंजस्य स्थापित करते हैं। यह दोहराना शायद अनावश्यक है कि गांधीजी के आदर्श का अर्थ अस्वास्थ्यकर, इन्द्रिय-दमन नहीं, विवेकपूर्ण त्याग है। इस प्रकार वह त्याग की व्यवस्था त्याग के लिए नहीं, किन्तु मनुष्य को ज्ञात उच्चतम आदर्श—सेवामय प्रेम के

---

१. यं० इं०, भा० २, पृ० १२०३।

२. यं० इं०, भा० १, पृ० २३१।

३. ह०, २६–१२–३६, पृ० ३६५।

४. ह०, २०–४–३५, पृ० ७५।

५. 'आत्म-शुद्धि', अ० १५।

आदर्शों—की सिद्धि के लिये आवश्यक साधन के रूप में करते हैं।

और न उपर्युक्त भावना से स्वीकृत कष्ट-सहन और त्याग हमारे जीवन को विफल, सूना, शुष्क और हर्षरहित ही बना देते हैं। गांधीजी जिन सिद्धान्तों की शिक्षा देते थे उनके ही अनुसार रहते भी थे। और वह संसार के श्रेष्ठतम ज्ञानी और प्रसन्न व्यक्तियों में से थे। जिन लोगों ने ध्यान से भारतवर्ष के अहिंसात्मक आन्दोलनों का अध्ययन किया है उन्हें ज्ञात है कि स्वेच्छा और प्रसन्नता से स्वीकार किया हुआ कष्ट-सहन नैतिक विकास में कितना अधिक सहायक होता है।

जैसा कि गांधीजी कहते हैं, आनन्द का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है; वह जीवन के प्रति हमारे रुख पर आश्रित है और व्यक्तिगत और राष्ट्रीय शिक्षा से निर्धारित होता है।[1] गांधीजी की शिक्षा है कि हम आधुनिक सभ्यता की नैतिक विश्रृंखलता की स्थिति में प्राचीन भारतीय ऋषियों के प्रेयस और श्रेयस के—शारीरिक सम्वेदनों के आनन्द के जीवन और जीवन के वास्तविक सुख के—भेद को न भूल बैठें।

वास्तविक सुख का स्रोत है नम्रता और आत्मत्याग, न कि अहंता; आवश्यकताओं को नियन्त्रित और कम करना, न कि उनकी निरन्तर असीम वृद्धि। वास्तविक सुख सामञ्जस्यपूर्ण, सप्रयोजन, अनुशासन के जीवन का, दूसरों का दुःख बंटाने का और उनका बोझ हल्का करने का फल है। हो सकता है कि दूर से गांधीजी का बताया हुआ अनुशासन कठिन और भयावह मालूम पड़े, लेकिन जब मनुष्य उसके अनुसार अपने जीवन की पुनर्रचना करने लगता है, तो उसे मालूम होता है कि जीवन को नीरस और दुःखद बनाना तो दूर रहा, उलटे वह अनुशासन हमारी स्वतन्त्रता को बढ़ाता है और उसका बोझ सह्य और हल्का है।

कला

यह कहना भी ठीक नहीं कि गांधीजी के आदर्शों में कला के लिए स्थान नहीं।[2] हां, कला के सौन्दर्य-निरूपण सम्बन्धी साधारणतः मान्य विचारों से गांधीजी का मतभेद है। उनका मत है कि प्राकृतिक सौन्दर्य के शाश्वत प्रतीकों की अपेक्षा—नक्षत्रों के आकाश के विस्तृत, असीम दृश्य, चांद-चन्द्र का सौन्दर्य, सूर्यास्त की अलौकिकता, सर्वोत्कृष्ट सत्य (सृष्टा) की याद

१. इस भेद के लिये 'कठोपनिषद्' देखिए।

२. कला सम्बन्धी गांधीजी के विचारों के लिए देखिए—य० इं०, भा० २, पृ० १०२५-२६; और फुलप मिलर, 'गांधी दि होली मैन', पृ० ६०-६४।

दिखाने वाली इन प्राकृतिक कला-कृतियों की अपेक्षा—मानुषी कला तुच्छ और अपूर्ण है। जहां तक मानुषी कला का सम्बन्ध है गांधीजी उसकी क़द्र उसके बाह्य रूप की सुन्दरता से नहीं, उसके विषय की नैतिकता से और आत्म-साक्षात्कार में उसकी सहायता की उपयोगिता से करते हैं। जिसमें सत्य की अभिव्यक्ति है, जिसमें ऊर्ध्वगामी प्रवृत्ति की, आत्मा के दैवी असन्तोष की, अभिव्यञ्जना या सहायता होती है, वही सच्ची कला है। इस तरह वह संगीत की क़द्र इसलिए नहीं करते कि वह तथाकथित रस सिद्धान्त के अनुसार ठीक उतरता है, बल्कि इसलिए कि वह प्रार्थना और नैतिक उन्नति में सहायक है। उनका विश्वास है कि चित्र, गायन इत्यादि बाह्य आकारों की अपेक्षा शुद्ध आचरण में अभिव्यक्त मनुष्य की नैतिक पवित्रता कला का उत्तर प्रकाशन है। "यज्ञमय जीवन कला की पराकाष्ठा है।"[१] गांधीजी यह मानते हैं कि सम्भव है, कलाकार सत्य को सुन्दरता में और उसके द्वारा देख सके, लेकिन उनके सभी विचार जनहित से सम्बन्धित रहते हैं और उनका मत है कि जनता को पहिले सत्य दिखाना चाहिए। सत्य को जानने के बाद मनुष्य सुन्दरता को देख लेंगे। गांधीजी उपयोगिता से असम्बन्धित सुन्दरता के प्रति उदासीन थे। उनका मत था कि जो उपयोगी है वह सुन्दर भी हो सकता है।[२]

चरित्र और बुद्धि

यह भी कहा गया है कि गांधीजी पूरा ज़ोर चरित्र पर देते हैं और बौद्धिक शिक्षा और विकास को महत्त्व नहीं देते और बुद्धि के बिना चरित्र का बहुत मूल्य नहीं है।[३] निःसंदेह गांधीजी का विश्वास है कि चरित्रहीन बुद्धि ख़तरनाक है। विनाशकता की कला की आश्चर्यजनक उन्नति यह प्रदर्शित करती है कि मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग अपने विनाश के लिए भी कर सकता है। लेकिन अहिंसा के अभ्यास में गांधीजी बुद्धि की महत्ता पर उचित ज़ोर देते हैं। उनकी राय है कि अहिंसा में विश्वास, विशेषकर नेताओं का, बुद्धियुक्त और सृजनात्मक होना चाहिए। "यदि हिंसा के क्षेत्र में बुद्धि का महत्त्वपूर्ण स्थान है, तो अहिंसा के क्षेत्र में यह स्थान और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।"[४] "अहिंसा के सच्चे अभ्यास का अर्थ है अभ्यास करने वाले में तीक्ष्णतम बुद्धि

---

१. 'आत्म-शुद्धि', पृ० ७२।

२. ह०, ७-४-४६, पृ० ६७।

३. जवाहरलाल नेहरू, 'जवाहरलाल नेहरू' (अं), पृ० ५०६।

४. ह०, २१-७-४०, पृ० २१०।

और जागरूक अन्तरात्मा।"[1] पर गांधीजी प्राथमिक वस्तुओं को पहिले रखते हैं और उनका विश्वास है कि अहिंसा के बोधपूर्ण अभ्यास से सत्याग्रही का बौद्धिक विकास अवश्य होगा। हरिजन-सेवा का हवाला देते हुए उन्होंने सन् १९३६ में लिखा था, "इस सेवा के प्रेम के साथ शुद्ध चरित्र से निःसन्देह आवश्यक बौद्धिक और व्यवस्था सम्बन्धी क्षमता प्राप्त या विकसित होगी।"[2]

कष्ट-सहन और बलिदान पर आश्रित यह अनुशासन सत्याग्रही नेता के लिए अनिवार्य है। वह उसकी नैतिक अनुभूति को परिष्कृत करता है। इसके अतिरिक्त अहिंसात्मक प्रतिरोध के आन्दोलन में जेलयात्रा, शारीरिक यातनाएं और कभी-कभी मृत्यु भी सहना पड़ता है। इस कष्ट-सहन के लिए आवश्यक है कि सत्याग्रही अपने शरीर को इस प्रकार कसे कि शरीर उस अत्याचारी की—जो सत्याग्रही को अपनी इच्छा के अनुसार चलाने का प्रयत्न करता है—दी हुई यातनाओं को सह सके। जबतक सत्याग्रही नेता अपने जीवन में सेवा और कष्ट-सहन के आदर्शों को उतार न ले वह अपने अनुगामियों को इन आदर्शों से प्रभावित नहीं कर सकता।

गांधीजी और समाजवादी दोनों का सामाजिक आदर्श है अहिंसक जनतन्त्र। इस समाज की पूर्वमान्यता है साधारण मनुष्य के स्वभाव का सुधार जिससे वह बिना किसी दबाव के समाज-सेवा की मांग को पूरा कर सके। लेकिन साधारण मनुष्य की इस उन्नति के लिए हमें ऐसे नेताओं और पथ-प्रदर्शकों की आवश्यकता है जो प्रेम और बलिदान के आदर्शों के जीवित दृष्टांत हों। जिनका जीवन विलासिता और वासनाप्रियता का है और जो दूसरों का कष्ट बांटने के बजाय हिंसा का प्रयोग करते हैं अर्थात् दूसरों पर कष्ट-सहन का बोझ लादते हैं, वह समाज को विकास के अहिंसक धरातल पर नहीं पहुँचा सकते।

यह सोचना कि गांधीजी का अहिंसात्मक आदर्श जीवन को पिछड़ा हुआ, असंस्कृत बनाता है नितान्त भ्रमपूर्ण है। उनके ही शब्दों में, "... यह अज्ञानपूर्ण, अन्धकारमय काल की ओर वापस जाने का प्रयत्न नहीं है। लेकिन यह स्वेच्छा से स्वीकार की हुई सादगी, निर्धनता और धीमेपन में सौंदर्य पाने का प्रयत्न है।"[3] जटिल, केन्द्रीकृत राजनैतिक और आर्थिक जीवन शोषण के अवसरों को बढ़ाता है और अहिंसक मूल्यों का

१. ह०, ८-६-४०, पृ० २७४।

२. ह०, ७-११-३६, पृ० ३०८।

३. ह०, १४-१०-३६, पृ० ३०७।

बलिदान करता है। अहिंसक जीवन अर्थात् सेवा का जीवन गांधीजी के अनुसार आवश्यक रूप से सरल और स्वावलम्बी होगा और खेती और उसके सहायक धन्धों से सम्बन्धित होगा। इसका अर्थ है विकेन्द्रित सत्याग्रही समूहों की ग्रामीण सभ्यता और सादगी, स्वतन्त्रता और विकास के अवसरों से भरापूरा नवीन बोधपूर्ण जीवन।

इस प्रकार के समाज की ओर बढ़ने का एकमात्र मार्ग है जनता द्वारा सत्याग्रही नेताओं के पथ-प्रदर्शन में अहिंसा का अभ्यास।

: ६ :

सत्याग्रही नेता की निर्णय-प्रक्रिया

सत्याग्रही नेता अहिंसक साधनों द्वारा सत्य की साधना करता है। उसका प्रमुख नैतिक सिद्धान्त यह है कि जो सत्य और अहिंसा के विरुद्ध है वह वर्ज्य है; किन्तु जब वह इस सिद्धान्त का जीवन की वास्तविक घटनाओं में प्रयोग करता है और इस बात के निर्णय का प्रयत्न करता है कि सत्य और अहिंसा के विरुद्ध क्या है तो कठिनाइयाँ सामने आती हैं। कभी-कभी दो कर्तव्यों मे आन्तरिक विरोध होता है। इस आन्तरिक विक्षोभ मे सत्याग्रही कर्तव्य-पथ का निर्णय किस प्रकार करे ? नैतिक संकटों मे उसका अन्तिम पथ-प्रदर्शक कौन हो ? क्या वह जनमत को अपने निर्णय का आधार बनावे या वह स्वयं अपने भरोसे रहे ? और यदि वह स्वयं अपना कर्तव्य निश्चित करे तो उसका साधन बुद्धि हो या प्रतिभान और अन्तरात्मा ?

जनमत

इस प्रश्न पर गांधीजी का मत उनके जीवन से और लेखों मे बिखरे हुए उनके विचारों से मिलता है। गांधीजी जन-तन्त्र मे जनमत को उपयुक्त महत्ता देते हैं। उनका विश्वास था कि जिन बातों में व्यक्तिगत धर्म या नैतिक सिद्धान्तो के त्याग का प्रश्न नही उठता उसमे सत्याग्रही को जनमत के सामने झुकना चाहिए।[1] लेकिन नैतिक दृष्टिकोण मे प्राथमिक महत्व के मामलों में सत्याग्रही को, जिसने नैतिक अनुशासन का अभ्यास किया है, अन्तिम निर्णय अपने आप करना चाहिए। उसकी आत्मा नीति-निर्धारक सत्ता का स्थान है। उसकी विवेक-बुद्धि जो ईश्वर की आवाज़ है, प्रत्येक कार्य और विचार के नीति-संगत होने की अन्तिम निर्णायक है।[2]

बुद्धि और प्रतिभान

साधारण रीति से हमारे निर्णयों में बुद्धि का स्थान बहुत गौण और

१. य० इं०, भा० १, पृ० २०७-८।

२. 'नीति-धर्म', पृ० ४१।

अधीनता का होता है। गांधीजी के शब्दों में, "......"मनुष्य का अन्तिम पथ-प्रदर्शन बुद्धि से नहीं, हृदय से होता है। हृदय निष्कर्षों को स्वीकार कर लेता है और बुद्धि बाद में उनके लिए युक्ति खोजती है। तर्क विश्वास का अनुगामी होता है। मनुष्य जो कुछ करता है या करना चाहता है उसके समर्थन में कारण खोज लेता है।"[1] इस प्रकार वास्तविक जीवन में बुद्धि भावना के अधीन है। लेकिन गांधीजी बुद्धि को उचित महत्व देते हैं। उनका मत है कि "बुद्धिगम्य मामलों में जो तर्क-विरुद्ध है वह त्याज्य है।"[2] लेकिन वह बुद्धि के सर्वशक्तिमान होने के दावे को नहीं मानते। उनके अनुसार ऐसी भी बातें हैं जिनमें बुद्धि हमें दूर तक नहीं ले जा सकती और हमें श्रद्धा पर आश्रित होना पड़ता है। जैसा कि हम पहिले बता चुके हैं मालूम होता है कि श्रद्धा से गांधीजी का अर्थ है प्रतिभान या प्रत्यक्ष अनुभूति।[3]

आध्यात्मिक तत्त्व का ज्ञान, जैसा कि दूसरे अध्याय में बताया गया है, केवलमात्र बुद्धि द्वारा नहीं, प्रतिभान या प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा होता है। नैतिक नेतृत्व के लिए सत्याग्रही बुद्धिगम्य बातों में बुद्धि पर भरोसा कर सकता है, लेकिन सत्याग्रही आत्म-शक्ति का उपयोग करता है और उसके महत्त्वपूर्ण निर्णयों का आधार बुद्धि नहीं, श्रद्धा और प्रतिभान ही होंगे।

गांधीजी के सब विख्यात निर्णय, सन् १९२८ ई० का बारदोली का निर्णय, सन् १९३० ई० के सत्याग्रह-सम्बन्धी और सन् १९४०–४१ ई० सत्याग्रह को प्रारम्भ करने का निर्णय, प्रतिभानजन्य थे। अन्तिम निर्णय के बारे में गांधीजी कहते हैं, "वह मेरी बुद्धि से नहीं आया है। वह हृदय से, जहाँ अन्तरतम (आत्मा) का निवास है, आया है। उसी ने यह निर्णय दिया है।"[4]

यद्यपि बुद्धि प्रतिभान का स्थान नहीं ले सकती, वह प्रतिभान द्वारा ज्ञात सत्य को दूसरों को समझाने में सत्याग्रही की सहायता कर सकती है। वह उसे और दूसरों को निर्णय की औचित्य परखने में भी सहायता दे सकती है।

नेता और समुदाय

लेकिन अपूर्ण मनुष्य, यद्यपि उसने नैतिक अनुशासन का अभ्यास भी

१. यं० इं०, भा० २, पृ० ६३४।
२. ह०, ६-३-३७, पृ० २६।
३. दूसरा अध्याय देखिए।
४. ह०, २२-६-४०, पृ० २८६।

किया हो, सत्य को पूर्णरूप से नहीं जान सकता। इसलिए वह इस बात का दावा नहीं कर सकता कि अन्तरात्मा द्वारा उसे अपने निर्णय में अचूक पथ-प्रदर्शन मिला है।[1] हो सकता है कि जिसे वह प्रेरणा मानता है वह उसकी भ्रान्ति हो; उसका प्रतिभान प्रकाशहीन हो; उसकी बुद्धि उसे पथभ्रष्ट कर दे; उसकी भावनाएं, आशाएं और इच्छाएं कभी-कभी उसके निर्णय को दोषपूर्ण बना दें। क्या यह श्रेयस्कर न होगा कि सत्याग्रही आवश्यक बातों में भी जनमत पर, समाज की सामूहिक बुद्धिमत्ता पर आश्रित रहे?

गांधीजी इस मत को नहीं मानते सत्याग्रही को, जिसका ध्येय समाज का नैतिक नव-संस्करण है, परम्परागत औचित्य पर आधारित जन-मत की बाह्य मांगों से नहीं, स्वयं अपने आन्तरिक निर्णय से परिचालित होना चाहिये। "मनुष्य अपने आप पर शासन करने वाला जीव है, और स्वशासन में आवश्यक रूप से भूलें करने की शक्ति और जब-जब भूल हो जाय उसे सुधारने की शक्ति सम्मिलित है।"[2] इसलिए, "सच्ची नैतिकता का अर्थ चालू रास्ते का अनुगमन नहीं बल्कि अपने लिए सच्चा रास्ता खोजना और उसपर निडर होकर चलना है।"[3]

इसके अतिरिक्त "अक्सर मनुष्य अनजान की भूल से ही अनुचित बात को पहिचानना सीखता है। दूसरी ओर अगर मनुष्य आन्तरिक प्रकाश के अनुसार चलने में जनमत के डर से या ऐसे ही अन्य किसी कारण से असफल हो, तो वह उचित को अनुचित से कभी अलग न कर सकेगा और दोनों के भेद की चेतना को खो देगा अहिंसा के पथ पर प्रायः मनुष्य को नितान्त अकेला चलना पड़ता है।"[4]

इस प्रकार महत्वपूर्ण मामलों में नेता को जनता का अनुगमन करने से इन्कार कर देना चाहिए, नहीं तो वह बिना लंगर के जहाज की तरह भटकता फिरेगा। गांधीजी लिखते हैं, "मेरा विश्वास है कि (नेताओं द्वारा) केवल अपना विरोध-सूचक मत प्रदर्शित करना और जनता के मत को आत्म-समर्पण करना नितान्त अपर्याप्त है, महत्वपूर्ण बातों में नेताओं को उस जनमत के, जो उनको बुद्धिसंगत नहीं जंचता, विपरीत कार्य करना चाहिए।"[5]

१ यं० इं०, भा० २ पृ० ७६; यं० इं०, भा० ३, पृ० १५४।
२. यं० इं०, भा० ३, पृ० १५४।
३. 'नीति-धर्म', पृ० ३८।
४. यं० इं०, भा० ३, पृ० ८५८।
५. यं० इं०, भा० १, पृ० २०६।

गांधीजी के इस मत का अर्थ न तो अनियंत्रित, जनतंत्र विरोधी, नेतृत्व है और न शक्ति की अन्धपूजा। गांधीजी जानते हैं कि अनियंत्रित शक्ति भ्रष्टकारी है। वह लिखते हैं, "मैं स्वेच्छाचारी-तंत्र से घृणा करता हूं। मैं अपनी स्वाधीनता और स्वतन्त्रता की क़द्र करता हूं और उतना ही उन्हें दूसरों के लिए मूल्यवान मानता हूँ। मुझे एक भी व्यक्ति को अपने साथ ले चलने की इच्छा नहीं, यदि मैं उसकी बुद्धि को प्रभावित न कर सकूं।"[1]

उनके लिए व्यक्ति की नैतिक स्वतन्त्रता में समुदायों की नैतिक स्वतन्त्रता भी सन्निहित है। स्वयं गांधीजी का जीवन इस सिद्धान्त का उदाहरण है। उनकी आन्तरिक आवाज़ पन्द्रह साल की अवस्था से उनकी पथ-प्रदर्शक और संचालक रही थी। अपने दीर्घकालीन नेतृत्व में यद्यपि वह साधारण बातों में प्रायः जनमत को मानते थे, प्रमुख सिद्धान्तों के बारे में वह सदा समझौते के विरोधी थे। लेकिन उनका यह भी विश्वास था कि समुदायों को सत्य का प्रयोग करने और भूलें करने का उसी प्रकार अधिकार है जिस प्रकार व्यक्तियों को।[2] गिल्बर्ट मरे गांधीजी के अहिंसात्मक नेतृत्व का वर्णन इन शब्दों में करते हैं, "उनका न तो हठपूर्ण मत होता है, न आज्ञा। उनकी केवल प्रभावोत्पादक बात, हमारी आत्मा को पुकार, होती है। वह जो सत्य समझते हैं, वही हमें प्रदर्शित करते हैं, लेकिन उन लोगों की न तो निन्दा करते हैं, न उनका निराकरण जो प्रकाश की खोज किसी दूसरे रास्ते से करते हैं।"[3]

इस प्रकार गांधीजी के सत्याग्रही नेतृत्व के आदर्श में दुर्बल, अवसरवादी नेता के लिए स्थान नहीं जो नेतृत्व की रक्षा के लिए अपनी अन्तरात्मा को बेच देता है और जनता का पथ-प्रदर्शन करने के बजाय उसके पीछे चलता है। यदि मूलभूत सिद्धान्तों और अनुगामियों के मत में विरोध हो तो सत्याग्रही नेता का स्पष्ट कर्त्तव्य है अपनी अन्तरात्मा का आदेश मानना और समुदाय को अपना पथ-निर्धारित करने देना।

अनुगामियों की वफ़ादारी के बारे में गांधीजी पश्चिम की जनतंत्रीय परम्परा से बहुत आगे बढ़े हुए हैं। वह इसके विरोधी हैं कि लोग प्रेम के कारण अन्धभक्ति से नेता के अनुगामी बने रहें। उनकी मांग है गम्भीर विश्वास पर आधारित आज्ञापालन। इसलिए सन् १९३४ ई० में जब उन्हें

---

१. य० इं०, भा० १, पृ० २०८।

२. 'स्पीचेज़', पृ० ६०८।

३. राधाकृष्णन, 'महात्मा गांधी', पृ० १६७–६८।

महसूस हुआ कि कांग्रेस के चिन्तनशील सदस्य, यद्यपि वह गांधीजी के प्रति वफ़ादार और भक्तिपूर्ण थे, उनके साथ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों पर सहमत न थे, तो वे कांग्रेस से अलग हो गए, जिससे वह संस्था पर बोझ के समान न हो जांय, उनके कारण संस्था का प्राकृतिक विकास न रुके और उसके सदस्य अपनी बुद्धि के अनुसार स्वतन्त्र रूप से व्यवहार कर सकें।[१]

गांधीजी के अनुसार यदि स्पष्ट बहुमत सत्याग्रही नेता की ओर हो तो भी अल्पमत की दृढ़तापूर्वक मानी हुई किसी राय की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि केवल संख्या-शक्ति पर आधारित वह उपेक्षा एक प्रकार की हिंसा है।[२]

अनियंत्रित राज्यसत्ता वाले देशों में नेतृत्व का सिद्धान्त गांधीजी के आदर्श के बिल्कुल विपरीत है। इन देशों में नेतृत्व का सिद्धान्त है "ऊपर से नीचे की ओर अनियंत्रित सत्ता और नीचे से ऊपर की ओर बेहद आज्ञाकारिता और उत्तरदायित्व।" आधुनिक युद्धवादी डिक्टेटर प्रचार-विशेषज्ञ नेता होता है। उसकी सत्ता का स्रोत जनता का गम्भीरता से सोच-विचार कर दिया हुआ निर्णय नहीं होता; वह विरोधियों के साथ बलप्रयोग पर और जनता के सामान्य भय और घृणा को लगातार उकसाने पर निर्भर रहता है।

नेता और अहिंसक प्रतिरोधकारी

जब सत्याग्रही समुदाय अहिंसक प्रतिरोध प्रारम्भ करता है, तो नेता को डिक्टेटर (अधिनायक) की-सी सत्ता दे दी जाती है, समूह के आन्तरिक जनतंत्र में कमी आ जाती है और सदस्यों के व्यक्तिगत निर्णय के अधिकार पर प्रतिबन्ध लग जाता है। सत्याग्रही समुदाय के सदस्य नेता को और उसकी सम्पूर्ण प्रतिरोध योजना को स्वीकार या अस्वीकार कर सकते हैं। लेकिन स्वीकृति बिना किसी मानसिक संगोपन के होना चाहिए और अनुगामियों को नेता के निर्णय में पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए। उसका वचन ही नियम है और उसके अनुगामियों को जी-जान से उसकी आज्ञा माननी चाहिए। फ़ौजी सिपाहियों की तरह सत्याग्रही स्वयंसेवकों को भी आज्ञा का कारण पूछने का अधिकार नहीं; उनका कर्तव्य है जान लड़ाकर भी आज्ञापालन।

अहिंसक प्रतिरोध में और हिंसात्मक युद्ध में सिपाही की नेता के संबन्ध

---

१. गांधीजी का १७ सितम्बर, १६३४ का वक्तव्य, 'हिस्ट्री आव दि कांग्रेस' पृ० ६२२–३२।

२. यं० इ०, भा० २, पृ० २१२।

में स्थिति लगभग एकसी है। जबतक वह सेना का सदस्य है, वह सेना हिंसात्मक हो या सत्याग्रही, उसे इस निर्णय का अधिकार नहीं कि जिस काम को करने की उसे आज्ञा मिली है उसको वह करेगा या नहीं ?[1] यह निःसंदेह दबाव है, लेकिन नेता सत्याग्रही सिपाही पर उसकी इच्छा के विरुद्ध, उसे अपमानित करने के लिए या उसकी मनुष्योचित प्रतिष्ठा पर आघात करने के लिए यह दबाव नहीं डालता। यह दबाव आत्म-नियंत्रण है, क्योंकि सत्याग्रही सिपाही स्वेच्छा से, आन्तरिक प्रेरणा से, सत्याग्रही अनुशासन को स्वीकार करता है और हिंसावादी सिपाही के प्रतिकूल, उसे सत्याग्रही समूह को जब चाहे छोड़ देने की स्वतन्त्रता रहती है।

गांधीजी अहिंसक प्रतिरोध में लगे समुदाय के नेता के निर्णय पर जनतंत्रात्मक प्रतिबन्ध क्यों नहीं रखते ? एक तो किसी भी प्रकार के युद्ध में सिपाहियों के लिए अनुशासन अनिवार्य है। दूसरे, बहुत से सत्याग्रहियों के लिए अहिंसा कामचलाऊ नीति की बात है, न कि अटल आस्था की। उनके सामने सदा हिंसा और अहिंसा का चुनाव है और आवश्यकता पड़ने पर हिंसा के प्रयोग का प्रलोभन है।[2] सत्याग्रही नेता में यह कमी नहीं; क्योंकि वह दुःखद आवश्यकता और दुर्बलता के कारण नहीं, इच्छा से और नैतिक शक्ति के कारण अहिंसक है।

लेकिन सत्याग्रही नेता को चाहिए कि वह अपने अनुगामियों की वफ़ादारी पर अनावश्यक दबाव न डाले। उसे चाहिए कि वह उनको तर्क द्वारा सन्तुष्ट करने का और उनके हृदय और बुद्धि को अपने साथ ले चलने का प्रयत्न करे। लेकिन यदि तर्क सन्तुष्ट न कर सकें, तो अनुगामियों को श्रद्धा का सहारा लेना चाहिए।[3]

नेता का आन्तरिक नियन्त्रण

लेकिन सत्य की स्वतन्त्र शोध के लिए और प्रतिभान द्वारा ठीक पथ-प्रदर्शन के लिए सत्याग्रही को वह शुद्धता प्राप्त करना चाहिए जो गांधीजी के शब्दों में, कठोरतम अनुशासन का प्रौढ़ परिणाम है। यदि सत्याग्रही को अपना नियम-निर्धारक स्वयं बनना है तो अनिवार्य शर्त यह है कि "उसे ईश्वर से डरना होगा और इसलिए अपने हृदय को लगातार शुद्ध करना

१. यं० इं०, भा० २, पृ० ११६१।
२. यं० इं०, २-२-१९३०।
३. ह०, १०-६-३९, पृ० १५८।

रहना होगा।"[1]

हम ऊपर शुद्ध करने वाले अनुशासन का, जिसकी गांधीजी ने व्यवस्था की है, विस्तृत वर्णन कर चुके हैं। इस अनुशासन से सत्याग्रही के जीवन में सामञ्जस्य आता है, अहंता का निरोध होता है, उसकी अहिंसा गत्यात्मक हो जाती है और उसके प्रतिभानों में निश्चितता आती है। उसमें आध्यात्मिक अनुभूति की क्षमता का विकास होता है और आत्म-शक्ति की कार्य-पद्धति उसकी समझ में आने लगती है।

गांधीजी आध्यात्मिक विकास में और सत्य के शोध में मौन, प्रार्थना और उपवास को बहुमूल्य सहायक बताते हैं।

मौन साधक को स्वाभाविक मानवी दुर्बलता से, अर्थात् अतिशयोक्ति और सत्य को दबाने या थोड़ा बहुत बदल देने से, बचने में सहायक होता है। इसके अतिरिक्त मौन के समय में वह ईश्वर के संपर्क में आ सकता है।[2]

उपवास और प्रार्थना शरीर पर आत्मा का आधिपत्य स्थापित करने में सहायक होते हैं और हमारी दृष्टि को परिष्कृत करते हैं। लेकिन उपवास और प्रार्थना तभी उपयोगी हो सकते हैं जब वह दिखावट के लिए यंत्रवत् न किये जांय। "प्रार्थना व्यर्थ का दोहराना नहीं है और न उपवास शरीर को केवल भूखों मारना है। प्रार्थना का स्रोत ईश्वर को श्रद्धा से जानने वाला हृदय है, और उपवास अशुभ या हानिकर विचार या भोजन से संयम है।"[3] "हार्दिक प्रार्थना आन्तरिक आकांक्षा है जिसकी अभिव्यक्ति मनुष्य के प्रत्येक कार्य में ही नहीं, बल्कि प्रत्येक विचार में भी होती है।"[4] उपवास मनुष्य की प्रार्थना को जीवित बनाता है और आत्मा को ईश्वर के सम्पर्क में लाकर शान्ति देता है।[5] वास्तव में उपवास सबसे सच्ची प्रार्थना है। बिना उपवास के उसी प्रकार प्रार्थना नहीं हो सकती जिस प्रकार बिना प्रार्थना के सच्चा उपवास नहीं हो सकता।

गांधीजी का जीवन प्रार्थना और उपवास की संभावना में अनुसंधान की अनुपम कथा है। वह उपवास-विशेषज्ञ हैं। उपवास उनका अविभाज्य

---

१. यं० इं०, भा० ३, पृ० १५४।

२. ह०, १०-१२-३८, पृ० ३७३; 'आत्म-कथा' पृ० ७१।

३. ह०, १०–४–३७, पृ० ६३।

४. यं० इं०, भा० ३, पृ० ३७३–७७।

५. गांधीजी का २३ अक्तूबर सन् १९४४ का वक्तव्य।

अंग है और उसको उन्होंने यथा-शक्ति एक विज्ञान मे परिणत कर दिया है।[1] गांधीजी प्रार्थना को सबसे बड़ा अस्त्र मानते हैं।[2] एक भी क्षण ऐसा नहीं होता था जब वह सर्वदर्शी साक्षी की स्थिति का अनुभव न करते हों। उनका कोई भी कार्य बिना प्रार्थना के नहीं होता था। उन्हें ऐसा कभी नहीं लगा कि ईश्वर उनकी ओर से उदासीन हो गया हो। जब क्षितिज अधिकतम अन्धकारपूर्ण होता था, तब गांधीजी ईश्वर को निकटतम पाते थे। जब वह महत्त्वपूर्ण निर्णय करते थे तब उन्हें "धीमी शान्त आन्तरिक आवाज़" स्पष्ट और साफ़ सुन पड़ती थी। यह आन्तरिक पुकार ईश्वर की आवाज़ थी। एक बार यह आवाज़ सुन लेने पर गांधीजी तुरन्त आज्ञापालन करते थे: उनके लिए निर्दिष्ट पथ से हटने का तो कोई सवाल ही नहीं उठता था।

ईश्वर के निरन्तर ध्यान से उनका जीवन इस प्रकार का बन गया था कि वह अनुभव करते थे कि उनके साधारण कार्य भी आत्म-प्रेरणा की अभिव्यक्ति हैं।[3] वास्तव मे गांधीजी आत्मा की धूमिल, अस्पष्ट गति की अनुभूति में प्रयत्नशील रहस्यवादी साधक हैं।[4] उन्हें विशुद्ध सत्य की, विश्वात्मा की, पूर्ण अनुभूति नहीं होती—होती किसे है?—लेकिन दूर-दूर से उसकी झलक वह देखते हैं। इसी सफलता ने उनके जीवन को

---

१. उनका २१-१०-३२ का वक्तव्य, 'हिस्ट्री आव दि कांग्रेस', पृ० ६२३, यं० इ० २, पृ० १२३।

२. ह०, ६-१२-४१, पृ० ३७१।

३. 'आत्म-कथा', भा० ४, अ० ११।

४. गांधीजी का विश्वास है कि उच्चप्रेरणा की प्राप्ति की आवश्यक शर्त यह है कि, "आत्मा की एक ऐसी महान् संकटपूर्ण स्थिति हो जाय कि आप मानसिक दुःख और यंत्रणा से हिल उठें। उस संकटकाल में या तो व्यक्ति की आत्मा अनन्त विश्वात्मा की ओर ऊपर उठती है और या फिर उस भयङ्कर यातना को न सह पाकर पिछड़ती है और पार्थिव शरीर से निकटतर सम्बन्ध में विश्राम ढूंढती है। पहले विकल्प में सत्य की आवाज़ सुन पड़ती है, दूसरे में व्यक्ति जड़ जगत् से एकरूपता स्थापित करता है और अपने आचरण को उसीके अनुकूल बनाता है।" कृष्णदास, 'सेविन मन्थ्स विद महात्मा गांधी', भा० १, पृ० ४००-१। सन् १६४०-४१ के सत्याग्रह आन्दोलन के सम्बन्ध मे प्रतिभानजन्य निर्णय के सम्बन्ध में गांधीजी ने कहा था, "असीम यातना के बाद उसकी उत्पत्ति हुई थी।" ह०, २२-६-४०, पृ० २२६।

सामंजस्यपूर्ण बनाया है और उनको इतिहास के महानतम व्यक्तियों की पंक्ति में स्थान दिया है।

संक्षेप में, नैतिक पथ-निर्धारण पर गांधीजी के विचार जनतंत्रीय नेतृत्व का आदर्श उपस्थित करते हैं। वह स्वेच्छाचारी सत्ता के अधःपतनकारी प्रभाव को नहीं भुलाते। इसीलिए वह सत्याग्रही नेता पर दोहरा--आन्तरिक और बाह्य—प्रतिबन्ध लगाते हैं। वह नैतिक और आध्यात्मिक शुद्धता पर, आत्मानुशासन पर, ज़ोर देते हैं। यह अनुशासन नेता की नैतिक अनुपात की भावना विकसित करता है और उसे सत्य की निडर साधना और सर्वश्रेष्ठशक्ति, आत्म-शक्ति, के प्रयोग की क्षमता देता है। गांधीजी इस बात के पक्ष में भी हैं कि अनुगामियों की आज्ञाकारिता विवेकपूर्ण होनी चाहिए और इस आज्ञाकारिता को उनके व्यक्तिगत निर्णय और अन्तरात्मा पर आधारित होना चाहिए। स्वतंत्रता और न्याय को सत्तावाद की विजय से बचाने के लिए और शान्ति और जनतन्त्र की उन्नति के लिए निर्संदिग्ध रूप से ईमानदार नेता और साहसपूर्ण, जागरूक, नागरिकता नितान्त आवश्यक हैं।

: ७ :

सत्याग्रह—जीवन-नियम के रूप में

ऊपर वर्णित शुद्ध करने वाले अनुशासन का ध्येय है व्यक्ति को सत्याग्रह के प्रयोग के लिये तैयार करना।

सत्याग्रह का अर्थ

सत्याग्रह शब्द गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में वहां की सरकार के विरुद्ध भारतवासियों के अहिंसक प्रतिरोध के सच्चे रूप का परिचय कराने के लिए गढ़ा था। वह विशेषरूप से सामूहिक सत्याग्रही प्रतिरोध और निष्क्रिय प्रतिरोध या पैसिव रेज़िस्टेन्स में स्पष्ट भेद करना चाहते थे।

चालू भाषा में सत्याग्रह अहिंसात्मक प्रतिरोध के साथ समीकृत किया जाता है; लेकिन सत्याग्रह केवल अहिंसक प्रतिरोध के विभिन्न रूपों—असहयोग, सविनय आज्ञा-भंग, उपवास, धरना, इत्यादि—तक ही परिमित नहीं है। सत्याग्रह अहिंसात्मक प्रतिरोध से कहीं अधिक व्यापक है। सत्याग्रह का शाब्दिक अर्थ है सत्य (जिसके अन्दर अहिंसा भी सम्मिलित है) को मानकर किसी वस्तु के लिए आग्रह करना, या सत्य और अहिंसा से उत्पन्न होने वाला बल।[1] सर्वोच्च सत्य है आध्यात्मिक एकता और उसके लाभ का एकमात्र मार्ग है अहिंसक होना, अर्थात सबसे प्रेम करना और सब के लिए कष्ट सहना। इसीलिए गांधीजी के अनुसार सत्याग्रह आत्म-शक्ति या प्रेम-शक्ति का पर्यायवाची है। इस प्रकार सत्याग्रह सच्चे ध्येय की अहिंसक साधनों द्वारा साधना है। वह "सत्य की, प्रतिपक्षी को कष्ट देकर नहीं, स्वयं कष्ट सहकर रक्षा है।"[2] सत्याग्रह सत्य के लिए तपस्या है।[3] इस व्यापक अर्थ में सत्याग्रह में सब विधायक, सुधार के कार्यों का, सेवा के कार्यों का, समावेश है। इस अर्थ में सत्याग्रह वैध पद्धतियों का भी निराकरण नहीं करता। वास्तव में गांधीजी अहिंसक प्रतिरोध को नागरिक का वैध अधिकार मानते हैं।

---

१. 'दक्षिण अफ्रीका', पूर्वार्द्ध, पृ० १७३-४; 'आत्म-कथा', भा० ४, अ० २६।
२. 'स्पीचेज़', पृ० ५०१।
३. यं० इं०, भा० २, पृ० ८३८।

सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध

सत्याग्रह को, विशेषकर उसकी दो प्रमुख शाखाओं, असहयोग और सविनय आज्ञाभंग को निष्क्रिय प्रतिरोध (पैसिव रेज़िस्टेन्स) के साथ समीकृत नहीं करना चाहिए। दक्षिण अफ्रीका में स्वयं गांधीजी ने निष्क्रिय प्रतिरोध शब्द का प्रयोग सत्याग्रह के अर्थ में किया था। 'हिन्द स्वराज्य' के अंग्रेज़ी संस्करण में १७ वें अध्याय का—जिसमें वास्तव में सत्याग्रह का वर्णन है—शीर्षक पैसिव रेज़िस्टेन्स है। लेकिन सन् १९०९ ई० में ही गांधीजी जानते थे कि पैसिव रेज़िस्टेन्स सत्याग्रह का अधिक प्रचलित पर प्रेम-शक्ति या आत्म-शक्ति से कम शुद्ध वर्णन है।[1] सन् १९०९ के बाद गांधीजी सत्याग्रह और पैसिव रेज़िस्टेन्स (निष्क्रिय प्रतिरोध) में स्पष्ट भेद करने लगे।

सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध दोनों आक्रमण का सामना करने की, झगड़ों को निपटाने की और सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तन की पद्धतियां हैं। लेकिन इन दोनों में बुनियादी भेद है। भेद का कारण यह है कि पैसिव रेज़िस्टेन्स[2]—जिस रूप में इङ्गलैंड में वोट का अधिकार मांगने वाली स्त्रियों और उग्रमत वाले नानकन्फार्मिस्ट ईसाइयों ने और फ्रान्सीसियों के विरुद्ध रूर प्रदेश के जर्मनों ने उसका प्रयोग किया था—कामचलाऊ राजनैतिक शस्त्र है। दूसरी ओर सत्याग्रह नैतिक शस्त्र है और उसका आधार है शरीर-शक्ति की अपेक्षा आत्म-शक्ति की श्रेष्ठता। पैसिव रेज़िस्टेन्स दुर्बल का शस्त्र है; जबकि सत्याग्रह का प्रयोग वह वीर ही कर सकता है जिसमें बिना मारे मरने का साहस है। पैसिव रेज़िस्टेन्स में उद्देश्य होता है प्रतिपक्षी को इतना परेशान करना कि वह हार मान ले; सत्याग्रही का उद्देश्य है प्रेम और धैर्य-पूर्वक कष्ट-सहन द्वारा विरोधी का हृदय-परिवर्तन करना। पैसिव रेज़िस्टेन्स में विरोधी के लिए प्रेम की गुञ्जाइश नहीं; सत्याग्रह में घृणा, दुर्भावना इत्यादि के लिए स्थान नहीं। इस प्रकार "सत्याग्रह गत्यात्मक है, पैसिव रेज़िस्टेन्स स्थित्यात्मक है। पैसिव रेज़िस्टेन्स निषेधात्मक रूप से कार्य करता

---

१. 'हिन्द स्वराज' (अं०), पृ० ६५।

२. अंग्रेज़ी भाषा में पैसिव रेज़िस्टेन्स (निष्क्रिय प्रतिरोध) का लगभग समानार्थक शब्द नानरेजिस्टेन्स (अप्रतिरोध) है। किन्तु सी० एम० केस के अनुसार निष्क्रिय प्रतिरोध और अप्रतिरोध में भेद है। अप्रतिरोध समर्पण कर देने और निष्क्रिय कष्ट-सहन का सूत्र है, जबकि निष्क्रिय प्रतिरोध अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय और आक्रमणशील है। देखिये केस, 'नानवायोलेन्ट कोअर्शन', पृ० ५१।

है और उसका कष्ट-सहन अनिच्छापूर्वक और निष्फल होता है; सत्याग्रह विधायकरूप से कार्य करता है, प्रेम के कारण प्रसन्नता से कष्ट सहन करता है, और कष्टसहन को फलप्रद बनाता है।"[1] यद्यपि पैसिव रेज़िस्टेन्स और हिंसा में भेद किया जाता है और पैसिव रेज़िस्टेन्स हिंसा से सदा दूर रहता है, क्योंकि दुर्बल व्यक्ति हिंसा का प्रयोग नहीं कर सकता, तब भी पैसिव रेज़िस्टेन्स उचित अवसर पर हिंसात्मक उपायों के प्रयोग के विरुद्ध नहीं; दूसरी ओर सत्याग्रह किसी भी रूप में, अनुकूलतम परिस्थिति में भी, हिंसा के प्रयोग की आज्ञा नहीं देता। सत्याग्रह के विपरीत, पैसिव रेज़िस्टेन्स का प्रयोग हिंसात्मक क्रान्ति के पूरक के या प्राथमिक रूप में हो सकता है। पैसिव रेज़िस्टेन्स में आन्तरिक शुद्धता का अभाव है, सत्याग्रह की तरह वह साधनों की नैतिकता को आवश्यक नहीं मानता और प्रयोग करने वाले व्यक्तियों के नैतिक सुधार की उपेक्षा करता है। दूसरी ओर, सत्याग्रह में उद्देश्य-सिद्धि और सत्याग्रही के आन्तरिक सुधार में घनिष्ठ सम्बन्ध है। पैसिव रेज़िस्टेन्स का प्रयोग सार्वभौम नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए, सत्याग्रह की तरह उसका प्रयोग अपने घनिष्ठ सम्बन्धियों के विरुद्ध नहीं हो सकता। दुर्बलता और निराशा की भावना से प्रयुक्त पैसिव रेज़िस्टेन्स मानसिक और नैतिक दुर्बलता बढ़ाता है, दूसरी ओर सत्याग्रह सदा आंतरिक शक्ति पर ज़ोर देता है और वास्तव में उसका विकास करता है। पैसिव रेज़िस्टेन्स की अपेक्षा सत्याग्रह अन्याय और अत्याचार का अधिक फलप्रद और निश्चित विरोध है। लेकिन पैसिव रेज़िस्टेन्स (निष्क्रिय प्रतिरोध) वास्तव में निष्क्रिय नहीं होता, क्योंकि प्रतिरोध सदा सक्रिय होता है।[2]

सब देशों में और प्रत्येक काल में अहिंसा ही घरेलू झगड़ों को निपटाने का साधन रहा है। गांधीजी ने घरेलू जीवन के इस नियम का उपयोग सामूहिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में किया है। अपने अनुसन्धानों द्वारा उन्होंने सत्याग्रह को 'युद्ध का नैतिक समकक्ष' और सामूहिक झगड़ों को निपटाने की कला बना दिया है।

व्यक्तिगत जीवन और सत्याग्रह

लेकिन आत्म-शक्ति होने के कारण सत्याग्रह "ठीक मार्ग, सत्य और

---

१. ह०, २५–६–३८, पृ० १६४, महादेव देसाई का नोट।

२. 'आत्म-कथा', भा० ४, अ० २६; यं० इं०, भा० १, पृ० २२२; 'स्पीचेज़', पृ० ५०१; 'दक्षिण अफ्रीका', अ० ११, ह०, १४–५–३८, पृ० १११; २५–६–३८, पृ० १६४।

जीवन" है। झगड़ों को निपटाने के अतिरिक्त, सत्याग्रह का उपयोग जीवन के अन्य कार्यों में भी हो सकता है। अहिंसा का प्रयोग दैनिक जीवन में माता-पिता, बच्चों मित्रों, सम्बन्धियों, अपराधियों और निम्नकोटि के जीवों के प्रति हो सकता है। गांधीजी कहते हैं, "वह (अहिंसा) ऐसी शक्ति है जिसका उपयोग व्यक्तियों और समाजों दोनों द्वारा हो सकता है। उसका उपयोग राजनैतिक मामलों में हो सकता है और घरेलू मामलों में भी हो सकता है। उसका सार्वभौम उपयोग उसके स्थायी और अजेय होने का प्रदर्शन है।"[1] "मेरे लिए, सत्याग्रह का नियम, प्रेम का नियम, शाश्वत सिद्धांत है। मैं उन सब के साथ जो शुभ हैं सहयोग करता हूँ। मेरी इच्छा उस सब के साथ असहयोग करने की है जो अशुभ है, चाहे वह मेरी स्त्री के सम्बन्ध में हो, चाहे मेरे पुत्र के और चाहे मेरे।"[2]

वास्तव में वह इससे भी आगे जाते हैं और कहते हैं कि यदि हम संगठित अहिंसा को सामूहिक झगड़ों में कारगर बनाना चाहते हैं, तो हमें अहिंसा का व्यवहार अपने दैनिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में करना होगा।[3] यदि हमारी अहिंसा सच्ची है, तो उसे हमारे साधारण जीवन का अंग होना चाहिए, उसे हमारे विचार, शब्द और कार्य में प्रकट होना चाहिए और हमारे सम्पूर्ण व्यवहार को प्रभावित करना चाहिए।[4] वह महसूस करते हैं कि हो सकता है कि राजनीति में अहिंसा आवश्यकता के कारण ग्रहण किया हुआ सद्गुण और कायरता का आवरण हो। सरकार के प्रति तो जनता को मजबूरन अहिंसा पर अवलम्बित रहना पड़ता है। इसीलिए जब अहिंसा का प्रयोग केवल सरकार के साथ नहीं, जीवन के दूसरे क्षेत्रों में भी किया जाय—घरेलू और सामाजिक सम्बन्धों में भी जहां हमें हिंसा और अहिंसा में चुनाव की सुविधा है—तभी यह कहा जा सकता है कि अहिंसा केवल कामचलाऊ नीति नहीं है।[5] यही कारण है कि गांधीजी के अनुसार दानशीलता की तरह अहिंसा का प्रारम्भ घर से होना चाहिए। वह कहते हैं कि "अहिंसा की बारहखड़ी सबसे अधिक अच्छी तरह घरेलू पाठशाला में सीखी जा सकती है और मैं अनुभव से कह सकता हूँ कि यदि हम वहां सफलता प्राप्त कर लें

---

१. यं० इ० भा० ३, पृ० ४४४।
२. यं० इ०, भा० २, पृ० १०५४।
३. ह०, २६–६–४०, पृ० १८१।
४. ह०, २१–७–१९४०, पृ० २१०।
५. ह०, १९–११–३८, पृ० ३३६–३७।

तो सब जगह हमारी सफलता निश्चित् है। एक अहिंसात्मक मनुष्य के लिए सारा संसार कुटुम्ब है।"[1] गांधीजी का मत है कि सार्वजनिक सत्याग्रह व्यक्तिगत या घरेलू सत्याग्रह का प्रसार या विस्तृत रूप है और सार्वजनिक सत्याग्रह को वैसे ही घरेलू मामले की कल्पना करके परखना चाहिए।[2]

जब तक अहिंसा को व्यक्तियों के हृदय में स्थान देने का प्रयास न हो, तब तक उसे सामूहिक और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का संचालक बनाने का प्रयत्न व्यर्थ है। सत्याग्रही के व्यक्तिगत जीवन की हिंसा अपूर्ण अनुशासन का लक्षण है। उस हिंसा से ज्ञात होता है कि सत्याग्रही सत्याग्रह के मूलभूत सिद्धान्त, सब के साथ आध्यात्मिक आत्मीयता, की उपेक्षा करता है। वह इस बात का निश्चित चिन्ह है कि सत्याग्रही नैतिक विकास के उस तल तक नहीं पहुँचा है और आत्म-नियंत्रण की उस दशा को नहीं प्राप्त कर सका है जहां हिंसा असह्य हो जाती है। मानुषी जीवन अविभाज्य समग्रता है, इसलिए सत्याग्रही के व्यक्तिगत जीवन की हिंसा सत्याग्रही समुदाय के सदस्य की हैसियत से किये गए उसके व्यवहार में अवश्य प्रदर्शित होगी।

यदि कोई व्यक्ति अहिंसा को केवल राजनैतिक क्षेत्र में स्वीकार करता है, तो इसका अर्थ है कि उसकी अहिंसा दुर्बल की है, वह अहिंसा को केवल कामचलाऊ नीति की तरह स्वीकार करता है और इस नीति को वह भारी कठिनाइयों या बड़े प्रलोभनों के कारण बदल सकता है। यह हिचकिचाहट का रुख है और व्यक्ति के अच्छा सिपाही बनने में बाधक होता है; क्योंकि सिपाही, अहिंसा का सिपाही भी, अजेय शक्ति से तभी लड़ता है जब उसने दूसरे विकल्प पूरी तरह छोड़ दिये हों। इसलिए गांधीजी की राय यह है कि "जब तक अहिंसा मानी जाय तब तक उसे सर्वप्रथम रखना चाहिए। तभी वह अजेय हो सकती है। नहीं तो वह केवल दिखावा और शक्तिहीन चीज़ होगी।"[3]

उनके अनुसार यदि अहिंसा, सच्ची व्यापक अहिंसा से भिन्न, कामचलाऊ शस्त्र की भांति स्वीकार की जाय, तो उससे पराधीन जाति को राजनैतिक स्वतन्त्रता मिल सकती है। लेकिन राजनैतिक स्वतन्त्रता जनतंत्रवाद का बाह्य आकार या गांधीजी के शब्दों में, 'यंत्रवत् जनतंत्र' या 'पार्लमेंटरी स्वराज्य'

---

१. ह०, २७-७-४०, पृ० २१४।
२. यं० इ०, भा० २, पृ० ८२१।
३. ह०, २४-६-३६, पृ० १७४।

होगी न कि अहिंसात्मक स्वराज्य या सिद्धान्त की तरह स्वीकृत जनतंत्रवाद। क्योंकि जब अहिंसा कामचलाऊ नीति की भांति स्वीकार की जाती है तो उसका अर्थ है "जहां तक लाभदायक हो वहां तक अहिंसा और जब आवश्यक हो तो हिंसा।" हिंसा का अर्थ है मनुष्यों को साधनमात्र समझकर, उनका प्रयोग। इस प्रकार दुर्बलता की अहिंसा अर्थात कामचलाऊ नीति की भांति ग्रहण की हुई अहिंसा जनतंत्रवाद के मूलभूत सिद्धान्त का निषेध है। यह सिद्धान्त है—मनुष्यों में छोटे-से-छोटे का असीम नैतिक मूल्य है। दूसरी ओर, वीर मनुष्य की अहिंसा सब मनुष्यों की एकता में विश्वास करती है। वह दूसरों के अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं करती और उनको उन्नति का पूरा अवसर देती है। अधकचरी अहिंसा द्वारा प्राप्त स्वराज्य के बाद शक्ति-प्राप्ति के लिए आम तौर पर प्रचलित आंतरिक छीना-झपटी अनिवार्य है। इस प्रकार के स्वराज्य से शक्ति और स्वतन्त्रता दुर्बलों और निर्धनों के हाथ न आएगी और यह स्वराज्य सच्चा जनतंत्र न होगा। इसलिए गांधीजी का मत है कि दुर्बलता की अहिंसा हमें सच्ची स्वतन्त्रता के ध्येय तक कभी न पहुँचा सकेगी और "यदि उसका बहुत दिनों तक व्यवहार हुआ तो वह हमें स्व-शासन के अयोग्य भी बना सकती है।"[1]

यह ध्यान में रखने की बात है कि लगभग २० वर्ष पहिले तक गांधीजी इस बात पर ज़ोर नहीं देते थे कि सत्याग्रही अहिंसा को सिद्धान्त की तरह माने। शायद अपने आदर्श की सिद्धि के लिए वह दूसरों के सहयोग का यह मूल्य दे रहे थे। उन्हें आशा थी कि व्यावहारिक नीति की तरह अहिंसा का अभ्यास धीरे-धीरे लोगों को उसे सिद्धान्त की भांति स्वीकार करने के लिए तैयार करेगा। लेकिन यह साधनों की शुद्धता के साथ समझौता था। उन्हें अनुभव से ज्ञान हुआ कि यह भूल थी और तब सत्याग्रही से उनकी मांग हो गई अहिंसा के सिद्धान्त पर दृढ़ अटल श्रद्धा।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी व्यक्तिगत जीवन में अहिंसा का उपयोग उसके सामूहिक पद्धति के रूप में विकास के बहुत पहिले प्रारम्भ हुआ था। गांधीजी भी राजनैतिक क्षेत्र में अहिंसा के संगठित उपयोग के पहिले अपने जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में उसके उपयोग का अनुभव प्राप्त कर चुके थे। बचपन में ही सत्य और अहिंसा के पाठ उनके मन पर अंकित हो गए थे और वह इन नियमों के अनुसार अपने जीवन को गढ़ने लगे थे। वह वातावरण जिसमें उनका पालन-पोषण हुआ था अहिंसा की वैष्णव और

१. ह०, १३-७-४०, पृ० १६३।

जैन परम्परा से ओतप्रोत था। उनकी तपस्विनी माँ व्रतों और उपवासों के अनुशासनपूर्ण जीवन का आदर्श थीं और उनके असाधारण रूप से वीर सत्यनिष्ठ पिता ने अहिंसक प्रतिरोध का जीवित दृष्टान्त उनके सामने रक्खा था।[1] श्रीमती कस्तूरबा भी गांधीजी के इस विकास में उनके प्रति अहिंसात्मक प्रतिरोध के व्यवहार द्वारा सहायक हुई थीं। गांधीजी उनकी सहायता की प्रशंसा इन शब्दों में करते हैं, "मैंने अहिंसा का पाठ अपनी स्त्री से तब पढ़ा, जब मैंने उन्हें अपनी इच्छानुसार मोड़ने का प्रयत्न किया। एक ओर मेरी इच्छाशक्ति के प्रति उनके दृढ़ प्रतिरोध ने और दूसरी ओर उनके मेरी मूर्खता से होने वाले कष्ट को चुपचाप सहन करने ने अन्त में मुझे लज्जित कर दिया और मेरे इस मूर्खतापूर्ण विचार को दूर कर दिया कि मेरा जन्म उनके ऊपर शासन करने को हुआ था, और अन्त में वह मेरी अहिंसा की शिक्षका बन गईं। मैंने जो कुछ दक्षिण अफ्रीका में किया वह सत्याग्रह के उस नियम का व्यापक रूप था जिसका उन्होंने व्यक्तिगत रीति से अनिच्छापूर्वक व्यवहार किया था।"[2]

गांधीजी का सम्पूर्ण जीवन ऐसे प्रयोगों से भरा है जिनसे प्रकट होता है कि किस प्रकार सत्य और अहिंसा से मनुष्य जीवन की जटिल समस्याओं को हल कर सकता है। सत्य और प्रेम, और शान्त, मौन कष्ट-सहन द्वारा और जब-जब आवश्यकता हुई, निडर होकर हिंसा के मुख में जाकर, उन्होंने बहुत से दुराग्रही प्रतिपक्षियों का हृदय परिवर्तन किया और उनकी उच्च भावनाओं के विकास में सहायक हुए और जब कभी वह अपनी कोई भूल जान पाते थे, वह उसे तुरन्त स्पष्टरूप से स्वीकार कर लेते थे और उसका उचित संशोधन करते थे। उनकी आत्म-कथा और दूसरे लेख ऐसे सृजनात्मक अनुभवों से ओतप्रोत हैं जिन्होंने उनके चरित्र को गढ़ा है और उनके तत्त्व-दर्शन को प्रभावित किया है। व्यक्तिगत जीवन में प्रेम के नियम की कार्य-प्रणाली में बचपन से प्रारम्भ हुए दीर्घकालीन अनुभव के अभाव में शायद गांधीजी अहिंसा को विकसित करके महान् जन-समुदायों द्वारा प्रयोग के योग्य शक्तिशाली अस्त्र न बना पाते।

सत्याग्रह और व्यक्तिगत झगड़े

अहिंसा को जीवन-नियम के रूप में स्वीकार करने का अर्थ है कि

---

१. आत्मकथा, पहिला अध्याय देखिये।

२. राधाकृष्णन्, 'महात्मा गांधी' में डायलैंड द्वारा उद्धरित। श्रीमती कस्तूरबा के [illegible]क प्रतिरोध के दृष्टान्त के लिए देखिये 'आत्म-कथा', भा० ४, अ० १०।

व्यक्ति को दूसरों के सम्बन्ध मे, विशेषरूप से जब वह अशुभ और अन्याय का प्रतिरोध करता है, अहिंसात्मक होना चाहिए। सत्याग्रही की अहिंसा की परख झगड़ों की उत्तेजना और व्यग्रता में होती है। दूसरों के अन्याय का विरोध करने के पहिले उसे अपने जीवन मे अन्याय दूर करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए। बाह्य परिस्थिति मे सुधार सत्याग्रही की आंतरिक दशा के सुधरने के बाद ही हो सकता है। यदि दूसरों के अन्याय के विरुद्ध सत्याग्रह का सफल प्रयोग करना है, तो उससे पहिले उसका प्रयोग अपनी भूलों और कमज़ोरियों के विरुद्ध करना होगा। इसका अर्थ है अहिंसात्मक मूल्यों और आदर्शों का अभ्यास। यह आत्मानुशासन, जिसमें भावनाओं और विचारों के नियन्त्रण का समावेश है, सत्याग्रही में अजेय आंतरिक शक्ति या आत्म-शक्ति विकसित करता है।

गांधीजी पूर्ण आत्मानुशासन या निरपेक्ष अहिंसा की व्यवस्था नहीं करते। वह इस ससार में असम्भव है। वह पूर्णता पर नहीं, पूर्णता की ओर अग्रसर होने के प्रयत्न पर ज़ोर देते है। उनका विश्वास निरन्तर प्रयत्नशीलता में है। सत्याग्रही को अपने सामने वीरों की अहिंसा का आदर्श रखना चाहिए। उसे सदा जागरूक रहना चाहिए कि उसकी अहिंसा बिगड़ कर कायरता का आवरण न बन जाय। कायरता से बचकर उसे यथा-शक्ति आदर्श तक पहुंचने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रगतिशील समाज में भी महत्वपूर्ण मतभेद रहेंगे और कभी-कभी यह मतभेद झगड़ों को जन्म देंगे। जहां तक झगड़ों को निपटाने के अहिंसक मार्ग का सम्बन्ध है कभी-कभी सत्याग्रही के सामने कठिन समस्याएं आती है जो सत्याग्रही के पथ को अस्पष्ट और अन्धकारपूर्ण बना देती हैं। सत्याग्रही को धैर्यवान और साहसी होना चाहिए और खतरों का सामना करने को तैयार रहना चाहिए, और उसमें अनुसन्धानवृत्ति, नई परिस्थितियों का सामना करने और साधनों के सदुपयोग की क्षमता होना चाहिए। यह जानने के लिए कि किसी परिस्थिति विशेष में वह किस प्रकार व्यवहार करे उसे अपनी विवेक-बुद्धि पर अवलम्बित रहना होगा। लेकिन इस अध्याय में व्यक्तिगत झगड़ों में अहिंसक प्रतिरोध-सम्बन्धी कुछ सामान्य प्रश्नों पर गांधीजी के विचारों का संक्षिप्त वर्णन अनुपयुक्त न होगा। सामूहिक और व्यक्तिगत सम्बन्धों के अहिंसक प्रतिरोध की सीमारेखा स्पष्ट रूप से नहीं खींची जा सकती। व्यक्तिगत प्रतिरोध के सिद्धांत सामूहिक प्रतिरोध में भी लागू हैं। इन सिद्धांतों के अतिरिक्त, सामूहिक प्रतिरोध में पर्याप्त संगठन और अनुशासन

की भी आवश्यकता है। व्यक्ति अहिंसक प्रतिरोध का उपयोग व्यक्ति या समुदाय के विरुद्ध कर सकता है। लेकिन आमतौर से जब किसी व्यक्ति द्वारा सत्याग्रह का उपयोग किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर किसी प्रभावशाली समुदाय के विरुद्ध किया जाता है तो यह सत्याग्रह सामूहिक प्रतिरोध में परिणत हो जाता है।

अवसर

सत्याग्रही स्वभाव से शान्ति-प्रिय होता है। वह बैठा-बैठा झगड़े नहीं मोल लेता, गांधीजी के शब्दों में, "सत्याग्रह की यही खूबी है। वह खुद हमारे पास चला आता है। उसे हमे खोजने नहीं जाना पड़ता। यह गुण उसके सिद्धांत में ही समाया हुआ है। जिसमें कोई बात छिपाई नहीं जाती, किसी तरह की चालाकी नहीं रहती और जिसमें असत्य की तो गुञ्जाइश ही नहीं, ऐसा धर्म-युद्ध अनायास ही आता है और धर्मनिष्ठ मनुष्य उसके स्वागत के लिए हमेशा तैयार रहता है। पहले से जिसकी रचना करनी पड़े वह धर्मयुद्ध नहीं है।"[1] सत्याग्रही समाज-सेवा द्वारा आत्मानुभूति में प्रयत्नशील रहता है। जब उसके मार्ग में रुकावट पड़ती है, उसकी संवेदनशील विवेक बुद्धि को कोई बात अन्यायपूर्ण जंचती है और उसे आंतरिक प्रेरणा की अनुमति होती है, तब वह सत्याग्रह का उपयोग उस रुकावट के हटाने के लिए करता है। सत्याग्रह का उपयोग केवल समाज के हित के लिए हो सकता है, व्यक्तिगत लाभ के लिए कभी नहीं हो सकता।[2] जो व्यक्ति हानि-लाभ की भावना के ऊपर नहीं उठ सकता, वह सत्याग्रही होने के अयोग्य है, क्योंकि सत्याग्रही को सदा सत्य और न्याय की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने को तैयार रहना पड़ता है। किन्तु आत्म-सम्मान की रक्षा अहिंसक प्रतिरोध का उचित कारण है, क्योंकि आत्म-सम्मान की उपेक्षा समाज की असंतोषजनक नैतिक अवस्था की सूचक है। प्रकट है कि सत्याग्रह से अनैतिक कार्यों और अन्यायपूर्ण लाभ की रक्षा नहीं की जा सकती[3]।

सामाजिक हित के प्रश्नों में भी सत्याग्रही अहिंसक प्रतिरोध करने का निर्णय स्वयं अपनी मर्यादा और अन्याय का प्रकार और गंभीरता ध्यान में रखकर करता है। जैसा कि गांधीजी के जीवन से ज्ञात होता है, कुछ अवसरों पर

१. 'दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह', पूर्वार्द्ध, पृ० १३।
२. यं० इ०, भा० २, पृ० ११८३।
३. ह०, ५-६-३६, पृ० २३६।

सत्याग्रही बड़ी लड़ाइयों के लिए अपनी शक्ति की रक्षा करने के उद्देश्य से साधारण अन्याय की उपेक्षा कर देता है।[1]

उद्देश्य

व्यक्तिगत और सामूहिक सत्याग्रह का उद्देश्य न तो अन्यायी को दबाना, हराना, दंड देना या उसकी इच्छा-शक्ति को कमज़ोर बनाना है, और न उसको नुकसान पहुँचाना या परेशान करना है, यद्यपि वास्तव में सत्याग्रही के प्रतिरोध और कष्ट-सहन से अन्यायी को हानि पहुंच सकती है। सत्याग्रही विरोधी से मानवता के नाते प्रेम करता है और उसके उच्चतम अंश को प्रभावित करके, उसका हृदय-परिवर्तन करके, उसमें न्याय-भावना जाग्रत करना चाहता है। हृदय-परिवर्तन का अर्थ है कि प्रतिपक्षी अपनी भूल जान लेता है, उसके लिए पश्चात्ताप करता है और झगड़े का शान्तिमय निपटारा हो जाता है। जैसा गांधीजी ने एक बार मिस अगैथा हैरिसन से कहा था, "अहिंसक पद्धति का सार ही यह है कि यह विरोध का, विरोधियों का नहीं, अन्त करने का प्रयत्न करती है।"[2] सदा अहिंसक युद्ध का अन्त होता है समझौता, न कि एक पक्ष का दूसरे पर आधिपत्य या प्रतिपक्षी के सम्मान पर प्रहार करना। इस प्रकार सत्याग्रही एक पक्ष की विजय के लिए नहीं, दोनों पक्षों की विजय के लिए लड़ता है। वह अन्यायी की भी मांग के न्यायपूर्ण भाग की उपेक्षा नहीं करना चाहता। उसका उद्देश्य होता है दोनों पक्षों के मत के न्यायपूर्ण अंशों का समन्वय।

सत्याग्रह का ध्येय उसकी पद्धति का निर्देश करता है। निषेधात्मक रूप से सत्याग्रही को सब प्रकार की हिंसा से अलग रहना चाहिए। हिंसा विरोधी के विनाश का या कम-से-कम उसको चोट पहुँचाने का प्रयत्न करती है, और यह उसको सुधारने का या उसके हृदय-परिवर्तन का मार्ग नहीं है। सत्याग्रही को चाहिए कि इस बात का प्रयत्न करे कि वह जान-बूझकर विचार, शब्द या कार्य से विरोधी को हानि न पहुंचाए। इस प्रकार उसको अपने हृदय में क्रोध, घृणा, दुर्भावना, सदेह, प्रतिहिंसा या ऐसी ही दूसरी विभाजक भावनाओं को स्थान नहीं देना चाहिए। जहाँ तक भाषण का सम्बन्ध है, उसको सब प्रकार की गाली-गलौज, सम्मान पर प्रहार करने वाली, गर्व या अनावश्यक रूप से कष्ट पहुँचाने वाली भाषा से बचना चाहिए। अपने कार्यों में उसको पाशविक शक्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करना

१. 'आत्म-कथा', पृ० १६४।

२. ह०, २६-४-३६, पृ० १०१।

अन्यायी के साथ सहयोग करना और उसको सहायता देना है। सब प्रकार की उत्तेजना के होते हुए भी असहिष्णुता और प्रतिहिंसा से बचना चाहिए और प्रतिपक्षी को डराना नहीं चाहिए। यदि सत्याग्रही पर आक्रमण हो, तो उसे मुकदमा नहीं चलाना चाहिए, न उसे बाहर वालों को अपनी सहायता के लिए बुलाना चाहिए, क्योंकि इन दोनों बातों का अर्थ है शरीर-शक्ति का सहारा लेना।

विधायक रूप से "सत्याग्रही सदा अशुभ को शुभ से, क्रोध को प्रेम से, असत्य को सत्य से और हिंसा को अहिंसा से जीतने का प्रयत्न करेगा।"[1] सत्याग्रही को आत्मशक्ति की कार्य-पद्धति और प्रतिपक्षी के साथ अपनी आध्यात्मिक एकता का बोध होता है। इसलिए वह विरोधी के साथ अपने कुटुम्ब के सदस्य की भाँति व्यवहार करता है। उसे चाहिए कि वह विरोधी को भूल से बचाने के लिए उस घरेलू रीति का उपयोग करे जो मतभेद को कम-से-कम करके और जिन बातों पर दोनों पक्ष सहमत है उन पर ज़ोर देकर झगड़े का निपटारा आसान कर देती है। गांधीजी कहते हैं, मैं "अन्यायी के प्रति, जो मेरा शत्रु है, उन्हीं नियमों का प्रयोग करूंगा जिनका मैं अपने अन्याय करने वाले पिता या पुत्र के प्रति करता।"[2] गांधीजी घरेलू नीति का वर्णन इस प्रकार करते हैं, "घरेलू झगड़ों और मतभेदों का निपटारा प्रेम के नियम के अनुसार होता है। जिस सदस्य को आघात पहुंचता है उसे दूसरों के लिए इतना आदर होता है कि वह जिन लोगों के साथ उसका मतभेद है उनसे बिना नाराज हुए या बदला लिए अपने सिद्धान्तों के लिए कष्ट सह लेता है और क्योंकि क्रोध का दमन और कष्ट-सहन कठिन प्रक्रियाएं हैं, इसलिए वह तुच्छ बातों को बढ़ाकर सिद्धान्तों में परिणत नहीं कर देता, बल्कि सभी अनावश्यक बातों में इच्छापूर्वक अन्य कुटुम्बियों से सहमत हो जाता है और इस प्रकार, बिना दूसरों की शांति-भंग किये, अपने आप अधिकतम शान्ति-लाभ का उपाय करता है। इस प्रकार उसका कार्य, चाहे वह विरोध करे या कुटुम्बियों की बात मानले, सदा कुटुम्ब की भलाई की वृद्धि के लिए होता है।"[3]

प्रतिपक्षी के साथ अपने कुटुम्ब के सदस्य की भाँति बर्ताव करने की रीति है उसके उद्देश्य की ईमानदारी में उसी प्रकार विश्वास करना जिस

१. य० इ०, ८-८-१६२६।
२. 'स्पीचेज़', पृ० २८४।
३. 'स्पीचेज़', पृ० ५०२।

प्रकार सत्याग्रही अपनी ईमानदारी में विश्वास करता है।[1] "यदि वह प्रतिपक्षी को नहीं भी जानता या उसे अविश्वसनीय भी समझने लगा है, तब भी उसे प्रतिपक्षी का दृढ़ता से विश्वास करना चाहिए।"[2] "यदि विरोधी उसे बीस बार धोखा देता है, तो भी सत्याग्रही इक्कीसवें बार उसका विश्वास करने को तैयार रहता है, क्योंकि मनुष्य-स्वभाव में दृढ़ श्रद्धा उसके सिद्धांत का सार है।"[3]

समझौता

व्यक्तिगत सम्बन्धों में सत्याग्रही पद्धति में, घरेलू झगड़ों के सादृश्य से, समझाना-बुझाना और विचार परिवर्तन; झगड़े का किसी ऐसे मनुष्य द्वारा निपटारा जिसके निर्णय मे दोनों पक्षों को विश्वास है; असहयोग; यदि अन्यायी का सत्याग्रही को आज्ञा देने की सत्ता प्राप्त है, तो उसकी आज्ञा का सविनय भंग; प्रतिरोध के परिणामस्वरूप कष्ट-सहन, उपवास; आदि सम्मिलित है। अहिंसक प्रतिरोध आदि से अन्त तक शुद्ध रहना चाहिए और सत्याग्रही को सत्य और अहिंसा पर अटल रहना चाहिए।

सत्याग्रही को अन्यायी में भी सत्य के अंश की उपेक्षा नहीं करना चाहिए। विपक्षी के प्रति पूर्ण न्याय करने के लिए यह आवश्यक है कि सत्याग्रही अपनी बुद्धि को निष्पक्ष रखे, विपक्षी के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करे, और यदि आवश्यक हो तो अपने निर्णय में संशोधन करने के लिए तैयार रहे।[4] सत्याग्रही सदा अपने से भूल होने की सम्भावना मानता है और भूल जान लेने पर हर तरह की जोखिम उठाकर भी उसको स्वीकार कर लेता है और उसके लिए प्रायश्चित करता है।[5] सत्याग्रही की शक्ति विपक्षी पर उसकी नैतिक उत्कृष्टता में है। असत्य पर आग्रह करने का अर्थ है वास्तविक शक्ति को प्रतिष्ठा की झूठी भावना के कारण खो देना। गांधीजी लिखते हैं, "भूल-स्वीकार उस झाड़ू की भांति है जो धूल झाड़ देता है और धरातल को पहिले से अधिक साफ़ कर देता है। मनुष्य नीति-पथ से आग्रहपूर्वक भटक कर अपने उद्दिष्ट स्थान पर कभी नहीं पहुँचा है।"[6]

१ यं०, इ०, भा० २, पृ० १३१६।
२. ह०, ३-६-३६, पृ० १५०।
३. 'साउथ ऐफ्रिका' (अं), पृ० २४६।
४. यं० इ०, भा० २, पृ० २२७, पृ० १३२०; यं० इ०, भा० ३, पृ० ३८७।
५. 'आत्म-कथा', भा० ४, पृ० ३६४।
६. यं० इ०, भा० १, पृ० ६६६।

विरोधी की भूल का कारण या तो अज्ञान होता है या स्वार्थपरता और दुर्भावना—यद्यपि स्वार्थपरता और दुर्भावना का भी कारण अन्त में अज्ञान होता है। इसलिए अहिंसक प्रतिरोध में, प्रतिरोध चाहे व्यक्तिगत हो चाहे सामूहिक—सबसे पहिले सत्याग्रही विपक्षी को समझा-बुझाकर समझौता करने का भरसक प्रयत्न करता है। यदि आवश्यक हो तो वह इसके लिए तैयार हो जाता है कि कोई मध्यस्थ झगड़े का निर्णय कर दे। वह उग्र साधनों का प्रयोग एकदम नहीं करता, तभी करता है जब शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा समझौते का प्रयत्न निष्फल होता है।

हो सकता है कि विपक्षी समझौते की बातचीत के लिए तैयार न हो इसलिए सत्याग्रही का बातचीत द्वारा झगड़ा निपटाने का प्रयत्न असफल हो।[1] लेकिन असफलता सत्याग्रही की भूल के कारण नहीं होना चाहिए। समझौते के प्रारम्भिक प्रयत्नों के असफल हो जाने के बाद भी सत्याग्रही सदा संघर्ष की प्रत्येक अवस्था में शान्तिमय निपटारे के प्रत्येक अवसर का उपयोग करने के लिए तैयार रहता है। यदि आवश्यक हो तो वह समझौते के लिए विपक्षी का दरवाज़ा खटखटाता है, क्योंकि वह प्रतिष्ठा की झूठी भावना से मुक्त होता है। एक बार दक्षिण अफ्रीका के अहिंसक संघर्ष में जब समझौते की ज़रा भी आशा न रही थी, गांधीजी ने अपनी ओर से स्मट्स साहब से मुलाक़ात की। बातचीत के फलस्वरूप स्मट्स साहब नर्म पड़ गए और समझौते के लिए गांधीजी का अन्तिम प्रयत्न सफल हो गया। लेकिन यद्यपि सत्याग्रही समझौते के लिए उत्सुक रहता है और अनावश्यक बातों में दबने को तैयार रहता है,[2] वह उन नैतिक सिद्धांतों पर कभी नहीं झुकता जिनको विपक्षी के अन्याय से चोट पहुंची है और जो अहिंसक प्रतिरोध का कारण हैं। गांधीजी ने एक बार कहा था, 'मेरे समझौते देश या (राष्ट्रीय) उद्देश्य को हानि पहुंचाकर कभी न होंगे'[3] बुनियादी बातों में समझौता विरोधी के प्रति समर्पण कर देने का सूचक है। इसलिए समझौता तभी हो सकता है जब दोनों पक्ष बुनियादी बातों के बारे में एक मत हों।

हमारे देश के कुछ मार्क्सवादी राजनीतिज्ञ गांधीजी से इस प्रश्न पर सहमत नहीं हैं। उनकी राय है कि समझौते की मानसिकता सत्याग्रही सिपाहियों का जोश ठंडा और शक्ति कम कर देती है। मनोवैज्ञानिक

१. ह०, २४-६-३६, पृ० १६६-७० और १७२।
२. यं० इं०, भा० ३, पृ० १०५८।
३. ह०, ३०-३-४०, पृ० ७०, ७२।

और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से लड़ाई का एक उचित अवसर होता है, जो समझौते की बातचीत में हाथ से जाता रहता है, और जब अन्त में लड़ाई प्रारम्भ होती है तो अनुकूल वातावरण नहीं रहता।

लेकिन गांधीजी के अनुसार समझौते के लिए उत्सुकता सत्याग्रह का आवश्यक अंग है। सत्याग्रही को विपक्षी के साथ अपनी आध्यात्मिक एकता का ध्यान रहता है, वह वास्तव में विपक्षी से मानवता के नाते प्रेम करता है और उसका उद्देश्य होता है शान्ति, न कि लड़ाई। समझौताप्रियता और समझौते के लिए प्रयत्न करना सत्याग्रही के इस ऊंचे आध्यात्मिक उद्देश्य को प्रकट करते हैं। इससे मालूम हो जाता है कि सत्याग्रह आवश्यक रूप से बचाव की लड़ाई है जिसके लिए सत्याग्रही को मजबूरन तैयार होना पड़ा है, क्योंकि उसके लिए आत्म-सम्मान और ईमानदारी का कोई दूसरा रास्ता नहीं है। इससे सत्याग्रही को जनमत की सहानुभूति और सहायता भी मिल जाती है।

संघर्ष की किसी-न-किसी अवस्था में, कम-से-कम उसके अन्त में, दोनों पक्षों में बातचीत और समझौता तो होगा ही। प्रारम्भ में ही समझौते के प्रयत्न में शायद दोनों पक्ष संघर्ष के कष्ट-सहन से बच जायं। इसके अतिरिक्त सत्याग्रही का सत्य-प्रेम भी उसे समझौताप्रिय बनाता है। वह जानता है कि मनुष्य सत्य को सदा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से और आंशिक रूप में ही देख पाते हैं। गांधीजी ने एक बार लुई फिशर से कहा था, "मैं आवश्यक रूप से समझौता करने वाला मनुष्य हूं, क्योंकि मैं कभी निश्चित नहीं रहता कि मैं ठीक हूं।"[1] इसीलिए उनका कहना है कि "अनावश्यक बातों में पूरी तरह दब जाना, आवश्यक बातों की जान देकर भी रक्षा करने की आंतरिक शक्ति प्राप्त करने की पूर्व मान्यता है।"[2] इस प्रकार समझौते की बातचीत करने से इन्कार कर देना या संघर्ष प्रारम्भ करने में उतावलापन करना सत्याग्रही के लिए बहुत अनुचित है।

सामूहिक सत्याग्रह में समझौते के लिए उत्सुकता से सत्याग्रही सिपाहियों का अनुशासन ढीला न होना चाहिए, क्योंकि सत्याग्रही नेता और उसके सहकारी अनुगामियों के निकट सम्पर्क में रहते हैं और उन्हें यह समझाते रहते हैं कि अहिंसक युद्ध-नीति में समझौते के प्रयत्न की क्या महत्ता है। हिंसात्मक क्रान्ति की सफलता के लिए यह आवश्यक होता है कि

१. 'लुई फिशर', 'ए वीक विद गांधी', पृ० १०२।
२. ह०, १०-११-४०, पृ० ३३३।

जनता की विभाजक प्रवृत्तियां और भावनाएं पूरी तरह, उत्तेजित कर दी जायं, और इसलिए हिंसात्मक आन्दोलन पर एकता की भावना पर जोर देने वाले समझौते की बातचीत का प्रभाव जरूर विघ्नकारी होता है। लेकिन हिंसात्मक क्रान्ति के विपरीत सत्याग्रह विधायक प्रवृत्तियों को, सेवा के लिए कष्ट-सहन की उत्सुकता को, जाग्रत करता है और प्रतिहिंसा की भावना पर नियन्त्रण रखने की शिक्षा देता है। समझौते और सत्याग्रह में भावनाओं, प्रवृत्तियों और आदर्शों की एकता है और बिना बुनियादी सिद्धान्तों को हानि पहुंचाए उचित समझौते के लिए भरसक प्रयत्न सत्याग्रही संघर्ष में पहिला क़दम है। यदि समझौते के लिए प्रयत्न सत्याग्रही स्वयंसेवकों का अनुशासन ढीला कर दे तो यह इस बात का निश्चित चिन्ह है कि न तो वह सत्याग्रह के आदर्श को अपना पाए हैं और न उन्होंने रचनात्मक कार्यक्रम का ठीक अभ्यास किया है।

हो सकता है कि समझौते की बातचीत की आड़ में हिंसक विरोधी अपनी तैयारी पूरी कर ले और समझौते के भुलावे में पड़े सत्याग्रही समुदाय पर अचानक आक्रमण करके उसका नाश करने में कोई कसर न रक्खे। लेकिन सत्याग्रही के लिये इसमें चिंता का कोई कारण नहीं है। सत्य का ही वास्तविक अस्तित्व है, और जब वह पराजित-सा मालूम होता है, तब भी उसमें जीवित और शक्तिशाली रहने की अनोखी क्षमता होती है। सत्य पर अवलम्बित आत्मशक्ति और हिंसा पर आधारित पाशविक बल की कोई तुलना नहीं। अगर सत्याग्रही के शिविर में सब कुछ ठीक है, तो विरोधी की शक्ति और तैयारी का सत्याग्रही के लिए कोई महत्त्व नहीं।[1]

विरोधी पक्ष से समझौते के प्रयत्न के अतिरिक्त सत्याग्रही अपनी बात जनता के सामने रखता है और जनमत को शिक्षित करता है। वह प्रतिरोध तभी प्रारम्भ करता है जब निपटारे के सभी शांतिपूर्ण उपाय निष्फल हो जाते हैं।[2]

कष्ट-सहन का महत्त्व

यदि विरोधी की बुद्धि को प्रभावित करने का सत्याग्रही का प्रयत्न विरोधी की अज्ञानता या स्वार्थपरता के कारण असफल हो जाय, तो सत्याग्रही के लिए केवलमात्र विकल्प है विरोधी के हृदय को प्रभावित करना। यह सत्याग्रही स्वेच्छा से स्वीकार किये कष्टसहन द्वारा करता है।

१. ह०, १७-२-१९४०, पृ० २।
२. यं० इं०, भा० ३, पृ० ४१३।

विरोधी के विवेक-जागृति के लिए गांधीजी कष्टसहन को बहुत महत्त्व-पूर्ण मानते हैं। वह सत्याग्रह को "कष्टसहन का नियम" और "सत्य के लिए तपस्या" कहते हैं। वह लिखते हैं, "मुझे इस विश्वास से कोई नहीं डिगा सकता कि यदि उद्देश्य शुद्ध हो तो कष्टसहन से जितनी उसकी उन्नति होती है उतनी और किसी (साधन) से कभी नहीं हुई है।"[1] "उन्नति का माप कष्टसहन करने वाले के कष्टसहन के परिमाण से होता है। जितना शुद्ध कष्ट-सहन होता है, उतनी ही अधिक उन्नति।"[2] "किसी भी देश ने कभी भी कष्टसहन की अग्नि में शुद्ध हुए बिना उन्नति नहीं की है। मां कष्ट-सहन करती है जिससे उसका बच्चा जीवित रहे। गेहूँ के पैदा होने की शर्त यह है कि बीज नष्ट हो जाय। जीवन का मृत्यु में से ही उद्गम है।"[3] शुद्धता का अर्थ है अनुशासन और गांधीजी कहते हैं कि बिना अनुशासन के केवलमात्र कष्टसहन निष्फल होगा। अनुशासन की पर्याप्तता का चिन्ह यह है कि कष्टसहन आनन्दप्रद हो जाय और सत्याग्रही को "सिंह के मुख में सर के बल घुसने में" सुख का अनुभव होने लगे।

सत्याग्रह के परिणामस्वरूप मिलने वाले कष्ट-सहन की कोई सीमा नहीं। सत्याग्रही में कष्ट-सहन की असीम क्षमता होनी चाहिए। गम्भीरतम उत्तेजना के होते हुए भी उसे अपनी प्रवृत्तियों और भावनाओं पर नियंत्रण रखना चाहिए और प्रसन्नता से सब प्रकार की हानियों और असुविधाओं को—आक्रमण, मारपीट बहिष्कार, सम्पत्ति-हानि और मृत्यु को भी—सहन करना चाहिए। आत्म-सम्मान के सिवा उसे सब-कुछ जोखिम में डालने को तैयार रहना चाहिए।[4] और उसे चाहिए कि वह विरोधी को कष्ट-सहन द्वारा तब तक प्रभावित करता रहे जब तक कि सहानुभूति के उमड़ पड़ने से विरोधी का हृदय-परिवर्तन न हो जाय।

जहां तक कि महत्त्वपूर्ण मामलों में विरोधी के हृदय-परिवर्तन का सम्बन्ध है कोई और साधन इतना कारगर नहीं जितना कि कष्टसहन। तर्क और समझाने-बुझाने की अपेक्षा कष्टसहन कहीं अधिक प्रभावोत्पादक है। गांधीजी के शब्दों में, "यदि आप चाहते हैं कि वास्तविक महत्ता की कोई बात हो जाय, तो आपको केवल बुद्धि को ही सन्तुष्ट नहीं करना चाहिए,

१. यं० इं०, भा० २, पृ० ८३८।
२. यं० इं०, भा० १, पृ० ८३१।
३. यं० इं०, भा० १, पृ० २३०।
४. ह०, ५–६–३६, पृ० २३६।

आपको हृदय को भी प्रभावित करना चाहिए। तर्क दिमाग को अधिक प्रभावित करता है, लेकिन कष्ट-सहन हृदय तक पहुंचकर मनुष्य के आंतरिक विवेक को जगा देता है।"[1] "मेरा अनुभव है कि जहां पक्षपात दीर्घकालीन होते हैं, वहां केवल बुद्धि को प्रभावित करना पर्याप्त नहीं होता। बुद्धि को कष्ट-सहन से बल देना पड़ता है और कष्ट-सहन आंतरिक विवेक-चक्षु खोल देता है।"[2]

कष्ट-सहन की प्रभाव-प्रक्रिया

लेकिन कष्ट-सहन से अन्यायी का नैतिक सुधार कैसे होता है? किस प्रकार कष्ट-सहन से हृदय-परिवर्त्तन होता है और आन्तरिक विवेक जग उठता है?

अपने लेखों में बिखरे हुए कुछ वाक्यों में गांधीजी ने व्यक्तिगत और सामूहिक सत्याग्रह की प्रभावप्रक्रिया का वर्णन किया है और बतलाया है कि किस प्रकार कष्टसहन से विरोधी का हृदय-परिवर्त्तन होता है।

जब सत्याग्रही अहिंसा का प्रयोग करता है और अपनी इच्छा से कष्ट सहता है तब उसका विशुद्ध-प्रेम शक्तिशाली बनता है अर्थात् उसकी आत्म-शक्ति का बहुत विकास होता है। गांधीजी के शब्दों में, "जितना अधिक आप उसका (अहिंसा का) अपने में विकास करते हैं, उतना ही वह संक्रामक हो जाती है, यहां तक कि वह आपके पास-पड़ौस पर अधिकार कर लेती है और धीरे-धीरे संसार को हिला सकती है।"[3] "जितनी अधिक हमारी पवित्रता होती है उतनी अधिक हमारी शक्ति और उतनी ही अधिक शीघ्र हमारी विजय।"[4] कुछ वर्ष हुए गांधीजी ने एक पत्रकार को—जिसने आधुनिक जड़वादी संसार में अहिंसा की कार्य-क्षमता के बारे में संदेह प्रकट किया था—एक पत्र में लिखा था, "क्या आप यह अनुभव नहीं करते कि जब अहिंसा की शक्ति स्थापित हो जाती है, तब जड़वाद पिछड़ जाता है, प्रभाव-मार्ग बदल जाते हैं और अहिंसक युद्ध में प्रयत्न, सम्पत्ति या नैतिक शक्ति का अपव्यय नहीं होता।"[5]

१. यं० इं०, ५–११–३१।
२. यं० इं०, भा० २, पृ० १३२०।
३. ह०, २८–१–३६, पृ० ४४३।
४. 'स्पीचेज़', पृ० ६३६।
५. 'हिन्दुस्तान टाइम्स', २४–१–४१ में प्रकाशित इस पत्र का उद्धरण।

गांधीजी ने मनोविज्ञान की भाषा में भी अहिंसा की प्रभाव-प्रक्रिया का वर्णन किया है। "बलवान शरीर वाले प्रायः धृष्टता से दृढ़ शरीर-शक्ति का प्रयोग करते हैं। लेकिन इस दृढ़ शक्ति का सामना जब अपने समान शक्ति से नहीं, बल्कि नितांत विरोधी शक्ति से होता है, तो उसके विरुद्ध यह (शरीर-शक्ति) कुछ कर ही नहीं सकती। स्थूल शरीर दूसरे स्थूल शरीर के विरुद्ध ही काम कर सकता है। आप हवा में क़िले नहीं बना सकते।"[1] "अन्यायी (हिंसात्मक) विरोध के अभाव में अन्याय करते-करते थक जाता है। जब अन्याय से पीड़ित व्यक्ति (हिंसात्मक) विरोध ही नहीं करता तो (अन्यायी का) सब आनन्द जाता रहता है।"[2] "मैं अत्याचारी की तलवार की धार पूरी तरह गुठल कर देना चाहता हूँ, उसके विरुद्ध ज़्यादा तेज़ धार वाले हथियार का प्रयोग करके नहीं, बल्कि उसकी इस आशा पर पानी फेर कर कि मैं शारीरिक प्रतिकार करूँगा। उसके स्थान में मैं आत्म-शक्ति द्वारा प्रतिकार करूँगा जिससे वह पार न पा सकेगा। पहिले तो वह चौंधिया जायगा और अन्त में उसे उस प्रतिकार का लोहा मानना पड़ेगा। लेकिन इससे उसके सम्मान पर प्रहार न होगा, बल्कि उसका उत्थान होगा।"[3]

गांधीजी अहिंसा के प्रभावकारी होने का एक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक कारण बताते हैं। अहिंसा का प्रभाव विरोधी पर उसके अनजान में होता है और अनजान का प्रभाव उस प्रभाव से कहीं अधिक होता है जिसके बारे में विरोधी सचेत होता है। "हिंसा में कुछ भी अदृश्य नहीं। दूसरी तरफ अहिंसा तीन-चौथाई अदृश्य है और जितना ही अधिक वह अदृश्य है उतना ही अधिक उसका प्रभाव है। जब अहिंसा सक्रिय हो जाती है, वह असाधारण गति से चलती है और तब चमत्कार बन जाती है।"[4] इस तरह विरोधी के

१. 'स्पीचेज़', पृ० ७११।

२. वही, पृ० ६३६।

३. यं० इं०, भा० २, पृ० ८३४। जब दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह संग्राम का अन्त होने वाला था, तब जनरल (अब फील्डमार्शल) स्मट्स के एक सेक्रेटरी ने गांधीजी से कहा था, "मैं प्रायः चाहता हूं कि आप अंग्रेज हड़तालियों की तरह हिंसा का प्रयोग करें और तब हम आपको फौरन सीधा करदें। लेकिन आप तो अपने दुश्मन को भी नहीं सताना चाहते। आप केवल कष्ट-सहन द्वारा जीतना चाहते हैं और सज्जनता और शूरता की स्वयं निर्धारित मर्यादा का भी उल्लङ्घन नहीं करते। और यह बात हमको नितात असहाय बना देती है।" 'साउथ अफ्रीका', पृ० ४६२।

४. ह०, २०-३-३७, पृ० ४१-२।

मन पर पहिले अनजान में प्रभाव पड़ता है और फिर सचेतन अवस्था में। दूसरे प्रकार के प्रभाव का अर्थ है हृदय-परिवर्तन।

गांधीजी अहिंसा की मूक, सूक्ष्म, अदृश्य प्रभाव-प्रक्रिया की आकर्षक शब्दों में होम्योपैथिक इलाज से तुलना करते हैं। "असहयोग एलोपैथिक इलाज नहीं है। वह होम्योपैथिक (इलाज) है। रोगी को दवा की बूंदों का स्वाद भी नहीं मिलता। उसे कभी-कभी विश्वास भी नहीं होता, लेकिन अगर हम होम्योपैथिक डाक्टरों पर विश्वास करें, तो होम्योपैथी की स्वाद-रहित बूँदें या छोटी गोलियां एलोपैथी की आऊंस-आऊंस की ख़ूराकों या गला पकड़ने वाली गोलियों की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली होती हैं। मैं पाठकों को विश्वास दिलाता हूं कि शुद्धकारी अहिंसा का प्रभाव होम्योपैथिक दवा के प्रभाव से अधिक निश्चित होता है।"[1]

इसके अतिरिक्त, अहिंसा सब प्रकार के अन्याय और शोषण की अचूक दवा है, क्योंकि अन्यायी और शोषित का सहयोग अन्याय की पूर्वमान्यता है। जब सत्याग्रही सहयोग से हाथ खींच लेता है, तो अन्यायी विफल और शक्तिहीन हो जाता है। कष्ट-सहन इस बात का प्रमाण है कि अहिंसावादी अन्यायी के साथ सहयोग न करेगा। अत्याचारी शासक और सत्याग्रही शासितों के संबन्ध का हवाला देते हुए सन् १९१७ ई० में गांधीजी ने कहा था, "वह (शासक) जानते हैं कि वह सत्याग्रही के विरुद्ध शक्ति-प्रयोग में सफल नहीं हो सकते। बिना उसकी अनुमति के वह (शासक) उससे अपनी इच्छा के अनुसार कार्य नहीं करवा सकते।"[2]

संक्षेप में, सत्याग्रही की अहिंसा से हिंसावादी विरोधी चौंधिया जाता है और उसका नैतिक संतुलन डिग जाता है। पर सत्याग्रही शांत रहता है, विक्षुब्ध नहीं होता और न बदला लेने का प्रयत्न करता है। यह बात, परिपोषण के अभाव के कारण, विपक्षी की हिंसावृत्ति को थकाकर दुर्बल बना देती है।[3] सत्याग्रही का सत्यात्मक प्रेम और उसकी सद्भावना, विरोधी की नैतिक भलाई में उसकी दिलचस्पी, विरोधी की उच्चतम भावनाओं को समझने और उनको प्रभावित करने का प्रयत्न—यह सब अन्यायी की हिंसा-वृत्ति को दबा देते हैं। क्रमशः विरोधी अन्याय करते-करते थक जाता है और लज्जित हो जाता है, उसकी उदार भावनाएं जग उठती हैं और उसे पश्चाताप होने लगता है। सत्याग्रही तो न्यायपूर्ण समझौते के लिए सदा तैयार ही रहता है,

१. यं० इं०, भा० १, पृ० ९८८।
२. 'स्पीचेज', पृ० ९८८।
३. यं० इं०, भा० १, पृ० ९०६।

इसलिए झगड़े का निपटारा आसानी से हो जाता है। यदि अन्यायी की हिंसा-वृत्ति लाइलाज हो गई है, तो वह स्वयं अपना नाश कर बैठता है और उसको शीघ्र मालूम हो जाता है कि उसने दूसरों की सहायता और सहानुभूति खो दी है और अकेला रह गया है।

लेकिन यद्यपि कष्ट-सहन सत्याग्रह का आवश्यक अङ्ग है, सत्याग्रही को नाटकीय और प्रदर्शनशील होने का प्रयत्न न करना चाहिये। ऐसा करना सत्याग्रह के वास्तविक तथ्य को न समझने का और नम्रता के अभाव का द्योतक है। गांधीजी का विश्वास है कि शीघ्र सफल होने की कुंजी सत्य और अहिंसा के मौन, अप्रदर्शनशील कार्य में न कि दिखावटी तमाशे में— प्रकट होने वाली नम्रता है।[1]

कभी-कभी यह मान लिया जाता है कि सत्याग्रही अन्यायी को इस प्रकार मजबूर करता है कि उसका व्यवहार पाशविकता की पराकाष्ठा तक पहुँच जाय और वह सत्याग्रही को चोट पहुँचाए।[2] लेकिन गांधीजी के अनुसार कष्ट-सहन विरोधी के हृदय-परिवर्तन का साधन मात्र है और विरोधी की पाशविकता को बढ़ाने से हृदय-परिवर्तन अधिक दुःसाध्य हो जायगा। सत्याग्रही कष्ट-सहन का, मृत्यु का भी, स्वागत करता है, लेकिन कष्ट-सहन की खोज में नहीं निकलता, उद्देश्य-सिद्धि के प्रयत्न में जो कष्ट-सहन अपने आप आ पड़ता है उसे सहर्ष स्वीकार करता है, लेकिन उसका साध्य सेवा और प्रेम है, कष्ट-सहन और मृत्यु नहीं। "हम सब में एक शहीद की मौत मरने की पर्याप्त वीरता होना चाहिए, लेकिन किसी को आत्म-बलिदान में उत्सुकतापूर्ण आसक्ति नहीं होना चाहिए।"[3] सन् १९२४ ई० में गांधीजी ने सिक्ख सत्याग्रहियों द्वारा गिरफ्तारियों में रुकावटें डालने को—जिसके कारण अधिकारी उन पर गोली चलाते थे अनुचित ठहराया था।[4]

वह स्पष्ट शब्दों में सत्याग्रही को चेतावनी देते हैं कि सत्याग्रही को जानबूझ कर विरोधी को उत्तेजित न करना चाहिए,[5] बल्कि विरोधी के सब उत्तेजक और अत्याचारपूर्ण कार्यों का सामना कायरता के इल्ज़ाम की

१. यं० इ०, ८-८-१९२९; य० इ०, भा० १ पृ० २७८।
२. उदाहरण के लिए श्रीधरनी का मत उनकी 'वार विदाउट वायालेन्स' (पृ० २६५) में देखिए।
३. य० इ०, भा० ३, पृ० २०।
४ य० इ०, भा० १, पृ० ८३८
५. ह०, २–३–४०, पृ० २२।

जोखिम उठाकर भी—आदर्श आत्मनियन्त्रण से करना चाहिए।[1] उनका यह भी मत है कि आध्यात्मिक प्रयोग होने के कारण सत्याग्रह कभी बदले को उत्तेजना न देगा। सत्याग्रह मनुष्य के उत्कृष्ट अंश को जाग्रत करेगा, अपकृष्ट को नहीं। लेकिन प्रकट है कि उत्कृष्ट अंश से गांधीजी का अर्थ विरोधी के खुशमिजाज़ रहने से नहीं। वास्तव में अन्यायी के उत्कृष्ट अंश को जाग्रत करने में संभवतः उसको नाराज़ करना पड़े।

असहयोग

सत्याग्रह की एक महत्वपूर्ण शाखा और कष्ट-सहन का एक प्रकार अहिंसात्मक असहयोग है। वह "दुःखित प्रेम की अभिव्यक्ति है।"[2] असहयोग सदा विरोधी के हिंसा छोड़ देने के बाद उसके साथ सहयोग करने के उद्देश्य से किया जाता है। गांधीजी ने एक बार मिस अगैथा हैरिसन से कहा था, "यद्यपि असहयोग अहिंसा के अस्त्रागार में प्रमुख अस्त्र है, यह न भूलना चाहिए कि वह सत्य और न्याय के अनुसार विरोधी के सहयोग-प्राप्ति का साधन है।"[3] सन् १९२४ में उन्होंने लिखा था, "मेरे असहयोग के पीछे बुरे-से-बुरे विरोधी के साथ भी अल्पतम बहाने पर सहयोग करने की प्रबलतम इच्छा है। मुझ सरीखे अपूर्ण मनुष्य के लिए, जिसे सदा ईश्वर की कृपा की आवश्यकता है, कोई भी सुधार से परे नहीं है।"[4]

असहयोग की अन्तर्निहित धारणा यह है कि अन्यायी तभी सफल हो सकता है जब वह अपने शोषण-कार्य में, यदि आवश्यकता हो तो बलपूर्वक, शोषित का सहयोग प्राप्त करे। और सत्याग्रही का कर्त्तव्य है कि शोषक के प्रतिकार में प्राप्त कष्ट-सहन को स्वीकार करे और उसकी इच्छा के प्रति आत्म-समर्पण न करे। यदि शोषित निष्क्रिय मौन सम्मति द्वारा अन्याय के प्रति सहिष्णुता दिखाता रहता है और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अन्याय या अन्यायी से प्राप्त लाभ को स्वीकार करता है, तो शोषित भी अत्याचारी का सहकारी है।

असहयोग हिंसात्मक भी हो सकता है। लेकिन हिंसात्मक असहयोग बुराई को केवल बढ़ाता है। अशुभ का परिपोषण हिंसा से ही हो सकता है, इसलिए यह आवश्यक है कि असहयोग अहिंसात्मक हो। असहयोग में

१. ह० २७–५–३६, पृ० १४३।
२. ह०, १७–५–३६, पृ० १४४।
३. ह० २६-४-३६, पृ० १०१।
४. यं० इ०, भा० २ पृ० ५१०।

विरोधी की आज्ञा का सविनय भंग भी सम्मिलित है। लेकिन सविनय आज्ञा-भंग सत्याग्रह के सामूहिक रूप का महत्वपूर्ण भाग है और इसलिए हम उसका वर्णन अगले अध्याय में करेंगे।

असहयोग दैनिक जीवन की समस्याओं के लिए उपयुक्त सार्वभौम उपाय है। उसका प्रयोग घनिष्ठ सम्बन्धियों के विरुद्ध भी हो सकता है। गांधीजी लिखते हैं, "यदि मेरा पुत्र लज्जाजनक जीवन व्यतीत करे, तो मैं उसको ऐसा करने में, भरण-पोषण जारी रख कर, सहायता नहीं कर सकता। इसके विपरीत उसके प्रति मेरा प्रेम यह आवश्यक बना देता है कि मैं उसकी सब प्रकार की सहायता से हाथ खींच लूं, चाहे इससे उसकी मृत्यु ही क्यों न हो जाय। और उसी प्रेम के कारण मेरा यह कर्तव्य है कि जब वह पश्चात्ताप करे तब मैं उसका स्वागत करूं और उसको आश्रय दूं।"[1]

इसी प्रकार "यदि पिता अन्याय करे, तो उसके बच्चों का यह कर्तव्य है कि पिता का घर छोड़ दें। यदि स्कूल का प्रधानाध्यापक संस्था को अनैतिक आधार पर चलाता है, तो विद्यार्थियों को स्कूल छोड़ देना चाहिए। यदि किसी पंचायत का सभापति भ्रष्ट है, तो उसके सदस्यों को पंचायत से हाथ खींच लेना चाहिए, इसी प्रकार यदि सरकार घोर अन्याय करती है, तो शासितों को पूर्ण या आंशिक रूप से असहयोग करना चाहिये जिससे शासक की अन्याय से रक्षा हो जाय। मेरे द्वारा कल्पना किये गए उदाहरणों में से प्रत्येक में कष्ट-सहन का अंश है चाहे वह मानसिक हो या शारीरिक। इस कष्ट-सहन के बिना स्वतन्त्रता प्राप्त करना असम्भव है।"[2]

जब अन्यायी सत्याग्रही के सहयोग के बिना ही अपना काम चला सकता है, तो सत्याग्रह का उद्देश्य सत्याग्रही की आत्म-शुद्धि है। जब एक मित्र दूसरे को और नौकर मालिक को छोड़ देता है तो वह इसी नम्र प्रकार के असहयोग का व्यवहार करते हैं। इसके विपरीत यदि अन्यायी का सत्याग्रही के सहयोग के बिना काम नहीं चल सकता तो असहयोग उग्र प्रकार का होता है। उसका दृष्टांत है पिता द्वारा आश्रित पुत्र का त्याग। उग्र प्रकार के असहयोग से प्रतिपक्षी को असुविधा और कभी-कभी तो हानि भी होती है। लेकिन विरोधी का हृदय-परिवर्तन असहयोगी का उद्देश्य और प्रेम उसका चक्र होना चाहिए। उग्र प्रकार के असहयोग का प्रयोग गंभीर कारणों से ही करना चाहिए। विरोधी की असुविधा से सत्याग्रही को दुःख होना चाहिए और असहयोग के परिणामस्वरूप उसको किसी-न-किसी प्रकार का

१. यं० इ०, भा० १, पृ० २४७।
२. यं० इं०, भा० १, पृ० २३३-३४।

कष्ट सहना चाहिए।[1] यदि असहयोग के कारण विरोधी को ही सब कष्ट सहना पड़े और सत्याग्रही कष्ट से बिल्कुल बचा रहे तो यह असहयोग के हिंसात्मक होने का लक्षण है। सत्याग्रही सत्य की साधना स्वयं कष्ट उठाकर करता है, दूसरों को कष्ट देकर नहीं।

असहयोग करने के समय भी सत्याग्रही को चाहिये कि वह प्रतिपक्षी को यह महसूस करा दे कि सत्याग्रही उसका मित्र है। जहां तक सम्भव हो सत्याग्रही को मानवोचित सेवा द्वारा प्रतिपक्षी के हृदय को प्रभावित करने का प्रयत्न करना चाहिए।[2]

उपवास

सत्याग्रह के अस्त्रागार का अन्तिम, सर्वश्रेष्ठ शक्तिवाला अस्त्र उपवास है। गांधीजी उसे अजेय अस्त्र कहते हैं,[3] और उनका दावा है कि उन्होंने उपवास को विज्ञान का रूप दिया है।[4]

असहयोग में सत्याग्रही विरोधी की ओर से आया हुआ कष्ट सहता है। उपवास सत्याग्रही द्वारा स्वयं-निर्धारित कष्ट-सहन है। उपवास में अहिंसावादी स्वयं अपने शरीर की आहुति देता है। लेकिन असहयोग के विपरीत इस आध्यात्मिक साधन का प्रयोग-क्षेत्र बहुत मर्यादित है और इसके सदुपयोग और दुरुपयोग—सत्याग्रही उपवास और दुराग्रही भूख-हड़ताल—के बीच की भेद-रेखा बड़ी सूक्ष्म और साधारण रीति से अस्पष्ट है और असहयोग की अपेक्षा बहुत अधिक कठिनता से जानी जा सकती है। यह सूक्ष्मता और अस्पष्टता इतनी अधिक है और इसके उपयोग के लिए सत्याग्रही में इतनी उच्च नैतिक संवेदनशीलता की आवश्यकता है कि सत्याग्रह के प्रवर्तक गांधीजी से भी इस शस्त्र के प्रयोग में भूल हुई थी। उनका राजकोट का उपवास पूरी तरह न्यायसंगत था, किन्तु बाद में उन्होंने महसूस किया कि उपवास करने के साथ-साथ उनको ब्रिटिश सरकार से हस्तक्षेप करने की प्रार्थना नहीं करनी चाहिए थी। अपने पुराने घरेलू सम्बन्ध के कारण वह राजकोट के उस समय के शासक को अपने पुत्र के समान मानते थे और उसके राज्य-शासन में सुधार चाहने वाले सत्याग्रहियों को दिए गए वचन का पालन न करने के कारण गांधीजी ने उपवास किया था। उन्होंने अनुभव किया कि उपवास के साथ

१. य० इं०, भा० १, पृ० २३४, ३००।
२. ह० १२-११-३८, पृ० ३२७।
३. ह०, १३-१०-४०, पृ० ३३२।
४. उनका २१-६-३२ का वक्तव्य।

ब्रिटिश सरकार से हस्तक्षेप की प्रार्थना ने उपवास को दोषपूर्ण बना दिया। बाद में गांधीजी ने इस हस्तक्षेप से प्राप्त लाभ को त्याग दिया।[1]

उपवास का प्रयोग जैसा कि अध्याय ६ में बताया जा चुका है, तपस्या की तरह या आत्माभिव्यक्ति के लिए शुद्धकारी अनुशासन की तरह, अर्थात् शरीर पर आत्मा की प्रभुता के स्थापन के लिए हो सकता है। इस प्रकार के उपवास का सम्बन्ध अपनी भूलों और कर्मों से होता है और वह अनुशासन और आत्म-विकास का शक्तिशाली साधन होता है।

उपवास अन्याय के प्रतिरोध और अन्यायी के हृदय-परिवर्तन का साधन भी है। इस प्रकार का उपवास गांधीजी की भाषा में "शुद्ध और प्रेममय हृदय की प्रार्थना की उच्चतम अभिव्यक्ति है।" इस सत्याग्रही अस्त्र के प्रयोग के लिए बहुत सावधानी और गंभीरता आवश्यक है। उसका प्रयोग असाधारण अवसरों पर उपवास-कला में दक्ष व्यक्तियों द्वारा या किसी उपवास-विशेषज्ञ की देख-रेख में ही हो सकता है।[2] यदि बिना पहिले की तैयारी और पर्याप्त विचार के किया जाय तो वह सत्याग्रही उपवास नहीं, दुराग्रही भूख हड़ताल है।

अवसर और योग्यता

गांधीजी ने इस बात का विवेचन किया है कि इस सत्याग्रही साधन के उचित प्रयोग के लिए किस प्रकार के अवसर और योग्यता की आवश्यकता है।[3] उपवास के लिए शारीरिक योग्यता का कोई महत्व नहीं, लेकिन आध्यात्मिक योग्यता और शुद्ध अन्तर्दृष्टि आवश्यक हैं। ईश्वर के अस्तित्व में जीती-जागती श्रद्धा भी अनिवार्य है। सत्याग्रही उपवास में श्रद्धा की कमी, क्रोध, स्वार्थपरता और बेसब्री के लिए स्थान नहीं।[4] यह दोष उपवास को हिंसक बना देते हैं। "सत्य और अहिंसा के साथ-साथ सत्याग्रही को

१. यह कहना कि गांधीजी ने यह उपवास राजकोट-निवासियों को राजनैतिक अधिकार प्राप्त कराने को किया था भूल है। यदि राजकोट के ठाकुर वादा पूरा करते तो राजनैतिक अधिकार जरूर मिल गए होते, किन्तु नैतिक दृष्टिकोण से दोनों उद्देश्यों में बहुत अन्तर है।

२. ह०, ११-३-३९, पृ. ४६।

३. 'आत्म-कथा', भा० ४, पृ० ३६, य० इ० ०, भा० २, पृ० ११८३; ह० १८-३-३९, पृ० ५६।

४. किसी मनुष्य से रुपया ऐंठने के लिए या उधार दिया हुआ धन वसूल करने के लिए किए गये उपवास स्वार्थयुक्त प्रयोजन के लिए अनुचित दबाव

विश्वास होना चाहिए कि ईश्वर उसको आवश्यक शक्ति देगा और यदि उपवास में अल्पतम अशुद्धता भी है तो फौरन उपवास तोड़ने में उसे ज़रा भी हिचक न होगी। असीम धैर्य्य, दृढ़ निश्चय, ध्येय की एकाग्रता और पूर्ण शान्ति आवश्यक रूप से होनी ही चाहिए; लेकिन क्योंकि इन सब गुणों को एकदम विकसित कर लेना किसी व्यक्ति के लिए असम्भव है, इसलिए जो अहिंसा के नियमों का पालन नहीं करता रहा है, उसे सत्याग्रही उपवास नहीं करना चाहिए।"[1] गांधीजी के अनुसार जो सत्याग्रही उपवास करना चाहते हैं उन्हें आध्यात्मिक शुद्धता के लिए किये गए उपवासों का कुछ व्यक्तिगत अनुभव अवश्य होना चाहिए।

प्रकट है कि यद्यपि उपवास का वैयक्तिक और सामूहिक सत्याग्रह में महत्वपूर्ण स्थान है, साधारण जनता उसका उचित और प्रभावोत्पादक रीति से उपयोग नहीं कर सकती। चुने हुए योग्य व्यक्ति ही सत्याग्रही उपवास कर सकते हैं।

यह आवश्यक है कि उस व्यक्ति या जनसमूह की भूल ने, जिसके सुधार के लिये उपवास किया जा रहा है, सत्याग्रही को घोर कष्ट पहुँचाया हो, उसके अंतरतम को हिला दिया हो और सत्याग्रही को उपवास की आंतरिक प्रेरणा हुई हो--उसने अन्तरात्मा की स्पष्ट पुकार सुनी हो। उपवास प्रतिपक्षी के विरुद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह विरोधी के प्रति एक प्रकार की हिंसा होगी। सत्याग्रही विरोधी की आज्ञा का सविनय भंग करके उसको सज़ा देने का निमन्त्रण देता है, लेकिन जब विरोधी उसको सज़ा देने से इन्कार करदे तो सत्याग्रही के लिए यह अनुचित है कि वह अपने आपको सज़ा दे बैठे।[2] उपवास का प्रयोग केवल अपने निकटतम और प्रियतम व्यक्तियों के विरुद्ध उनकी भलाई के लिये ही हो सकता है।[3]

डालने को की गई भूख-हड़ताल के दृष्टांत हैं। उपवास के इस दुरुपयोग का दृढ़ प्रतिरोध सब का कर्तव्य है, क्योंकि यदि भय दिखाकर रुपया ऐंठने के लिए किये गए उपवासों को प्रोत्साहन मिले तो सामाजिक जीवन विश्रृंखल हो जायगा। ह० ६-६-३२ और य० इं०, भा. २, पृ० ११८३।

१. ह०, १३-१०-४०, पृ. ३२२।

२. तेन्दुल्कर आदि, 'गांधीजी, हिज़ लाइफ ऐंड वर्क', पृ० ३६८-६।

३. साधारण सत्याग्रही स्वयंसेवक का अपने गांव वालों या पड़ोसियों को इसलिए मजबूर करने को उपवास करना कि वह उसका मत मान कर सरकार से असहयोग करे उपवास के स्पष्ट दुरुपयोग का उदाहरण है। यं० इं०, भा० १, पृ० ६४१; यं० इं०, भा० २, पृ० ११८३।

जिससे सत्याग्रही को प्रेम हो और जिसके सुधार के लिए सत्याग्रही उपवास करता है, वह व्यक्ति भी हो सकता है और समुदाय भी। गांधीजी का राजकोट का उपवास वहाँ के शासक से उसके वचन-भंग के लिए पश्चाताप कराने के लिए था। बम्बई के १९२१ के दंगे के दिनों का उपवास वहां के निवासियों के विरुद्ध था और उनसे दंगा बन्द करने की अपील थी। सन् १९३२ ई० के गांधीजी के सुविख्यात ऐतिहासिक उपवास का उद्देश्य था "हिन्दू जनता की अन्तरात्मा को उचित धार्मिक कार्य की ओर प्रेरित करना" और अस्पृश्य जातियों को पृथक् चुनाव-क्षेत्र देकर सवर्ण हिन्दुओं से अलग करने के सरकार के प्रयत्न का विरोध अपने जीवन के बलिदान से करना।[1] इसी प्रकार सितम्बर १९४७ और जनवरी १९४८ में कलकत्ते और दिल्ली में किये गए उनके उपवासों का उद्देश्य था स्थानीय और देश भर के वातावरण को शुद्ध करना, जनमत को गत्यात्मक और क्रियाशील बनाना और इस प्रकार मानसिक अकर्मण्यता को दूर करके साम्प्रदायिकता के पागलपन को रोक देना।

विपक्षी के विरुद्ध उपवास

यद्यपि गांधीजी का मत है कि विपक्षी के विरुद्ध उपवास न करना चाहिए, लेकिन इस साधारण नियम के अपवाद भी हो सकते हैं। उन्होंने स्वयं कम-से-कम तीन बार ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध उपवास किये और इनके अतिरिक्त एक बार उन्होंने सरकार को आमरण उपवास की चेतावनी भी दी थी। २ दिसम्बर १९३२ ई० को जब वह कैदी थे उन्होंने श्री अप्पास्वामी पटवर्धन के द्वारा जेल में मेहतर के काम की मांग पूरी कराने के लिए किये गए उपवास के समर्थन में सहानुभूति-प्रदर्शन के लिए उपवास किया। श्री पटवर्धन की प्रार्थना, जिसे पहले जेल-अधिकारियों ने अस्वीकार कर दिया था, गांधीजी के उपवास प्रारम्भ करने के दो दिन बाद स्वीकृत हो गई। १६ अगस्त १९३३ ई० को गांधीजी ने फिर सरकार के विरुद्ध उपवास प्रारंभ किया। वह सविनय आज्ञा-भङ्ग के परिणामस्वरूप कैदी थे और जेल से ही अस्पृश्यता-निवारण संबन्धी आन्दोलन का—जिसको उन्होंने सितम्बर १९३२ ई० के उपवास के बाद अपना एकमात्र कार्य बना लिया था—नेतृत्व करने की सुविधा चाहते थे। उपवास के एक सप्ताह तक चलने के बाद सरकार ने उनको बिना किसी शर्त के जेल से रिहा कर दिया।

सन् १९३२ ई० में उन्होंने भारत-सचिव को चेतावनी दी थी कि सरकार

१. २१-९-१९३२ का उनका वक्तव्य।

की आतङ्कवादी नीति औचित्य की सीमा को लांघ चुकी थी और सरकारी अफ़सरों को पाशविकता और अनैतिकता की ओर प्रेरित कर रही थी; यह भयावह स्थिति गांधीजी की आत्मा को आंदोलित कर रही थी और आंतरिक प्रेरणा होने पर उनके आमरण उपवास करके अपनी आहुति दे देने की सम्भावना थी।[१] इस चेतावनी के बाद शीघ्र ही गांधीजी हरिजन-आंदोलन में लग गए और आमरण उपवास का यह संकट जैसे-तैसे टल गया।

सन् १९४३ का २१ दिन का "यथा-समता उपवास" ब्रिटिश सरकार के रुख के विरुद्ध गांधीजी के "शरीर की आहुति" थी और उस न्याय के लिए जिसे वह सरकार से पाने में असफल रहे थे "उच्चतम न्यायालय से पुनर्विचार की प्रार्थना" थी। सरकार ने कांग्रेस को और विशेषकर गांधीजी को अगस्त सन् १९४२ के हिंसात्मक क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए उत्तरदायी ठहराया। दूसरी ओर गांधीजी के अनुसार इन घटनाओं का सारा उत्तरदायित्व सरकार का था जिसकी आतङ्कवादी दमनकारी नीति ने जनता को पागल-सा बना दिया था। उपवास के पहिले के पत्र-व्यवहार में गांधीजी ने कई बार वाइसराय से प्रार्थना की कि यदि उनकी भूल प्रमाणित कर दी जाय तो वह उसको मान लेंगे और उचित प्रायश्चित करेंगे। लेकिन सरकार ने इस इल्ज़ाम को न्यायालय के सामने प्रमाणित करने की कोई व्यवस्था न की। इस अप्रमाणित इल्ज़ाम से उत्पन्न बेबसी की भावना को देश की राजनैतिक और आर्थिक स्थिति विशेषकर देश-व्यापक अकाल ने और भी तीव्र कर दिया। गांधीजी के अनुसार ऐसे वेदनापूर्ण अवसरों के लिए सत्याग्रह के नियम के अनुसार "उपवास द्वारा शरीर के बलिदान" की व्यवस्था है।[२]

इन दृष्टांतों से प्रकट है कि सम्भवतः शक्तिशाली विरोधी का अन्याय सत्याग्रही के जीवन और स्वतन्त्रता को इतना संकुचित कर दे कि उसकी व्याकुल आत्मा प्रतिरोध के इस अन्तिम साधन के लिए पुकार उठे।

अपमानजनक या अमानुषिक बर्ताव के विरोध में सत्याग्रही कैदियों का उपवास करना गांधीजी उचित मानते हैं। ऐसे आपत्तिजनक बर्ताव के कुछ उदाहरण हैं—कैदियों का खाना उनकी ओर फेंक देना, उनको गाली देना, उनकी धार्मिक स्वतन्त्रता का अपहरण, इत्यादि। कैद से मुक्त होने के लिए इसका उपयोग अनुचित है।[३]

१. 'हिस्ट्री आव दि कांग्रेस' गांधी जी का पत्र, पृ० ९०८-१२।
२. 'गांधीजीज़ करेसपांडेन्स विद गवर्नमेंट'।
३. 'साउथ अफ्रीका', पृ० ३४५-४६; जे० एच० होम्स, 'महात्मा गांधी',

उपवास की आलोचना

उपवास के साधन की कड़ी आलोचना की गई है। यरवदा-उपवास के अवसर पर टैगोर ने इसे विश्व-योजना के विरोध में ईश्वर को शरीर-पीड़न और तपस्या की चुनौती बताया था। उनके अनुसार, उसका उपयोग जीवन की महान देन को और अन्तिम क्षण तक पूर्णता के आदर्श पर—जो मानवता का औचित्य है—अटल रहने के अवसर को त्याग देना है।[1] हो सकता है कि सत्याग्रही उपवास की आवश्यकता के बारे में भूल कर दे और अकस्मात सत्य और प्रेम की साधना की शक्ति का अंत कर बैठे। यह भी ख़तरा है कि कुछ मनुष्य अपने विरोधियों को धमकाने और डराने के लिये उपवास का दुरुपयोग करें। मार्च १९३९ ई० में जार्ज अरुन्डेल ने कहा था कि उपवास आतंकवाद है जिसके विरुद्ध प्रतिपक्षी के लिये आत्म-समर्पण करने और सत्याग्रही की आत्म-हत्या देखने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं। उपवास के कारण अक्सर ठीक सोच-विचार करना बड़ा कठिन हो जाता है। विरोधी के लिये यह स्वाभाविक है कि वह, सत्याग्रही की मृत्यु से होने वाली अपनी बदनामी के डर से या उसके कष्टों को देखने से उमड़ी हुई अपनी सहानुभूति के दबाव से, सत्याग्रही की ऐसी मांग भी स्वीकार कर ले जो उसको उचित नहीं जंचती। इसलिये यह आवश्यक नहीं कि उपवास के परिणाम-स्वरूप हृदय-परिवर्तन हो ही जाय। उपवास का एक परिणाम यह भी हो सकता है कि विरोधी पर अनुचित दबाव पड़े। लेकिन यह ख़तरा तो केवल उपवास में नहीं, कष्ट-सहन के प्रत्येक तरीके में है। कष्ट-सहन के दृश्य से दर्शक पर सहानुभूति की प्रतिक्रिया होती है और कम-से-कम उस समय झगड़े के मूलभूत प्रश्न को निष्पक्षरूप से समझना कठिन हो जाता है। लेकिन यदि समझाने-बुझाने और अन्य नम्र उपायों से काम न चले, तो कष्ट सहकर विरोधी का हृदय-परिवर्तन करने का प्रयत्न करना उसको कष्ट देकर दबा देने से कहीं ज़्यादा अच्छा है। इसके अतिरिक्त समय बीतने पर प्रश्न स्पष्ट हो जाता है और सचाई की जीत होती है।

गांधीजी सत्याग्रही उपवास के इन ख़तरों से पूरी तरह सचेत थे।[2]

पृ० २०९–१० और २१५; ह० १९-८-३९, पृ० २४० और २३-४-३८, पृ० ८९।

१. गांधीजी को उनके पत्र, ह० १-७-३३।

२. गांधीजी सत्याग्रही उपवास और आत्म-हत्या में भेद करते हैं। जीवनेच्छा युक्ति-संगत और स्वाभाविक है और जीवन सप्रयोजन है। आत्म-हत्या उस

यही कारण है कि वह इस बात पर बहुत ज़ोर देते थे कि उसका प्रयोग असाधारण अवसरों पर ही विवश होकर बहुत सतर्कता से केवल उन्हीं को, या उनकी ही देख-रेख में, करना चाहिये जिन्होंने सत्याग्रह-विज्ञान को पूरी तरह समझ लिया है और आवश्यक अनुशासन का अभ्यास किया है।

प्रयोग में ख़तरे अवश्य हैं, पर सैद्धान्तिक दृष्टि से उपवास के साधन में कोई खोट नहीं। जीवन आत्मानुभूति का साधन है और जब असह्य नैतिक स्थिति से छुटकारा पाने का दूसरा कोई उपाय न हो तो यह उचित ही है कि विरोधी अपने जीवन की आहुति देकर शुद्धता की ऐसी अग्नि प्रज्वलित करदे कि विरोधी का पत्थर-सा हृदय भी पिघल उठे। इस कारण उपवास अतीत काल से ही हृदय-परिवर्तन का कारगर साधन रहा है और सदा रहेगा। अहिंसा की अन्तिम शक्ति उसी प्रकार आत्म-बलिदान है जिस प्रकार हिंसा की शक्ति है प्रतिपक्षी का विनाश। गांधीजी की राय है कि "आमरण उपवास सत्याग्रह के कार्य-क्रम का अविभाज्य अङ्ग है।"[1]

सत्याग्रह और बाह्य सहायता

आंतरिकशक्ति या आत्म-शक्ति सत्याग्रही का अवलम्ब है, इसलिए उसे बाह्य सहायता के सहारे नहीं रहना चाहिये। "...जब उसे बाहरी आश्रय मिल जाता है और वह उसे स्वीकार कर लेता है, तब तो वह अपना अधिकांश आंतरिक बल भी खो बैठता है। सत्याग्रही को इस प्रकार के प्रलोभन से हमेशा बचते रहना चाहिये।"[2] इस तर्क का समर्थन गांधीजी घरेलू झगड़ों का हवाला देकर करते हैं। यदि सत्याग्रही अपने कुटुम्ब से अस्पृश्यता को दूर करना चाहता है, तो निस्सन्देह वह दोस्तों को कष्ट सहने के लिये न बुलावेगा, बल्कि अपने पिता के दिये हुए दण्ड को सहेगा और उसके हृदय को पिघलाने के लिये प्रेम और कष्ट-सहन के नियम का सहारा लेगा। सत्याग्रही

प्रयोजन के विरुद्ध है और इसलिए अनुचित है। लेकिन यदि किसी असाध्य रोग से कष्ट पाने वाला रोगी यह महसूस करे कि वह दूसरों के लिये भार-स्वरूप हो गया है और उसका जीवन उसके तीमारदारों के लिये भी उसी तरह यन्त्रणा है जैसे कि उसके लिये, तो उसका अपने जीवन का अन्त कर लेना ठीक है; लेकिन जीवन के संघर्ष से थक कर, या उग्र शारीरिक व्यथा के कारण इस चरम साधन का उपयोग अनुचित है। ह०, १०-६-४०, पृ० १४६।

१. गांधीजी 'हिज़ लाइफ ऐंड वर्क', ऊपर उद्धृत, पृ० ३७०।

२. 'दक्षिण अफ्रीका', पृ० २८६।

कुटुम्ब के मित्रों को पिता को समझाने-बुझाने के लिये बुला सकता है। लेकिन वह कष्ट-सहन के अपने कर्तव्य और विशेषाधिकार में भाग लेने की किसी को आज्ञा न देगा।[1] गांधीजी सत्याग्रही के प्रतिपक्षी के विरुद्ध मुकद्दमा चलाने या पुलिस की सहायता लेने के विरुद्ध हैं, क्योंकि यह बाह्य सहायता के प्रकार हैं और हृदय-परिवर्तन के नहीं, बल-प्रयोग के साधन हैं।

सफलता की कसौटी

गांधीजी के अनुसार सत्याग्रही की अहिंसा की कसौटी उसका परिणाम है। यदि विरोधी के हृदय पर प्रभाव पड़े और वह सुधर जाए तो सत्याग्रही की अहिंसा शुद्ध है और कष्ट-सहन पर्याप्त है। "मैं इसे स्वयं-सिद्ध सत्य मानता हूँ कि सच्ची अहिंसा विरोधी को प्रभावित करने में कभी असफल नहीं होती। यदि वह (असफल) होती है, तो उस परिमाण में वह अपूर्ण है।"[2] "विचार और भाषण में अहिंसा के साथ अहिंसात्मक कार्य की विरोधी पर स्थायी हिंसात्मक प्रतिक्रिया कभी नहीं होती।"[3] विरोधी को महसूस होना चाहिए कि प्रतिरोध का उद्देश्य उसको हानि पहुँचाना नहीं है और उसका रुख नर्म हो जाना चाहिये। "अहिंसा को हमारे और विरोधी के रुख को कठोर नहीं, नर्म बना देना चाहिए, उसे विरोधी को पिघला देना चाहिये; उसके (विरोधी के) हृदय में सहानुभूति उमड़ उठना चाहिए।"[4]

सत्याग्रह और अपराध

जीवन के नियम के रूप में सत्याग्रह का अर्थ यह है कि हमारी अहिंसा की पहुँच अपराधी तक भी हो, उसके प्रति भी हमारा व्यवहार अहिंसापूर्ण हो।

समाज में हिंसा से सबसे अधिक कष्ट अपराधियों को ही सहना पड़ता है। वास्तव में अधिकारों की रक्षा के लिये अपराधियों को दंड देने की आवश्यकता के कारण बल-प्रयोग राज्य की आवश्यक विशेषता समझी जाती है। कहा जाता है कि भले आदमियों के झगड़ों में अहिंसा से काम चल सकता है, लेकिन अपराधियों के विरुद्ध अहिंसा बेकार है। यह विचार-सरणी गांधीजी को ग्राह्य नहीं है। उनका विश्वास है कि "आपकी अहिंसा की परख तभी होती है, जब आपका प्रतिरोध किया जाता है; उदाहरण के लिये जब चोर

१. यं० इं०, भा० २, पृ० ८२१-२२।
२. ह०, ६-५-१९३९, पृ० ११२।
३. ह०, २४-६-१९३९, पृ० १७२।
४. ह०, २४-६-३९, पृ० १७२।

या मनुष्य-हत्या करने वाला सामने आता है। . . . भले आदमियों के साथ रहने में आपका व्यवहार अहिंसात्मक नहीं कहा जा सकता।'[१]

गांधीजी कहते हैं कि "सब प्रकार के अपराध एक रोग हैं और उनके साथ रोग का-सा बर्ताव होना चाहिए।"[२] यह रोग "वर्तमान सामाजिक संगठन का, परिस्थिति का परिणाम है।"[३] प्रतिकूल परिस्थितियों के लिए समाज उत्तरदायी है। आधुनिक मशीन-निर्मित सभ्यता के अपकृष्ट रोग हैं शक्ति-प्रियता और धन-प्रियता। इनके कारण सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन दूषित हो गया है और वह जनसाधारण की उपेक्षा करके थोड़े से मनुष्यों को सुविधा देता है। वास्तव मे साधारण मनुष्यों और अपराधियों मे अन्तर गुणात्मक नहीं केवल परिमाणात्मक है। धनी मनुष्य जो शोषण या अन्य अनैतिक साधनों द्वारा धन-संचय करते हैं, चोरों के समान ही अपराधी हैं। धनी अपने सम्मान के आवरण मे सुरक्षित रहते हैं और दंड से बच जाते हैं, किन्तु सत्य यह है कि उचित आवश्यकताओं से अधिक संपत्ति रखना चोरी ही है। संपत्ति-सम्बन्धी ग़लत कानून अपराधों को प्रोत्साहन देते हैं। अपराधी समाज के रोगी होने का चिन्ह है।[४]

आधुनिक दण्डविधि के कारण इन रोगों की भीषणता और भी बढ़ गई है। वास्तविक व्यवहार में सरकार अब भी दण्ड के मामले में प्रतिहिंसा और निषेध या निवारण के सिद्धान्तो मे विश्वास करती है। इनमें प्राय: क़ैदी के सुधार का उद्देश्य भी जोड़ दिया जाता है, लेकिन सुधार प्रतिहिंसा और निषेध से मेल नहीं खाता और इन तीनो असंगत उद्देश्यों को साथ रखकर चलने का परिणाम होता है उनकी बड़ी संख्या जो बार-बार अपराध करते हैं और जेल जाते हैं। इसके अतिरिक्त अपराधों की समस्या के संतोषजनक निबटारे के लिये सम्पूर्ण आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था का पुनर्निर्माण आवश्यक है।

गांधीजी समाज मे ऐसी व्यापक क्रान्ति के पक्ष मे थे जिससे हिंसा और शोषण कम-से-कम परिमाण में रह जाए और राज्य और समाज की अहिंसक पुनर्रचना हो। इस सामाजिक पुनर्निर्माण मे अपराधो की संख्या बहुत घट जायगी।

१. ह०, १३-४-३८ पृ० १२१।
२. ह०, २७-४-१९४०, पृ० १०१।
३. ह०, ५-५-४६, पृ० १२४।
४. ह०, ११-८-४६, पृ० २५५।

लेकिन गांधीजी इस बात में विश्वास नहीं करते थे कि भविष्य में मनुष्य पूर्ण हो जायगा और अपराधों का नाम ही न रहेगा। निस्संदेह अपराधों की संख्या बहुत घट जायगी; लेकिन थोड़े बहुत अपराध तो होंगे ही। उनकी धारणा के अहिंसक राज्य में पुलिस भी होगी और जेलें भी। लेकिन उस राज्य की पुलिस और जेलें आज से बहुत भिन्न होंगे और अपराधी के अपराध के रोग का इलाज अहिंसक रीति से होगा।[1]

लेकिन राज्य और समाज की अहिंसक पुनर्रचना में पहिला क़दम व्यक्ति का होगा। जबतक साधारण मनुष्य अहिंसा को सिद्धान्त की तरह नहीं मान लेता, अहिंसक राज्य का विकास नहीं हो सकता। सिद्धान्त की तरह अहिंसा को स्वीकार करने वाले सत्याग्रही को अपराधी के साथ साधारण प्रतिपक्षी का-सा बर्ताव करना चाहिये। सत्याग्रही को न तो हिंसा का प्रयोग करना चाहिये, न पुलिस की सहायता लेनी चाहिये, न उसे अपराधों के प्रति निष्क्रिय और उदासीन रहना चाहिये, क्योंकि उदासीनता की मानसिकता अपराधों को प्रोत्साहन देती है। उसे सेवा और कष्ट-सहन द्वारा अपराधी को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिये।[2]

अधिकतर संगीन अपराध या तो स्त्रियों पर आक्रमण के रूप में होते हैं या संपत्ति के संबंध में। सत्याग्रही का संपत्ति के बारे में रुख अपरिग्रह, और शारीरिक श्रम के आदर्शों से निर्धारित होना चाहिये और उसकी संपत्ति यथासम्भव कम होनी चाहिये। किसी भी हालत में उसके पास उसकी नैतिक, मानसिक और शारीरिक भलाई की आवश्यकता से अधिक संपत्ति नहीं होनी चाहिये।

घोर निर्धनता के बीच संपत्तिशाली होना अन्यायपूर्ण है और अहिंसा "अन्याय से अर्जित लाभ की रक्षा में निस्सहाय है।"[3] यदि सत्याग्रही किसी संपत्ति को अपना समझता है, तो वह उसको तभी तक रख सकता है जबतक संसार उसको आज्ञा देता है।[4] उसे संपत्ति का रक्षा के हिंसात्मक उपायों से बचना चाहिये, बाहरी सहायता न लेना चाहिये, चोरों-लुटेरों के प्रति सहिष्णु होना चाहिये, उनके साथ सगे भाइयों की तरह बर्ताव करना चाहिये और अहिंसा का बुद्धिमानी से प्रयोग करना चाहिये।[5] उदाहरण के लिये

१. तफसील के लिये ११वां अध्याय देखिये।
२. ह०, ११-८-४६, पृ० २५५।
३ ह०, ५-६-३६, पृ० २३६।
४. ह०, १८-८-४०, पृ० २५४।
५ यं० इं०, भा० २, पृ० ८६७–८६८, आत्म-शुद्धि, पृ० ६–७, हिन्द-स्वराज्य, पृ० १३२–३५, ह० १३–७–४०, पृ० १६४; ११-८-४६, पृ० २५५।

सत्याग्रही खिड़की-दरवाजे खुले छोड़ सकता है और अपना सामान इस तरह रख सकता है कि चोर उस तक आसानी से पहुंच सके। यदि अवसर हो तो चोर को समझाया-बुझाया जा सकता है। यह असाधारण दयालुता और उदारता साधारण चोर के दिमाग़ में हलचल मचा देगी। सत्याग्रही के प्रेम के कारण चोर के मन में सहानुभूति उमड़ेगी और अपने कृत्य के लिए पश्चात्ताप की भावना जाग्रत होगी। चोरों और डाकुओं के ख़तरे का सामना करने के लिए सत्याग्रही उनकी जाति के लोगों से मिलेगा, उनसे मित्रता का नाता जोड़ेगा, यह जानने का प्रयत्न करेगा कि वह किन कारणों से अपराध करते हैं और उनकी सामाजिक और आर्थिक दशा के सुधार का प्रयत्न करेगा। विशेषरूप से वह उन्हें किसी ऐसे धंधे या उद्यम की शिक्षा देगा जिसके द्वारा वह ईमानदारी से जीविका कमा सकें।[१]

यदि कोई मनुष्य सत्याग्रही से ऐसी संपत्ति को छीनने का प्रयत्न करेगा, जिसका वह ट्रस्टी या संरक्षक है, तो उसके कष्ट-सहन का स्वरूप दूसरा होगा। संपत्ति की हानि सहने के स्थान में वह संपत्ति और उसके बलपूर्वक छीनने वाले के बीच खड़ा हो जायगा और यदि आवश्यकता होगी, तो संपत्ति की रक्षा में मरने के लिए भी तैयार हो जायगा, लेकिन हिंसा का उपयोग न करेगा।

अविभाजित भारत में उत्तर-पश्चिम की सीमा के उस पार रहने वाली जातियों के भी संबंध में—जो सीमाप्रान्त के निवासियों को लूटते थे और पकड़ ले जाते थे—गांधीजी का मत था कि नागरिक आत्म-रक्षा की अहिंसात्मक कला सीखें। अहिंसात्मक आत्म-रक्षा की कला में इन जातियों का विश्वास करने, उनके साथ मित्रता का नाता जोड़ने और उनको स्वाभाविक शत्रु न मान लेने, उनकी सेवा करने और उनको प्रेम और सहानुभूति से समझाने-बुझाने का समावेश है। गांधीजी का मत था कि सीमाप्रान्त के निवासियों को इन जातियों को घरेलू धंधे सिखा कर उनकी निर्धनता हटाने और इस प्रकार उनके लूट-मार के आक्रमणों का प्रमुख हेतु दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।[२]

१. ह० २१-७-४०, पृ० २१५, ११-८-४६, पृ० २५५।

२. ह० २२-१०-३८, पृ० ३०४, २६-१०-३८, पृ० ३१०, ५-११-३८, पृ० ३१४, २८-१-३६, पृ० ४४८, १३-७-४०, पृ० २०८, यं० इ०, भा० १, पृ० ७१६-२३।

सत्याग्रह और स्त्रियों पर आक्रमण

यदि किसी स्त्री की लाज और धर्म पर आक्रमण होने का ख़तरा हो तो उसका व्यवहार किस प्रकार का हो? और उस सत्याग्रही का जिसके सामने इस प्रकार का आक्रमण हो क्या कर्तव्य होगा? यह सवाल अक्सर गांधीजी से पूछे जाते थे। उनका विश्वास था कि स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा सत्याग्रह के अभ्यास की अधिक क्षमता है, क्योंकि उनमें अपेक्षाकृत ठीक प्रकार का अधिक साहस और आत्म-बलिदान की अधिक सुदृढ़ प्रवृत्ति है।

लेकिन सत्याग्रह का मार्ग केवल उन स्त्रियों के लिए है जिनमें आवश्यक आत्म-संयम हो और जिनके जीवन में सादगी और स्वाभाविकता हो। अहिंसात्मक होने के लिए स्त्री को दूसरों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए भड़कीले कपड़े पहिनने और अपने को क्रीम-पाउडर से रंगकर कुदरत को भी मात करने और असाधारण रूप से सुन्दर दिखाई पड़ने के आधुनिक पागलपन से बचना होगा।[1] आधे दर्जन मजनुओं की लैला बनने का प्रयास करने वाली स्त्री अहिंसा का विकास नहीं कर सकती।

यदि इस प्रकार कोई स्त्री अपने विचारों और रहन-सहन को अहिंसा के सिद्धान्तों के अनुरूप बनाने का प्रयत्न करेगी तो उसे महसूस होगा कि शुद्धता उत्कृष्ट शक्ति है। गांधीजी का विश्वास था कि "तेज-पूर्ण शुद्धता के सामने नितांत गुंडा भी सीधा हो जाता है।"[2] उनका यह भी मत था कि "किसी स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध असम्मानित करना शारीरिक असंभावना है। यह अत्याचार तभी होता है जब वह डर जाती है और अपनी नैतिक शक्ति को नहीं पहचानती।"[3] शुद्धता से उसमें शक्ति की चेतना रहेगी। यदि अकस्मात वह खतरे में पड़े तो उसे जान देकर भी आक्रमणकारी की कामलिप्सा का प्रतिरोध करना चाहिए। यदि उसका मुंह बन्द कर दिया जाय या वह बांध दी जाय तो भी उसकी दृढ़ इच्छा उसको जान दे देने की शक्ति देगी।[4] इसी प्रकार संकट में पड़ी स्त्री के संबंधी या मित्र को स्त्री और आक्रमणकारी के बीच खड़े हो जाना चाहिए और तब या तो उसे आक्रमणकारी को समझाना-बुझाना चाहिए कि वह अपना अमानुषिक उद्देश्य छोड़ दे या मौत का सामना करना चाहिए। एक बार गांधीजी से पूछा

१. ह०, ३१-१२-३८, पृ० ४६६।
२. यं० इं०, भा० २, पृ० ८६२।
३. ह०, १-३-४०, पृ० २३३।
४. ह०, ३१-१२-३८, पृ० ४०८-६, यं० इं०, भा० २, पृ० ८६१-६२।

गया कि यदि आक्रमणकारी रक्षक को मारने के स्थान में बांध दे और उसका मुँह बलपूर्वक बंद करदे और रक्षक को आक्रमण का मौन साक्षी होना पड़े तो उसे क्या करना चाहिए ? उन्होंने उत्तर दिया, "...मैं या तो बंधनों को तोड़ दूंगा या उस प्रयत्न में जान दे दूंगा। किसी भी दशा में केवल साक्षी नहीं बनूंगा। जब वह उत्कट भावना होती है तो ईश्वर आपकी सहायता करता है और आपको किसी-न-किसी तरह ऐसे कार्य के जीवित साक्षी होने की यन्त्रणा से बचा लेता है।"

गांधीजी का मत है कि संकट में पड़ी अहिंसक स्त्री को बिना अपने भाई या बहन की सहायता की आशा किए अहिंसक रीति से अपनी रक्षा करनी चाहिए। अहिंसक आत्म-रक्षा का सार है सम्मान सहित जान दे देने के लिए तैयार रहना। किसी स्त्री द्वारा आक्रमणकारी को आत्मसमर्पण करने की अपेक्षा गांधीजी आत्म-हत्या को ठीक समझते हैं। लेकिन उनका विश्वास है कि जब कोई स्त्री आत्म-हत्या के लिए भी तैयार हो जायगी तो उसमें मानसिक प्रतिरोध के लिए आवश्यक इतना साहस और इतनी आंतरिक शुद्धता होगी कि आक्रमणकारी अभिभूत हो जायगा। गांधीजी का यह भी मत है कि यदि विकल्प आत्म-हत्या और आक्रमणकारी की हत्या में हों तो सत्याग्रही स्त्री को आत्म-हत्या का ही मार्ग चुनना चाहिए।[1]

आत्म-शक्ति द्वारा रक्षा का यह मार्ग हिंसात्मक प्रतिरोध की अपेक्षा कहीं अधिक फल-प्रद है। संभवतः यह मार्ग आक्रमणकारी की दुर्वासना को दूर कर देगा और उसकी आत्मा को जाग्रत करेगा। वह पीड़ित स्त्री के हृदय को भी वीरता से प्रतिरोध करने की दृढ़ता देगा। इसके अतिरिक्त, अहिंसक रक्षा में रक्षक की मृत्यु से स्त्री की स्थिति उतनी बुरी न होगी जितनी हिंसक प्रतिरोध में उसकी हार से। हिंसात्मक प्रतिरोध में हार या मृत्यु हिंसा के क्रोध को शांत करने के स्थान में उसका प्रतिहिंसा द्वारा परिपोषण करती है। यदि स्त्री और उसके रक्षक की अहिंसक प्रतिरोध के प्रयास से मृत्यु भी हो जाय तो वह गौरवपूर्ण होगी, क्योंकि उन्होंने कर्तव्यपालन कर लिया होगा।[2]

लेकिन अपराधी के साथ अहिंसापूर्ण व्यवहार तभी संभव है जब सत्याग्रही को यह दृढ़ विश्वास हो कि अपराधी और सत्याग्रही में आध्यात्मिक

१. ह०, १५-६-३६, पृ० ३१२, ५-१०-४७, पृ० ३५४, ६-२-४७ पृ० ६।
२. 'स्पीचेज़', पृ० ३२५, ८३८-३६; ह०, १६-११-३८, पृ० ३४४; १-६-४०, पृ० २६६।

सकता है और अज्ञानी अपराधी की जान लेने की अपेक्षा सत्याग्रही उसके हाथों मरना अधिक अच्छा समझे।[1]

एक नीग्रो के इस प्रश्न के उत्तर में कि यदि किसी के भाई को बिना अदालती कार्रवाई के जनता द्वारा मौत की सज़ा दी जाय तो उसका क्या कर्तव्य है, गांधीजी ने निम्नलिखित जवाब दिया थाः—

"...मैं उनका बुरा न चाहूँगा हो सकता है कि साधारण रीति से मैं अपनी जीविका के लिए मौत की सज़ा देने वाले समाज पर आश्रित हूँ। मैं उनके साथ सहयोग करने से इन्कार कर दूंगा, उनके पास से आए हुए खाने को छूने से भी इन्कार कर दूंगा, और मैं उन अपने नीग्रो भाइयों के साथ भी सहयोग करने से इन्कार कर दूंगा जो इस अन्याय को सह लेते हैं। मेरा अर्थ इसी आत्म-बलिदान से है। हाँ, यंत्रवत् भूखों मरने से कुछ न होगा। जब प्रतिक्षण जीवन का ह्रास होता जाय तब भी मनुष्य की श्रद्धा अटल बनी रहे।"[2]

यह अनावश्यक है कि काल्पनिक दृष्टान्त दिये जांय और यह बताया जाय कि उस परिस्थितिविशेष में अहिंसावादी का क्या कर्तव्य है या गांधीजी और दूसरे सत्याग्रहियों के जीवन की वास्तविक घटनाओं का वर्णन किया जाय। अहिंसा प्रेम का, अर्थात् स्वेच्छा से स्वीकार किये गए उत्कृष्ट कष्ट-सहन और बलिदान का, नियम है। यदि मनुष्य सच्चा अहिंसावादी है तो उसके लिए यह जानना कठिन न होगा कि वह परिस्थितिविशेष में किस प्रकार व्यवहार करे। गांधीजी कहते हैं, "मैं जानता हूँ कि यदि हमारे अन्दर वास्तविक अहिंसा है तो कठिन परिस्थिति में बचाव का अहिंसात्मक मार्ग बिना प्रयास के हमें मालूम हो जायगा।"[3] वास्तविक अहिंसा के विकास का लक्षण यह है कि अन्यायी के प्रति अहिंसावादी के हृदय में प्रेम और सहानुभूति उमड़ पड़े। "जब वह (प्रेम की) भावना होती है तो वह किसी कार्य में प्रकट होती है। वह (कार्य) एक संकेत, या नज़र या मौन भी हो सकता है। लेकिन वह (कार्य) जैसा भी हो, अन्यायी के हृदय को पिघला देगा और अन्याय को रोकेगा।"[4]

---

१. ह०, २६–६–४०, पृ० १८४।
२. ह०, १६–३–३६, पृ० ३६।
३. ह०, १७–२–१६४०, पृ० ८।
४. ह०, ६–३–४०, पृ० ३१।

आत्म-रक्षा

लेकिन इच्छा-मात्र से रात भर में मनुष्य अहिंसावादी नहीं हो जाता। उत्कृष्ट प्रकार की अहिंसा के लिये दीर्घकालीन विचारपूर्ण शिक्षा आवश्यक है। बिना मार मरने के साहस के विकास के पहिले मनुष्य क्या करे? ऐसे मनुष्यों का, जिन्होंने अहिंसा को राजनैतिक क्षेत्र में काम चलाने वाली नीति की तरह स्वीकार किया है, आत्म-सम्मान, जीवन और सम्पत्ति पर आक्रमण होने के ख़तरे में क्या कुछ होना चाहिए?

सन् १९२२ ई० में गांधीजी को सत्याग्रही द्वारा आत्म-रक्षा के लिये हिंसा का प्रयोग अनुचित न लगता था।[1] वह इस बात पर ज़ोर नहीं देते थे कि सत्याग्रही को चोर-डाकुओं या देश पर आक्रमण करने वाले राष्ट्रों के प्रति हिंसा न करनी चाहिए।[2] गया कांग्रेस ने कांग्रेसी सत्याग्रहियों को आत्म-रक्षा में बल-प्रयोग की आज्ञा देने का एक प्रस्ताव भी स्वीकार किया था; लेकिन अपने जीवन के पिछले १५ वर्षों में गांधीजी "दुर्बलता की अहिंसा" के विरुद्ध हो गये थे। लेकिन जिन लोगों ने अहिंसात्मक आत्म-रक्षा के उच्चमार्ग को न अपनाया हो उनको गांधीजी आत्म-रक्षा में बल-प्रयोग की—अर्थात् लज्जाजनक रीति से ख़तरे से भागने की अपेक्षा मरने-मारने की—राय देते थे। तीसरे अध्याय में हम बता चुके हैं कि क्यों गांधीजी कायरता की अपेक्षा हिंसा को श्रेयस्कर समझते थे। बहुत से अवसरों पर उन्होंने व्यक्तियों और समूहों को यही राय दी थी कि यदि उनमें अहिंसक आत्म-रक्षा—अर्थात् आत्म-बलिदान की—क्षमता नहीं है और उनको ऐसे विरोधियों का सामना करना है जो उनके जीवन, सम्पत्ति और आत्म-सम्मान के विनाश पर तुले हुए हैं तो उन्हें अन्यायी के सामने घुटने टेकने की अपेक्षा शरीर-शक्ति का प्रयोग करना चाहिए और यदि आवश्यक हो तो अन्यायी की जान भी लेना चाहिए। पुलिस के अत्याचार और साम्प्रदायिक झगड़ों के अवसरों पर गांधीजी साधारण रूप से लोगों को यही राय देते थे। उन्होंने बेतिया (१९२०) और चम्पारन (१९२१) के ग्राम-निवासियों को और आन्ध्र (१९३२) और सिंध (१९४०) के हिंदुओं को यही राय दी थी कि वह घबड़ा न जायं और आवश्यकता हो तो आत्म-रक्षा के लिये शरीर-शक्ति का प्रयोग करें। उनके जीवन के अन्तिम दो वर्षों की साम्प्रदायिक हिंसा की संक्रामकता में भी गांधीजी का यही मत था। वास्तव में वह इसे जनतन्त्र के

१. यं० इं०, भा० १, पृ० १०७५; 'स्पीचेज़', पृ० ७१९।

२. यं० इं०, भा० १, पृ० ३१।

पनपने की आवश्यक शर्त मानते थे कि प्रत्येक नागरिक आत्म-रक्षा की कला जाने।[1] क्योंकि यदि नागरिक आत्म-सम्मान की रक्षा के लिये अपना जीवन जोखिम मे नहीं डाल सकते तो वह जनतन्त्र की आन्तरिक और बाह्य खतरों से रक्षा करने के लिए जोखिम उठाने को और भी कम तैयार होंगे।

गांधीजी का यह भी विश्वास था कि यदि अपेक्षाकृत बहुत अधिक शक्तिशाली विरोधी का बिना पहले से सोचे-विचारे हिंसात्मक विरोध यह अच्छी तरह जानकर किया जाय कि इस विरोध का परिणाम निश्चित मृत्यु है तो यह विरोध भी लगभग अहिंसा ही है।[2] उदाहरण के लिए यदि अस्त्रों से सुसज्जित डाकुओं के झुण्ड से कोई मनुष्य अकेला तलवार से लड़ता है, या यदि कोई स्त्री अपनी लाज की रक्षा में नाखूनों और दांतों का प्रयोग करती है तो यह व्यवहार लगभग अहिंसक ही होगा।[3]

लेकिन यदि पुलिस की सहायता मिल सकती हो तो हिंसात्मक आत्म-रक्षा का कोई अवसर न होना चाहिए।[4] इसके अतिरिक्त जब शरीर-शक्ति का प्रयोग किया जाय तो वह उस अवसर की आवश्यकता से अधिक नहीं होनी चाहिए। "अधिक शक्ति का प्रयोग सदा कायरता और पागलपन का चिह्न है। वीर मनुष्य चोर को मारता नहीं बल्कि पकड़ लेता है और पुलिस के हवाले कर देता है। उससे अधिक वीर मनुष्य उसे बाहर निकाल देने भर की पर्याप्त शक्ति का प्रयोग करता है और उसके बारे मे फिर कुछ नहीं सोचता।" सर्वश्रेष्ट वीर वह है जो चोर के साथ अहिंसक व्यवहार कर सकता है।

दुरुपयोग की संभावना

सत्याग्रही की अपूर्णता और कमी के कारण इस अध्याय मे वर्णित तरीकों में खतरे और अनिश्चितता है। मिसाल के लिए व्यक्तिगत सत्याग्रह दो प्रकार से दुराग्रह बन सकता है। हो सकता है कि कष्ट-सहन प्रारम्भ ही से दिखावटी और हिंसात्मक हो और उसका उद्देश्य विरोधी का हृदय-परिवर्तन नहीं, उस पर अनुचित दबाव डालना हो। इस दशा मे सत्य से ही मिलने वाली नैतिक शक्ति की उसमें कमी होगी और संभवतः उसका कष्ट-सहन बहुत समय तक न चल सकेगा। दूसरी संभावना यह है कि विरोधी का हृदय-परिवर्तन तो न हो, लेकिन वह अपनी बुद्धि और विश्वास के विपरीत कष्ट-सहन

१. ह०, १०–२–४०, पृ० ४४६।

२. ह०, ८–६–४०, पृ० २७४।

३. ह०, २४–८–४०, पृ० २६१।

४. ह०, २०–७–३५, पृ० १८१।

करने वाले की बात इसलिए मान जाय कि वह विरोधी जनमत का सामना नहीं कर सकता या कष्ट-सहन नहीं देख सकता और यह ख़तरा उतना ही अधिक होगा जितना सत्याग्रही विरोधी को प्रिय होगा। असहयोग का हवाला देते हुए गांधीजी लिखते हैं, "उसका दुरुपयोग घरेलू सम्बन्धों में अधिकतम है; क्योंकि जिनके विरुद्ध उसका उपयोग होता है उनमें इसके दुरुपयोग का प्रतिरोध करने की पर्याप्त शक्ति नहीं होती। वह दुरुपयुक्त प्रेम का दृष्टान्त हो जाता है। और इसके (दुरुपयुक्त प्रेम के) सब से बड़े शिकार होते हैं अत्यधिक प्रेम करने वाले माता-पिता और पत्नियां। जब वह जान जायेंगे कि प्रेम की यह मांग नहीं है कि किसी प्रकार के बेजा दबाव से हार मान ली जाय तो बुद्धिमान् बन जायंगे। इसके विपरीत सच्चा प्रेम उसका (बेजा दबाव का) प्रतिरोध करेगा।"[1] तीसरी संभावना यह है कि सत्याग्रही कष्ट-सहन से थक जाय। लेकिन इसका अर्थ है अनुशासन की कमी।

लेकिन दुरुपयोग तो प्रत्येक मनुष्य-निर्मित तरीक़े का हो सकता है। जीवन-नियम के रूप में सत्याग्रह का मूल्यांकन उसके समग्र परिणाम से होना चाहिए। यह याद रखना चाहिए कि व्यक्तिगत जीवन से हिंसा को दूर करने का प्रयत्न सच्चे जनतन्त्र और वास्तविक विश्वशांति की स्थापना और बड़े जन-समुदायों द्वारा अहिंसात्मक प्रतिरोध के प्रयोग की आवश्यक शर्त है। इसके अतिरिक्त अहिंसा का अभ्यास व्यक्ति की शक्ति और उसके चरित्र का विकास करता है। वह आत्म-नियन्त्रण या व्यक्तिगत स्वराज्य की प्राप्ति के लिए अनमोल अनुशासन है। गांधीजी लिखते हैं, "पूर्ण सत्याग्रही को, यदि पूर्ण नहीं तो लगभग पूर्ण मनुष्य बनना है। इस दृष्टिकोण से सत्याग्रह उच्चतम शिक्षा है।...जितनी अधिक हममें सत्याग्रह की भावना होगी, उतने अधिक अच्छे मनुष्य हम बन जायंगे. वह ऐसी शक्ति है जो सार्वभौम बन जाने पर सामाजिक आदर्शों में क्रान्ति उत्पन्न कर देती है।"[2]

हिंसक और अहिंसक प्रतिरोध

हिंसा सदा प्रतिहिंसा को जन्म देती है और झगड़ों का स्थायी निपटारा नहीं कर सकती। हारा हुआ व्यक्ति असन्तुष्ट रहता है और बदला लेने का अवसर देखता रहता है। आधुनिक चिकित्साशास्त्र, जीवशास्त्र, शरीरशास्त्र और मनोविज्ञान के अनुसन्धानों के परिणामस्वरूप हमारे पास इस बात का काफ़ी प्रमाण है कि पृथक्तकारी भावनाएँ, जिनमें मुख्य क्रोध और डर हैं,

१. ह०, १८-५-४०, पृ० १३३।
२. यं० इं०, भा० २, पृ० ७४५।

सामाजिक विकास के कारण हानिकारक और रोगोत्पादक होगई हैं। इस प्रकार हिंसा उनसे भी बुरी बुराइयां पैदा करती है जिनको दूर करने का वह प्रयत्न करती है। वह मनुष्य की अपकृष्ट पाशवी प्रवृत्तियों को जाग्रत करती है और अन्याय की जड़ मज़बूत करती है।

अहिंसा जो इन पृथक्कारी प्रवृत्तियों का सृजनात्मक, विधायक दिशा मे पुनर्शिक्षण करती और उनको ऊर्ध्वगामी बनाती है, शारीरिक, मानसिक और नैतिक दृष्टि से सत्याग्रही और विरोधी के लिए बहुत लाभदायक है। वह झगड़े को विनाशक शारीरिक तल से उठाकर विधायक नैतिक स्तर पर पहुँचाती है। कष्ट-सहन करने वाला प्रेम शारीरिक शक्ति को पंगु बना देता है, दोनों विरोधी पक्षों में मेल स्थापित करता है और झगड़े का इस प्रकार निपटारा कर देता है कि दोनों के आत्मसम्मान की रक्षा हो जाती है और उनको सन्तोष हो जाता है। गांधीजी के शब्दों मे, "सत्याग्रह ऐसी तलवार है जिसके सब ओर धार है। उसे जैसे चाहो काम मे लाया जा सकता है। उसे काम में लाने वाला और जिसके विरुद्ध वह काम में लाई जाती है दोनों सुखी होते हैं।"[1] लड़ाई-झगड़े मे कोई भी पक्ष उसका प्रयोग कर सकता है और जिस पक्ष में अधिक सत्य और न्याय होगा उसी की जीत होगी। इस प्रकार सत्याग्रह में दुरुपयोग से बचाव है। जो उसका दुरुपयोग करेगा और असत्य और हिंसा का सहारा लेगा उसकी हार होगी। यदि दो सत्याग्रहियों मे किसी आवश्यक प्रश्न पर मतभेद हो तो क्या होगा? सम्भवतः मतभेद बात-चीत और समझाने-बुझाने से दूर हो जायगा और कष्ट-सहन की नौबत न आएगी। हर हालत मे अन्त मे सत्य की जीत होगी।

इस प्रकार हिंसा का विनाशक मार्ग सत्याग्रह का स्थान नहीं ले सकता। सत्याग्रह धीमी गति से काम करता है, लेकिन वह झगड़े का निपटारा कर देता है और न्याय की जीत होती है, जबकि हिंसा झगड़ों को जीवित रखती है, स्थायी बनाती है और अक्सर उसके प्रयोग के परिणाम-स्वरूप अन्याय की वृद्धि होती है।

व्यावहारिकता का प्रश्न

बहुत से आलोचकों का मत है कि सिद्धान्त की दृष्टि से अहिंसा व्यक्तिगत और सामाजिक मामलों में निर्दोष, शक्तिशाली और न्यायपूर्ण है। किन्तु वास्तविक व्यवहार में अहिंसा चरमवादी है और उसका आदर्श इतना उच्च है कि वह अव्यावहारिक है और उसका प्रयोग संसार के साधारण दैनिक कार्यों

१. 'हिन्द-स्वराज्य', पृ० १५३।

में नहीं हो सकता। अहिंसा के लिए आत्मसंयम और नैतिकता की जिस उच्चता की, उद्देश्य के जिस स्थायित्व की और जितनी अधिक कष्ट-सहन की क्षमता की आवश्यकता है वह अभी तक तो अधिकतम मनुष्यों की पहुँच के बाहर की बात है।[1]

गांधीजी का मत था कि अहिंसा के अस्त्र के प्रयोग के लिए संत, ऋषियों और देवतुल्य मनुष्यों की आवश्यकता नहीं है, साधारण मनुष्यों ने उसका सफलता से उपयोग किया है और कर सकते हैं।[2] निस्सन्देह अहिंसा के ठीक उपयोग के लिए नैतिक अनुशासन अनिवार्य है, लेकिन जैसा ४ थे अध्याय में बताया जा चुका है, यह अनुशासन व्यवहार्य है। इसके अतिरिक्त यदि एक बार यह मान लिया जाय कि अहिंसा वांछनीय है—और यह आज युद्धवादी भी मानते हैं—तो मनुष्य-स्वभाव की अपूर्णता की बिना पर अहिंसा को अव्यावहारिक प्रमाणित करने का प्रयत्न निष्फल और अयौक्तिक है। मनोविज्ञान-शास्त्री और समाज-शास्त्री यह मानते हैं कि मनुष्य-स्वभाव में परिवर्तन, सुधार और विकास की असीम क्षमता है। क्रान्तियां इसी क्षमता का एक प्रमाण हैं। संशयवादियों और आलोचकों को यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि गुलामी, बालहत्या, मनुष्यों का बलिदान आदि बहुत-सी बुराइयाँ, जिनके बारे मे किसी समय यह विचार किया जाता था कि वह मनुष्य-स्वभाव की अपूर्णता के कारण हटाई नहीं जा सकतीं, आज दूर हो चुकी है। यदि फासिस्ट देशों में जनता को सफलतापूर्वक यह शिक्षा दी जा सकती है कि वह युद्ध को श्रेयस्कर मानें तो निस्सन्देह शान्तिप्रिय राष्ट्र उतने ही या उससे भी अधिक प्रयत्न से जनता को शान्ति के मार्ग पर चलने की शिक्षा दे सकते हैं।[3]

१. सी० एम० केस 'नान्वायोलेन्ट कोअरशन', पृ० ४०६—७।

२. ह०, १३—७—४०, पृ० १६८।

३. डा० कार्ल मैनहाइम का मत है कि "युद्धप्रिय मनोवृत्ति के जान-बूझ कर निर्माण मे सामाजिक संगठन को उतनी ही शक्ति व्यय करना पड़ती है जितनी कि शान्तिपूर्ण मनोवृत्ति के निर्माण में।" देखिये 'मैन एंड सोसाइटी', 'पासीबिल्टीज इन ह्यूमन नेचर' शीर्षक अध्याय। जी० एम० स्ट्रैटन इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि अहिंसा और सहयोग दोनो एक समान स्वाभाविक हैं; लेकिन मनुष्य स्वभाव उन कार्यों को निर्धारित नहीं करता जिनमे दोनों प्रकार की प्रवृत्तियां प्रकट होती हैं; बदले जा सकने वाले हिंसात्मक और सहयोगशील कार्य सामाजिक आवश्यकताओं और प्रयोजनों से प्रभावित

शायद मनुष्यों को यह विश्वास दिलाने में कि अहिंसा व्यवहार्य है और उनको अहिंसा को अपनाने के लिए तैयार करने में बहुत समय लग जायगा। लेकिन समय का प्रश्न गौण है। महत्वपूर्ण बात है दृढ़ विश्वास और ठीक दिशा में सच्चा प्रयत्न। यदि थोड़े भी मनुष्य अहिंसा के सिद्धान्तों के अनुसार रहने लगें तो अहिंसा का मार्ग जनता में फैल जायगा। निस्संदेह प्रत्येक संभव साधन का अध्ययन और प्रयोग करना चाहिए। समाज के प्रत्येक क्षेत्र की अहिंसक पुनर्रचना का भी प्रयत्न होना चाहिए। गांधीजी इस बात पर बहुत ज़ोर देते हैं कि बच्चों को पुस्तक-शिक्षा के पहिले सत्याग्रह की प्रारम्भिक शिक्षा मिलनी चाहिए।[1] उनका विश्वास है कि साक्षरता प्राप्त करने के पहिले ही बच्चे को इस बात की शिक्षा मिलनी चाहिए कि आत्मा क्या है, सत्य क्या है और प्रेम क्या है और किस तरह जीवन-संघर्ष में बच्चा घृणा को प्रेम से, असत्य को सत्य से और हिंसा को स्वयं कष्ट सहकर आसानी से जीत सकता है। बुनियादी शिक्षा की योजना द्वारा गांधीजी ने शिक्षा-पद्धति में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने और शिक्षा-पद्धति को अहिंसा पर आधारित करने का प्रयत्न किया है।

यद्यपि गांधीजी अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सामाजिक दृष्टिकोण की उपेक्षा नहीं कर करते, लेकिन उनकी समझ में उस ओर पहला और सबसे अधिक आवश्यक कदम है अहिंसा में विश्वास करने वाले मनुष्यों का नितांत अहिंसापूर्ण जीवन, ऐसे मनुष्यों की संख्या चाहे जितनी ही कम क्यों न हो। सन् १९३६ में डा० थर्मन के इस सवाल के जवाब में कि व्यक्तियों को और समुदायों को इस पद्धति की शिक्षा किस प्रकार दी जाय, गांधीजी ने जवाब दिया था, "इसके अतिरिक्त कि आप इस सिद्धान्त के अनुसार अपने जीवन को बनाएं और वह (जीवन) अहिंसा का जीता-जागता आदर्श बन जाय, और कोई (अहिंसा की शिक्षा का) राजमार्ग नहीं है। अपने जीवन में अहिंसा के

और निर्धारित होते हैं और सामाजिक जीवन के लिए यह आवश्यक है कि सहयोग को सुदृढ़ किया जाय और उसमें वृद्धि की जाय और सहयोग में रुकावट डालने वाली हिंसा को सहयोग का विनाश करने और उसमें विघ्न डालने से रोका जाय। देखिये, 'वायोलेंस बिटविन दि नेशन्स ऐंड इन दि नेशन' शीर्षक लेख, साइकोलाजिकल रिव्यू, १९४४-५१, पृ० ८५-१०१ और १४७-६१।

१. सी० एफ० ऐन्ड्रयूज़, 'महात्मा गांधीज़ आइडियाज़', पृ० २०० ।

२. यं० इं०, भा० ३, पृ० ४४५।

प्रकाशन की पूर्वमान्यता है गम्भीर अध्ययन, सुदृढ़ अध्यवसाय और सब प्रकार की असुरक्षा से पूरी तरह छुटकारा पाना।"[1]

निःसन्देह सिद्धान्त की दृष्टि से गांधीजी चरमवादी हैं। उनका ध्येय है पूर्ण, निरपेक्ष अहिंसा। उनकी अहिंसा मनुष्य तक ही सीमित नहीं है, बल्कि छोटे-से-छोटे जीवधारी तक पहुँचती है। उनका विश्वास है कि आदर्शवादी दृष्टिकोण से जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में, कठिन-से-कठिन समस्या में, अहिंसा सदा कारगर होती है। "एक पूर्णरूप से अहिंसात्मक मनुष्य स्वभाव से ही हिंसा का प्रयोग नहीं कर सकता या हिंसा उसके लिए व्यर्थ है। उसकी अहिंसा सभी परिस्थितियों में यथेष्ट है।"[2]

सिद्धान्त की दृष्टि से चरमवादी होते हुए भी वास्तविक जीवन में गांधीजी मनुष्य की दुर्बलताओं का ध्यान रखते हैं और उसके लिए काफ़ी छूट देते हैं। वह यह मानते हैं कि कुछ परिस्थितियों में हिंसा अनिवार्य है। टाल्स्टाय, क्वेकर्स और कुछ शान्तिवादी सम्प्रदायों के विपरीत वह सत्याग्रही को कुछ परिस्थितियों में जान लेने की भी आज्ञा देते हैं। उनका विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं अपने लिए यह निश्चय करना चाहिए कि वह किस सीमा तक अहिंसा के सिद्धान्त के अनुसार व्यवहार करेगा। वह गुलामी और कायरता की अपेक्षा हिंसा को अधिक श्रेयस्कर मानते हैं और लोगों को ख़तरों में कायरता और डर से भाग जाने की अपेक्षा बहादुरी से लड़ने और मरने-मारने की राय देते हैं। इस प्रकार सिद्धान्त में चरमवादी होते हुए भी, गांधीजी व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक एकता के लिए अनिवार्य बल-प्रयोग को अनुचित नहीं बताते।

१. ह०, १४-३-३६, पृ० ३६।
२ ह०, ३-३-४०, पृ० ३१।

: ८ :

सामूहिक सत्याग्रह

नेता, संगठन और प्रचार

गांधीजी ने एक बार कहा था, "अहिंसा (केवल) व्यक्तिगत गुण नहीं है व्यक्ति और समाज के लिए व्यवहार-मार्ग है।"[१] दो व्यक्तियों के झगड़ों की तरह सामूहिक झगड़ों के कारण हैं मनुष्य की अपूर्णता, उसके दोष और मनुष्यज्ञात सत्य का आंशिक, आपेक्षिक रूप। व्यक्तिगत जीवन से भी अधिक सामूहिक सम्बन्धों में झगड़े और हिंसा इतने बढ़ गए हैं कि मनुष्य-जाति का अस्तित्व आज खतरे में है। सामूहिक और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के शोषण और आक्रमणों का सृजनात्मक, विधायक रीति से सामना करने की अहिंसात्मक पद्धति संसार को गांधीजी की बड़ी देन है।

सामूहिक सत्याग्रह का महत्त्व

सामूहिक प्रतिरोध के रूप में सत्याग्रह के संबंध में नेतृत्व, संगठन, अनुशासन, शिक्षा और प्रतिरोध-पद्धति के जटिल प्रश्न उठते हैं। सत्याग्रह आवश्यक रूप से संख्या और परिमाण की नहीं, नैतिक शुद्धता की बात है और यदि थोड़े से पूर्ण सत्याग्रही मिल सकते, यदि एक भी मिल सकता तो सामूहिक सम्बन्धों में सत्याग्रही प्रतिरोध बहुत आसान होता। गांधीजी ने बार-बार दोहराया है कि अन्याय के विरुद्ध न्याय की जीत के लिए एक पूर्ण सत्याग्रही भी काफ़ी है। वह अन्यायी साम्राज्य की समग्र शक्ति की अवज्ञा कर सकता है और उस साम्राज्य का विनाश या सुधार कर सकता है।[२] "पूर्ण अहिंसा को ···संगठित शक्ति की आवश्यकता नहीं। अहिंसा से ओत-प्रोत मनुष्य या स्त्री को केवल किसी बात की इच्छा करनी होती है और वह बात हो जाती है।"[३] गांधीजी का यह विश्वास आत्मा की असीम शक्ति के उनके सिद्धान्त का निष्कर्ष है। लेकिन पूर्णता, विचार और इच्छा पर पूर्ण नियंत्रण, मनुष्य के लिए संभव नहीं। यदि यह पूर्ण आत्मसंयम

---

१. ह०, २६-६-४०, पृ० २६६।

२. यं० इं०, भा० १, पृ० २६२।

३. ह०, १८-८-४०, पृ० २५३।

संभव होता तो भी इसकी अधिकतम उपयोगिता यह होती कि उसके द्वारा जनता को सत्याग्रह की शिक्षा दी जा सकती;[1] क्योंकि "जनतंत्र के युग में यह आवश्यक है कि वांछित परिणाम जनता के सामूहिक प्रयास के द्वारा प्राप्त हो। निस्संदेह उद्देश्य की किसी उत्कृष्ट शक्ति वाले व्यक्ति के प्रयत्न द्वारा सिद्धि अच्छी बात होगी, लेकिन इससे समाज में उसकी सामूहिक शक्ति की चेतना नहीं आ सकती।"[2] किंतु वास्तविक परिस्थिति में पूर्ण सत्याग्रही अप्राप्य है। इसलिए जन-आन्दोलन आवश्यक है और सामूहिक प्रतिरोध पद्धति के प्रयोग के लिए जनता को अध्यवसाय और धैर्य के साथ संगठित करने और उनमें अहिंसात्मक अनुशासन को विकसित करने की आवश्यकता है।

नेता

नेता सामूहिक सत्याग्रह का जीवन-प्राण है। बड़े आन्दोलनों के लिए महान् नेताओं की इस मनोवैज्ञानिक कारण से आवश्यकता है कि अधिकतम मनुष्य सिद्धान्तों के शब्दों की अपेक्षा व्यक्तियों के शब्दों में अधिक सरलता से सोच सकते हैं। वह केवलमात्र सिद्धान्तों से इतना प्रभावित नहीं होते जितना उन व्यक्तियों से जिनका जीवन उन सिद्धान्तों पर आधारित है। अधिकतम मनुष्यों को उसी प्रकार व्यक्तिगत नेता की आवश्यकता होती है जिस प्रकार व्यक्ति-स्वरूप ईश्वर की।[3] दूसरे महान् आन्दोलनों की अपेक्षा सत्याग्रह में व्यक्तिगत नेता और भी अधिक आवश्यक हैं, क्योंकि सत्य और अहिंसा के जीवित दृष्टांत-रूप नेता के सत्यात्मक व्यक्तित्व के प्रभाव से ही साधारण मनुष्य सामूहिक सत्याग्रह के प्रयोग के लिए आवश्यक नैतिकता के उच्च तल तक पहुंच सकते हैं।

सत्याग्रही नेता सत्य और अहिंसा के आदर्शों को अपने जीवन में पूरी तरह उतारने का भरसक प्रयत्न करता है। निर्मल सचाई और व्यापक प्रेम, संस्कृति और सम्मानपूर्ण व्यवहार के कारण उसे अनुगामियों का दृढ़ प्रेम और आज्ञाकारिता प्राप्त होते हैं। प्रतिपक्षी भी उससे प्रेम करने लगता है और उसका विरोध दुर्बल हो जाता है। उसका इन्द्रिय-निग्रह उसको उच्चकोटि की सृजनात्मक शक्ति देता है, उसके शब्द में शक्ति आती है और उसके

१. 'सर्वोदय', अप्रैल १९४०, पृ० ४२६।
२. ह०, ८-८-४०, पृ० २७७।
३ जी. डी. एच कोल और मार्गरेट कोल, 'ए गाइड टु माडर्न पालिटिक्स', पृ० ३४८-४९।

नियंत्रित विचारों में स्वयं (बिना किसी बाह्य साधन की सहायता के) कार्य करने की क्षमता।[1] अपरिग्रह के अभ्यास से उत्पन्न उसकी निःस्वार्थता उसको अवसरवादिता से बचाती है और उसके कारण सत्याग्रही नेता छोटे-से-छोटे अनुगामी के साथ एकता का अनुभव करता है। उसके पैर दृढ़ता से देश की परम्परा पर टिके होते हैं, वह स्वदेशी की भावना से ओत-प्रोत होता है और अपने देशवासियों की संस्कृति के उच्चतम अंशों का प्रतिनिधि होता है। ईश्वर में अटल आस्था के कारण और जीवन के बुनियादी सिद्धान्तों के गंभीर ज्ञान के कारण वह सफल युद्धकलाविद् और अनोखा सेनापति होता है।

नेता जनता को विधायक और प्रतिरोधात्मक, दोनों प्रकार के, सत्याग्रह के प्रयोग के लिए तैयार करता है। उसकी सफलता की अचूक परख यह है कि उसके अनुगामी असीम धैर्य और अध्यवसाय चाहने वाले रचनात्मक कार्यक्रम में उतनी ही दिलचस्पी लें जितनी कि अहिंसात्मक प्रतिरोध में और एक प्रकार के सत्याग्रह से हटकर दूसरे का प्रयोग आसानी से प्रभावशाली रीति से कर सकें। सत्याग्रही नेता की सबसे बड़ी सफलता यह है कि उसके कुछ अनुगामी अहिंसा के प्रयोग में उससे भी आगे बढ़ जायं।[2]

आश्रम

गांधीजी के-से महापुरुषों का नेतृत्व केवलमात्र उनकी आध्यात्मिक और नैतिक उच्चता से स्थापित हो जाता है। लेकिन उपनेताओं, सहायकों और कार्यकर्ताओं की शिक्षा के लिए भारतवर्ष की परंपरागत संस्था, आश्रम, सर्वश्रेष्ठ साधन है।

आश्रम के वातावरण में शिक्षक और शिष्य के दीर्घकालीन सम्पर्क से आश्रमवासियों के हृदय पर अहिंसा के आदर्श की अमिट छाप पड़ती है। आश्रम के जीवन में नेता और उसके शिष्य अहिंसक व्रतों का अभ्यास करते हैं। नेता का जीवन और संस्था के प्रतिदिन के प्रश्नों को निपटाने की उसकी पद्धति सत्याग्रह का ऐसा सजीव, समूर्त पाठ है जिसका स्थान केवल-मात्र पुस्तकें या भाषण नहीं ले सकते। इस प्रकार आश्रम अहिंसात्मक आन्दोलन के और नए सत्याग्रही समाज के केन्द्र बन जाते हैं। उनसे अहिंसा का सन्देश जनता तक पहुँचता है। आश्रम अहिंसा के नये प्रयोगों की जानकारी के लिए अनुसन्धान-संस्थाओं और आध्यात्मिक प्रयोगशालाओं का कार्य करते

१. ह०, २३–७–१९३८, पृ० १९२।

२. ह०, २१–७–१९४०, पृ० २१०।

हैं और सत्य का आग्रह रखने में मरने की कला सिखाते हैं।

सत्याग्रह के जन्म के बाद से ही आश्रम गांधीजी का निवास-स्थान थे: आश्रमों के शान्त, प्राकृतिक वातावरण से उन्हें प्रेरणा मिलती थी और आश्रमों में रहकर ही वह सत्य की साधना करते थे। एक बार उन्होंने कहा था, "मैं नहीं जानता कि क्यों मैं जिस संस्था को छू लेता हूं अन्त मे उसे आश्रम मे परिवर्तित कर देता हूँ। ऐसा लगता है कि मैं और किसी प्रकार का जीवन जानता ही नहीं।"[1] सामुदायिक धार्मिक जीवन के अर्थ मे आश्रम गांधीजी के स्वभाव में ही था। जब से उन्होंने अलग घर बसाया, तभी उनका घर आश्रम-जैसा ही था; क्योंकि उनके कुटुम्ब का उद्देश्य धर्म ही था और उसमें उनके कुटुम्बियों के अतिरिक्त कोई-न-कोई मित्र भी होता था। इन मित्रों का कुटुम्ब के साथ संबन्ध धार्मिक होता था।[2] गांधीजी के आश्रमों के अतिरिक्त भारतवर्ष के विभिन्न भागों में बहुत से सत्याग्रह आश्रमों की स्थापना हुई। इनमें से अधिकतर का संचालन गांधीजी के शिष्यों और सहयोगियों के हाथ में है और उनका संगठन साबरमती आश्रम के—जिसे गांधीजी ने सन् १९३३ में तोड़ दिया था—नमूने पर है।

अहिंसक संगठन : कांग्रेस और जनतन्त्र

अहिंसात्मक जन-आन्दोलन के लिए नेता, उपनेताओं और सहयोगियों के अतिरिक्त स्थायी संगठन की भी आवश्यकता होती है। गांधीजी ने इंडियन नेशनल कांग्रेस का सत्याग्रह की आवश्यकता के अनुसार पुनर्निर्माण करने का प्रयत्न किया था। लेकिन कांग्रेस को वह पूरी तरह अपने आदर्शों और इच्छा के अनुकूल नहीं बना पाए थे। हम यहां संक्षेप में इस बात के अध्ययन का प्रयत्न करेंगे कि कहां तक कांग्रेस अहिंसक संगठन के आदर्श तक नहीं पहुँच सकी।

भारतीय राजनीति में गांधीजी के आने के पहले कांग्रेस उच्च मध्यम वर्ग के नेताओं का संगठन थी और उसका जनता से शायद ही कोई सम्पर्क था। उसका अधिवेशन वर्ष भर में एक बार किसी शहर में होता था और उसकी राजनीति प्रार्थना और विरोध के प्रस्तावों और शिष्ट-मण्डलों (डेप्यूटेशन्स) तक सीमित थी। इस प्रकार कांग्रेस मुख्यतः विचार करने वाली संस्था थी और उसका संबन्ध कार्य की अपेक्षा मतनिर्माण से कहीं अधिक था।

---

१. 'इलस्ट्रेटेड वीकली आव इण्डिया' (मार्च ३१, १९४०) में महादेव देसाई का 'हाउ इज़ मि० गांधी लिव' ? शीर्षक लेख; ह०, १-१-४६, पृ० ४१०-११।

२. गांधीजी, 'सत्याग्रह आश्रम का इतिहास', पृ० १।

गांधीजी ने कांग्रेस का पुनर्निर्माण किया और उसको क्रांतिकारी जनसंस्था बनाने का प्रयत्न किया।

उनके नेतृत्व में कांग्रेस का उद्देश्य यह हो गया कि वह जनता को जगाए, शिक्षा दे, उसमें अनुशासन का विकास करे और उसको आज़ादी की अहिंसात्मक लड़ाई के लिये तैयार करे। गांधीजी के अनुसार अहिंसक संस्था के साधन सत्यपूर्ण और अहिंसक होने चाहिए। लेकिन उनके लगातार ज़ोर देने पर भी कांग्रेस 'अहिंसक' के स्थान में 'शांतिपूर्ण' और 'सत्यपूर्ण' के स्थान में 'उचित' विशेषणों पर अटल रही। गांधीजी के लिये अहिंसा जीवन-सिद्धान्त था न कि केवल काम बनाने की नीति। सन् १९११ में उनकी सलाह से कांग्रेस ने अहिंसा को केवल काम बनाने की नीति की तरह अर्थात् केवल स्वराज्य-प्राप्ति के लिए और देश के सामाजिक और धार्मिक समुदायों के आपसी सम्बन्ध के नियमन के लिए स्वीकार किया। गांधीजी को आशा थी कि भारतवासी अहिंसा की कार्य-पद्धति को देख कर उसे सिद्धान्त की तरह मान लेंगे।[१] लेकिन यद्यपि उन्होंने जनता को अहिंसा की काम बनाने वाली नीति की तरह शिक्षा दी, उन्होंने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि अहिंसा को काम बनाने वाली नीति की तरह मानने का भी यह अर्थ था कि हम राजनैतिक क्षेत्र में ईमानदारी से शब्द और कार्य में अहिंसक रहें। "अहिंसा के काम बनाने वाली नीति होने का अर्थ है कि यदि वह असफल या प्रभावहीन सिद्ध हो तो उचित सूचना देकर हम उसे छोड़ सकते हैं। लेकिन सीधी-सादी नैतिकता की मांग है कि जब किसी नीतिविशेष के अनुसार चला जाता है, तब उसका अनुसरण पूरे हृदय से हो।"[२] उन्होंने कहा, "यह आवश्यक नहीं कि हमारी अहिंसा वीरों की हो, लेकिन सच्चे मनुष्यों की (अहिंसा) तो उसे होना ही पड़ेगा।"[३]

सन् १९३३ ई० में गांधीजी को विश्वास हो गया कि यदि अहिंसा को कारगर बनाना है तो उसे अधकचरी कामचलाऊ नीति की तरह नहीं बल्कि व्यापक सिद्धान्त की तरह स्वीकार करना चाहिए। लेकिन गांधीजी की कसौटी से कांग्रेस बहुत पीछे थी। पिछले युद्ध के कारण सन् १९४० में गांधीजी का कांग्रेस से यह मतभेद तीव्र हो गया। दिल्ली और पूना के प्रस्तावों से (जुलाई ७ और १७ सन् १९४०, कांग्रेस ने गांधीजी को नेतृत्व के भार से मुक्त कर दिया और दो दशाब्दियों तक स्वीकार की हुई अहिंसा के सिद्धान्त के प्रतिकूल

१. ह०, २३-७-३८, पृ० १९२, २४-६, ३९, पृ० १७५।
२. यं० इं०, भा० १, पृ० २८२-८३।
३. यं० इं०, भा० १, पृ० २८८।

उसने इस शर्त पर इंगलैंड के साथ सक्रिय रूप से युद्ध-प्रयत्न में सहयोग करने का वादा किया कि इंगलैंड भारत को आज़ादी को मान ले। लेकिन कांग्रेस का यह प्रस्ताव इंगलैंड ने अस्वीकार कर दिया। इसलिए बम्बई के प्रस्ताव से (१६ सितम्बर, सन् १९४०) कांग्रेस ने फिर गांधीजी के नेतृत्व को स्वीकार किया और अहिंसक नीति और व्यवहार को केवल स्वराज्य-प्राप्ति के संघर्ष में ही नहीं, बल्कि यथासम्भव स्वतन्त्र भारतवर्ष में प्रयोग के लिये अपनाने का और निश्शस्त्रीकरण में संसार का पथ-प्रदर्शन करने का वचन दिया।[1] इस प्रस्ताव से भी अहिंसा कांग्रेस की कामचलाऊ नीति ही बनी रही यद्यपि अब कांग्रेस पहले की स्थिति से आगे बढ़ी और उसने पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थ में अहिंसा को स्वीकार किया। गांधीजी का विश्वास था कि जबतक कांग्रेस अहिंसा को अपनाए रहेगी वह अजेय रहेगी और उसको कोई भी शक्ति दबा न सकेगी।[2] सन् १९४२ ई० के आन्दोलन और उसके बाद की घटनाओं ने बहुत से अहिंसावादियों के विश्वास को दुर्बल बना दिया। गांधीजी का मत था कि यदि कांग्रेस के अधिकांश सदस्यों की अहिंसा में आस्था डिग गई है तो कांग्रेस को अपने विधान में से साधनों के "शान्ति पूर्ण" और "न्यायोचित" विशेषणों को हटा देना चाहिए और स्पष्ट शब्दों में घोषित कर देना चाहिए कि वह हिंसात्मक साधनों का भी प्रयोग करेगी।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले और बाद की साम्प्रदायिक हिंसा को दूर करने के लिए गांधीजी ने उपवास और अन्य रूपों में वीरों की अहिंसा के सफल प्रयोग किये। अहिंसा द्वारा साम्प्रदायिक एकता की स्थापना का प्रयत्न ही उनके बलिदान का कारण था। किन्तु कांग्रेस, जो स्वतन्त्र भारत में शासन-कार्य चला रही है, लगभग २५ वर्षों तक दुर्बलता की अहिंसा के प्रयोग के परिणाम-स्वरूप, साम्प्रदायिक हिंसा और काश्मीर पर पाकिस्तानी आक्रमण का सामना अहिंसा द्वारा न कर सकी। सन् १९४७ में गांधीजी ने अपने एक लेख में लिखा था, "यह कोई छिपी बात नहीं है कि शासन-सत्ता स्वीकार करने के बाद कांग्रेस ने स्वेच्छा से अहिंसा को त्याग दिया है।"[3]

१. आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी का १६-९-१९४० का प्रस्ताव ह०, २२-९-४०, पृ० २९६। गांधीजी का 'कांग्रेस रसपान्सिबिलिटी फार दी डिस्टर्बेन्सेज़' का जवाब, १५-७-१९४३।

२. ह०, १३-११-३७, पृ० ३३।

३. ह०, २-११-१९४७, पृ० ३८९।

बहुमत और अल्पमत

कांग्रेस में गांधीजी विभिन्न दलों का और उचित आलोचना का स्वागत करते थे और ऐसी आलोचना को सार्वजनिक जीवन के लिए बहुत स्वास्थ्यप्रद मानते थे।[1] उनका मत था कि कांग्रेस के अन्दर के विभिन्न दलों को सत्य और अहिंसा में विश्वास के सूत्र में बंधे होना चाहिए। उनमें दूर न हो सकने वाला पारस्परिक विरोध न होना चाहिए, उनका मतभेद ध्येय और साधनों के सम्बन्ध में नहीं बल्कि किसी विशेष अवसर पर प्रयुक्त साधन की तफसील के बारे में होना चाहिए।

अहिंसात्मक संस्था में निर्णय बहुमत के जनतन्त्रवादी मार्ग से होना चाहिए। लेकिन गांधीजी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर अल्पमत पर संख्या-बल द्वारा दबाव डालने के विरोधी थे। अहिंसा की मांग है कि अल्पमत के साथ उदारता का व्यवहार किया जाय। अहिंसा में बहुमत के अत्याचार के लिए स्थान नहीं है। कांग्रेस के सम्बन्ध में गांधीजी लिखते हैं, "मेरा सदा यह मत रहा है कि जब कोई गण्यमान्य अल्पमत किसी व्यवहार-नियम के प्रति आपत्ति करता है तो बहुमत को अल्पमत के सामने दब जाना सम्मान-पूर्ण बात है। जब संख्या-जन्य शक्ति अल्पमत की दृढ़ता से ग्रहण की हुई राय की नितान्त उपेक्षा करती है, तो उसमें हिंसा की विशेषता होती है। बहुमत का नियम तभी पूरी तरह से ठीक है जब भिन्न मतवाले अपने मतभेद पर कठोरता से अनुरोध न करें और जब उनमें बहुमत की राय को उदारतापूर्वक मान लेने की भावना हो।"[2] लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि अल्पमत को बहुमत की प्रगति और कार्य में अड़चन डालने का दैवी अधिकार है, 'जहाँ कोई सिद्धांत की बात नहीं है और किसी कार्यक्रम को चलाना है, वहाँ अल्पमत को बहुमत की बात माननी होगी।"[3]

इस प्रकार साधारण रीति से नीति का निर्धारण बहुमत द्वारा होना चाहिए। लेकिन यदि किसी सिद्धांत सम्बन्धी बात का निर्णय हो, तो अल्पमत के मतभेद का पूरी तरह ख़याल रखना चाहिए।[4]

अहिंसक संस्था के अल्पमत को संस्था के साथ पूरी तरह सहयोग करना चाहिए और स्वेच्छा से उसकी बात माननी चाहिए। लेकिन यदि अल्पमत को

---

१. ह०, १३-११-३७, पृ० ३३।
२. यं० इं०, भा० ३. पृ० २१२।
३. ह०, ११-८-४०, पृ० २४४।
४. यं० इं०, भा० १, पृ० १०१७।

संस्था के मूलभूत सिद्धांतों मे विश्वास नहीं है तो उसको संस्था से हट जाना चाहिए और सेवा और बलिदान से संस्था के सदस्यों के मत-परिवर्तन का प्रयत्न करना चाहिए। संस्था से हट जाने पर भी अल्पमत को यथासम्भव बहुमत के साथ सहयोग करते रहना चाहिए। संस्था के अन्दर रहकर विरोध और अड़ंगा डालने की नीति सत्याग्रह के सिद्धांतों के विरुद्ध है। गांधीजी ने सन् १९२२ में लिखा था, "यदि हम जनतन्त्र की सच्ची भावना का विकास करने जा रहे हैं तो हम यह रुकावट डाल कर नहीं, अलग रहकर कर सकेंगे।"[1] केवल अवज्ञा-नीति निषेधात्मक और विनाशक है और उसका उद्देश्य है दूसरों को परेशान करके और चालबाज़ी से शक्ति पर अधिकार कर लेना, जब कि अहिंसा रचनात्मक और विधायक है और उसका उद्देश्य है सेवा द्वारा हृदय परिवर्तन।

चुनाव या वोट देने के अवसर पर संस्था के विभिन्न समुदाय मतदाताओं को प्रभावित करने के सब ईमानदारी के साधनों का प्रयोग कर सकते हैं। लेकिन अनुचित दबाव न डालना चाहिए और आलोचना होना चाहिए विरोधी समुदायों की नीति की न कि समुदायों की।[2]

सन् १९२० में, जब कांग्रेस में स्वराज्य पार्टी के सदस्यों और अपरिवर्तन-वादियों मे मतभेद था, गांधीजी ने अपरिवर्तन-वादियों को सलाह दी थी कि वह पश्चिम में चालू राजनैतिक पार्टियों की पक्षपातपूर्ण मनोवृत्ति को न अपनाएँ। उन्होंने कहा था, 'जहाँ कहीं अपरिवर्तनवादी बिना कटुतापूर्वक संघर्ष के बहुमत नहीं पा सकते उन्हें खुशी से और स्वेच्छा से भद्रतापूर्वक स्वराज्य पार्टी के सदस्यों से दब जाना चाहिए। यदि उनको शक्ति या पद मिलता है तो वह सेवा के द्वारा मिलना चाहिए न कि वोटों का चतुरतापूर्वक प्रबन्ध करने से। वोट तो हैं ही लेकिन वह बिना मांगे मिलना चाहिए।"[2] सन् १९२८ में उन्होंने कहा था, "अहिंसा शक्ति पर बलपूर्वक अधिकार नहीं करती। वह शक्ति को खोजती भी नहीं शक्ति उसको प्राप्त हो जाती है।"[3] इस प्रकार गांधीजी के अनुसार अहिंसक संस्था मे शक्ति-लिप्सा की राजनीति और संस्था के संगठन को हथियाने और उस पर अपना अधिकार रखने के लिए पैंतरेबाज़ी के लिए स्थान नहीं है।

इस बात में भी कांग्रेस प्रायः गांधीजी के आदर्श से पीछे थी। सन् १९३७ के बाद कांग्रेस की एकरूपता और सुदृढ़ता पर ऐसे समुदायों के पैदा

१. य० इं०, भा० २, पृ० ३४५।
२. य० इं०, भा० २, पृ० ८८५।
३. मीरा, 'ग्लीनिंग्ज़', पृ० १५।

हो जाने से हानिकर प्रभाव पड़ा है जिनको कांग्रेस के बुनियादी सिद्धांतों में विशेषकर अहिंसा में और रचनात्मक कार्यक्रम में विश्वास नहीं था। इस मतभेद के होते हुए भी यह समुदाय इसलिए कांग्रेस के अन्दर थे कि इससे वह जनता को अधिक प्रभावित कर सकते थे। यह समुदाय कभी-कभी अड़ंगा-नीति को अपनाते थे और गांधीजी ने एक बार यह मत प्रकट किया था कि यदि यह समुदाय समझाने-बुझाने से न मानें तो बहुमत के लिए सर्वश्रेष्ठ मार्ग यह था कि वह कांग्रेस के संगठन को इन समुदायों के हाथ में छोड़ दे और बिना कांग्रेस के नाम का प्रयोग किए कांग्रेस के कार्यक्रम को चलावे।[1]

कांग्रेस सदस्यता के बारे में भी गांधीजी के सिद्धांतों के अनुसार न चल सकी क्योंकि उसने अक्सर संख्या-वृद्धि को अनुचित महत्त्व दिया। गांधीजी का सदा विश्वास था कि कांग्रेस के आंतरिक दोष सत्याग्रह की असफलता का एक महत्त्वपूर्ण कारण थे। सन १६२२ में उन्होंने लिखा था, "आंतरिक शुद्धता का दृढ़, कठोर विरोध सरकार के विरुद्ध पर्याप्त प्रतिरोध है।"[2] सन् १६४०–४१ के युद्ध-विरोधी सत्याग्रह के ३ वर्ष पहिले से गांधीजी अपने बहुत से लेखों और भाषणों में कांग्रेस का ध्यान उसके आंतरिक दोषों की ओर आकृष्ट करते रहे थे। जब कांग्रेस ने सूबों में शासन-भार स्वीकार किया तो उसकी सदस्यता से संबन्धित खतरे दूर हो गये। इसलिए कांग्रेस के नये प्रभाव और शक्ति का दुरुपयोग करने के लिए बहुत से अवांछनीय व्यक्ति कांग्रेस में आ गये। कांग्रेस के पदों के लिए भद्दी होड़ शुरू हो गई। सदस्यता के रजिस्टरों में झूठे नाम दर्ज किये गये और कमेटियों के चुनावों में कभी-कभी हिंसा का भी प्रयोग हुआ। व्यवस्थापक सभाओं के उत्तेजनापूर्ण कार्य के सामने विधायक कार्यक्रम की उपेक्षा की गई और अनुशासन ढीला पड़ गया। इसलिए कांग्रेस को अनुशासन की कमी और दूसरी बुराइयों के विरुद्ध सख्त कार्रवाई करनी पड़ी। युद्ध के प्रारम्भ के बाद कांग्रेस शासन के कार्य से अलग हो गई और १६४० ई० में युद्ध-विरोधी सत्याग्रह हुआ। इन दोनों घटनाओं से कांग्रेस में बहुत शुद्धता आ गई। अवसरवादी कांग्रेस को छोड़ कर सरकार के साथ जा मिले और १६४२ ई० में अगस्त-आन्दोलन के पहिले कांग्रेस एक बार फिर सुदृढ़ संस्था बन गई और १६४२ के घातक सरकारी हमले के अभूतपूर्व अत्याचार को सह सकी। महायुद्ध के समाप्त होने के बाद शासन-सत्ता प्राप्त करने के बाद कांग्रेस के विरुद्ध अशुद्धता और अनुशासन की कमी की शिकायत पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक हो गई है।

१. ह०, १५–१०–३८, पृ० २८७।

२. यं० इं०, भा० १, पृ० २६४।

कांग्रेस और सत्तावाद

कांग्रेस का कार्य अभी तक दो प्रकार का था। उसका कुछ कार्य तो शान्तिपूर्ण था और इसका सम्बन्ध कांग्रेस के आंतरिक संगठन और प्रबन्ध से था। इस कार्य में कांग्रेस जनतन्त्रवादी संस्था थी और इस हैसियत से वह संसार की किसी जनतन्त्रवादी संस्था से पीछे नहीं थी। लेकिन पिछली तीन दशाब्दियों से कांग्रेस शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध जीवन-मरण के संघर्ष में लगी थी। इस प्रकार कांग्रेस युद्धकारी संस्था, अहिंसात्मक फौज भी थी। युद्ध, अहिंसक युद्ध भी, जनतन्त्र को दुर्बल बना देता है। क्योंकि समझाने-बुझाने और वोट द्वारा निर्णय करने की साधारण जनतन्त्रवादी प्रक्रियाओं को युद्धकाल में स्थगित करना पड़ता है और नेतृत्व का केन्द्रीकरण और शीघ्रता पूर्वक निर्णय करना और कार्य करना अनिवार्य हो जाता है।

पिछली तीन दशाब्दियों में जब सविनय आज्ञा-भंग स्थगित भी रहता था तब भी कांग्रेस का अहिंसात्मक फौज की हैसियत से कार्य चालू रहता था। क्योंकि सविनय आज्ञा-भंग के स्थगित रहने का अर्थ यह नहीं था कि युद्ध का अन्त हो गया। युद्धकारी संस्था की हैसियत से कांग्रेस को नियंत्रण का केन्द्रीकरण करना पड़ता था और उसको प्रत्येक विभाग और प्रत्येक सदस्य का, वह चाहे कितना उच्च पदस्थ क्यों न हो, पथ-प्रदर्शन करना पड़ता था और कांग्रेस उनसे पूरी आज्ञाकारिता की आशा रखती थी।[1] गांधीजी के शब्दों में "केन्द्रीय सत्ता को पूरी शक्ति प्राप्त है जिससे वह अपनी अधीनता में कार्य करने वाली भिन्न-भिन्न इकाइयों का अनुशासन निर्धारित कर सके और उनको अनुशासन मानने पर बाध्य कर सके।"[2]

सविनय आज्ञा-भंग के समय गांधीजी के अनुसार, कांग्रेस की इच्छा की अभिव्यक्ति इसके सेनापति द्वारा होती थी। "प्रत्येक इकाई को इच्छा-पूर्वक विचार, शब्द और कार्य में उसकी आज्ञा-पालन करना पड़ता है। हां विचार में भी, क्योंकि युद्ध अहिंसक है।"[3]

जब कभी कांग्रेस ने सरकार के विरुद्ध युद्ध छेड़ा, उसने गांधीजी को डिक्टेटर की पूरी शक्ति दी। सन् १९३० ई० में गांधीजी ने इस बात का एक महत्वपूर्ण कारण बताया कि क्यों अहिंसक प्रतिरोध का नियन्त्रण कांग्रेस

---

१. ह०, ६-८-३८, पृ० २०६।
२. ह०, १८-११-३६, पृ० ३४४।
३. ह०, १८-११-३६, पृ० ३४४।

के समान जनतन्त्रवादी संस्था के हाथ में नहीं होना चाहिए। कांग्रेस में भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों के मनुष्य हैं। कुछ अहिंसा को सिद्धान्त रूप में मानते हैं और दूसरों के लिए अहिंसा राजनीति में काम-चलाऊ नीति है। "इसलिए हो सकता है कि उन लोगों की (अहिंसा की) प्रवृत्ति, जिनके लिए अहिंसा काम-चलाऊ नीति है, हिंसा के प्रलोभन में उनका साथ न दे। लेकिन उनकी प्रवृत्ति, जो अहिंसा के अतिरिक्त किसी दूसरे साधन का प्रयोग नहीं करेंगे, सदा उनका साथ देगी, यदि वास्तव में उनमें अहिंसा है। इसीलिए कांग्रेस के नियन्त्रण से (सत्याग्रही नेता की) स्वतन्त्रता की आवश्यकता है।"[1]

लेकिन सत्याग्रही नेता नाम का ही डिक्टेटर (अधिनायक) होता था। डिक्टेटर की हैसियत से उसकी सत्ता केवल सविनय आज्ञा-भंग के समय के लिए होती थी। उसकी सत्ता की उत्पत्ति जनतन्त्रवादी थी, क्योंकि कांग्रेस उसको स्वेच्छा से स्वीकार करती थी। इसके अतिरिक्त, सत्याग्रही अनुगामियों की आज्ञाकारिता उनकी स्वेच्छा पर आश्रित थी और वह जब चाहते नेता की आज्ञा मानने से इन्कार कर सकते थे। फिर, जब सविनय आज्ञा-भंग का आंदोलन ज़ोर पकड़ता था तब बड़े-बड़े नेता गिरफ्तार हो जाते थे और कांग्रेस गैरक़ानूनी हो जाती थी। कांग्रेस कमेटियों का कार्य बन्द हो जाता था और वह अपने अधिकार स्थानीय डिक्टेटरों को सौंप देती थी। तब आंदोलन विकेन्द्रित और स्व-सञ्चालित हो जाता था। वास्तव में गांधीजी चाहते थे कि नेतृत्व इतनी पूरी तरह विकेन्द्रित हो जाय कि प्रत्येक सत्याग्रही स्वयं अपना नेता भी हो और अनुगामी भी।[2] किसी भी क्रान्तिकारी आंदोलन में इससे अधिक जनतन्त्रवादी व्यवस्था शायद ही संभव हो।

इस प्रकार कांग्रेस में प्रभावोत्पादक नेतृत्व, आवश्यकतानुसार सत्ता के केन्द्रीकरण, युद्ध-क्षमता और जनतन्त्र का सामञ्जस्य था। पिछले युद्ध से पहले प्रान्तीय मन्त्रिमण्डलों के सदस्य गांधीजी की राय से कांग्रेस की कार्य-कारिणी समितियों से, संस्था के आंतरिक जनतन्त्र की रक्षा के लिए, अलग रखे गए थे। लेकिन इससे कांग्रेस का संचालन प्रथम श्रेणी के नेताओं के हाथ में नहीं रहता और कांग्रेस और सरकार की नीतियों में अन्तर बढ़ने की सम्भावना रहती है। इसलिए युद्ध के बाद से पिछला तरीक़ा बदल दिया गया है।

यह भ्रम हो सकता है कि सत्याग्रही डिक्टेटर फ़ासिस्ट डिक्टेटर था, लेकिन दोनों में पृथ्वी आकाश का अन्तर है। फ़ासिज़्म हिंसा पर आश्रित

१. यं० इं०, २-२-३०।
२. 'हिस्ट्री आव दि कांग्रेस', पृ० ६५७।

है। दूसरी ओर कांग्रेस अहिंसक संस्था थी। उसके दबाव डालने के साधन नैतिक थे और वह बल-प्रयोग द्वारा किसी को अपनी बात मानने पर बाध्य नहीं करती थी। इस प्रकार संसार की एकमात्र महत्त्वपूर्ण अहिंसक संस्था की हैसियत से कांग्रेस और फ़ासिज़्म परस्पर विरोधी हैं। कांग्रेस के अन्दर छोटे-से-छोटा अल्पमत भी बहुमत के अन्याय का अहिंसक प्रतिरोध कर सकता था और इस प्रकार अपने अधिकारों की रक्षा कर सकता था।

गांधीजी का कांग्रेस से अनेक बार अलग होना इस बात का प्रमाण है कि कांग्रेस नेता की अन्ध-भक्ति के फ़ासिस्ट सिद्धान्त को नहीं मानती थी। सन् १९४० ई० में तो कांग्रेस ने ही गांधीजी को नेतृत्व से अलग कर दिया था। कांग्रेस पर गांधीजी का प्रभाव केवलमात्र नैतिक था और वह अक्सर बढ़ाकर बतलाया जाता था। गांधीजी लिखते हैं, "मेरी राय वहीं तक मानी जाती है जहां तक मेरी राय के ठीक होने का विश्वास हो जाता है। मैं यह भेद प्रकट कर दूं कि अक्सर मेरी राय का सदस्यों पर प्रभाव नहीं पड़ता।"[1] यह याद दिलाना शायद अनावश्यक है कि गांधीजी अपने जीवन के पिछले १५ वर्षों में कांग्रेस को स्वयं अपना मार्ग निर्धारण करने और उनकी राय के प्रतिकूल भी स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने को निरन्तर प्रोत्साहित करते रहे थे। वह यह बतला देते थे कि उनकी समझ में परिस्थितिविशेष में क्या ठीक मार्ग था। लेकिन वह कांग्रेस को उनका मत स्वीकार करने को मजबूर नहीं करते थे।

इस भ्रम का कि कांग्रेस फ़ासिस्ट थी एक कारण यह भी है कि वह सदस्यों को अनुशासन में रखने का प्रयत्न करती थी। हम ऊपर बतला आए हैं कि क्यों कांग्रेस को सन् १९३७ के बाद अनुशासन की कमी को और दोषों को दूर करने के लिए नियमों का उल्लंघन करने वाले सदस्यों के विरुद्ध अनुशासन-कार्यवाही करनी पड़ी। जिन संस्थाओं की सदस्यता स्वेच्छा पर आश्रित है उनके सिद्धांतों और कार्य-पद्धति के प्रति वफ़ादारी ऐसी संस्थाओं के अस्तित्व की पूर्व- ान्यता है।

कांग्रेस की सदस्यता भारतवर्ष की जनसंख्या के एक अंश तक ही मर्यादित थी। लेकिन कांग्रेस सेवा के अधिकार से सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रतिनिधित्व का दावा करती थी। देश के स्वतन्त्र होने के पहले कांग्रेस ने इस बात का भी प्रयत्न किया था कि उसमें जनमत के सभी महत्त्वपूर्ण अंशों का समावेश हो। लेकिन इसका कारण यह था कि कांग्रेस भारतीय राष्ट्रीयता की एकता का और साम्राज्यवाद के विरुद्ध उसके प्रतिरोध का प्रतीक थी।

---

१. ह०, १२-८-३९, पृ० २३२।

गांधीजीने एक बार कहा था, "जब कोई देश विदेशियों के हाथ से शक्ति छीनने के संघर्ष में लगा हो तो (प्रमुख राजनैतिक दल में अन्य दलों के) सम्मिलित होने की क्रिया स्वाभाविक है; वहां पृथक, प्रतिद्वन्द्वी राजनैतिक संगठनों की गुंजाइश नहीं। देश की सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग तीसरे बलपूर्वक अधिकार करने वाले दल को निकालने के लिए होना चाहिए।"[1]

कांग्रेस में दोष और कमियां थीं। लेकिन गांधीजी के अनुसार वह चाहे जितनी अपूर्ण क्यो न हो, उसमें श्रद्धा की चाहे जितनी कमी क्यों न हो, लेकिन शान्तिपूर्ण साधनों मे दृढतापूर्वक विश्वास करने वाली वह एकमात्र संस्था थी।[2] किसी दूसरी संस्था ने अहिंसक प्रतिरोध का प्रयोग इतने बड़े पैमाने पर नहीं किया है। और न इतिहास में किसी दूसरी क्रांतिकारी संस्था का नेतृत्व इतना जनतन्त्रवादी था।

गांधीजी ने कांग्रेस की पुनर्रचना इस उद्देश्य से की थी कि वह जनतन्त्रवादी क्रांतिकारी संस्था बन जाय और भारतवर्ष के ७ लाख गांव उसकी सेवा और प्रभाव के क्षेत्र में आ जायं। उनका विश्वास था कि सच्चे जनतन्त्रवाद की ओर कांग्रेस ने लगातार उन्नति की थी।

अपनी धारणा के जनतन्त्रवाद मे गांधीजी इस बात को महत्व नहीं देते थे कि जनता के प्रतिनिधियों की संख्या बहुत बड़ी हो – इतनी बड़ी कि आसानी से संभल न सके और उसके कारण भ्रष्टता और पाखंड बढ़े। जैसे कि उन्होंने सन् १९३४ ई० में कहा था, "सच्चे जनतन्त्र का इस बात से विरोध नहीं कि थोड़े से व्यक्ति उनकी जिनके प्रतिनिधि होने का वह दावा करते हैं—भावनाओं, आशा और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करें।"[3] गांधीजी द्वारा प्रयुक्त "प्रतिनिधि होने का दावा करते है" शब्दों को जनतन्त्रवादी आदर्श के विरुद्ध समझना नितांत भूल होगी। अहिंसक संस्था में जो स्वेच्छा पर अवलम्बित आज्ञाकारिता और नैतिक साधनों पर आश्रित हो "प्रतिनिधि होने का दावा" करने का अर्थ जनता की सेवा करने और उनके लिए कष्ट सहने के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यदि बात गांधीजी पर ही छोड़ दी जाती तो वह कांग्रेस की सदस्य-संख्या को यथासम्भव बहुत ही कम कर देते। "कांग्रेस थोड़े से चुने हुए सेवा करने वालों की होती, जो राष्ट्र की इच्छा के अनुसार हटाए जा सकते लेकिन जिनको उस कार्यक्रम में जो वह देश के सामने रखते

---

१. ह०, ३१-१२-१९३८, पृ० ४१०।
२. गांधीजी का २१-४-४१ का वक्तव्य।
३. गांधीजी का १७-६-३४ का वक्तव्य।

लाखों व्यक्तियों का इच्छापूर्वक दिया हुआ सहयोग मिलता।[1]"

सन् १९२० में गांधीजी ने कांग्रेस का नया विधान बनाया था। सन् १९३४ में उन्होंने कांग्रेस के विधान में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तनों की सिफारिश की। इनमें से बहुत परिवर्तन १९३४ में बम्बई के अधिवेशन में कांग्रेस ने स्वीकार कर लिए। सन् १९३४ के विधान में समय-समय पर, विशेष रूप से १९३९ में, संशोधन हुए थे। सन् १९४८ तक इसी संशोधित विधान द्वारा कांग्रेस का संगठन निर्धारित होता था।

इस संशोधित विधान के अनुसार इंडियन नेशनल कांग्रेस में निम्नलिखित का समावेश था :

(१) चार आना वार्षिक चंदा देने वाले कांग्रेस कमेटियों के प्राथमिक सदस्य।

(२) ग्राम, मोहल्ला, शहर, थाना, मंडल, तहसील और ज़िला कमेटियाँ।

(३) प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी।

(४) कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन जिसमें सभापति और उस वर्ष के प्रतिनिधि सम्मिलित थे।

(५) अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस कमेटी।

(६) कार्य-समिति (वर्किंग कमेटी)।

प्रतिनिधियों का चुनाव प्राथमिक सदस्यों द्वारा ज़िलों में जनसंख्या के और सदस्य-संख्या के अनुसार होता था। सूबे के प्रतिनिधियों से प्रांतीय कांग्रेस कमेटी बनती थी। प्रान्त के प्रतिनिधि अपने एक तिहाई भाग को अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस कमेटी की सदस्यता के लिए चुनते थे। सभापति का चुनाव एक वर्ष के लिए होता था और प्रत्येक प्रतिनिधि को इस चुनाव में वोट देने का अधिकार होता था। कार्यसमिति में १४ सदस्य होते थे और इन सदस्यों को सभापति अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्यों में से चुनता था। कार्यसमिति कांग्रेस की कार्यकारिणी सत्ता थी, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के प्रति उत्तरदायी थी और उसकी निर्धारित नीति के अनुसार कार्य करती थी।

देश के स्वतन्त्र होने के पहले ही गांधीजी का ध्यान कांग्रेस के दोषों की ओर आकृष्ट हुआ था और उन्होंने कांग्रेस के सुधार के बारे में सुझाव दिए थे जिससे कांग्रेस भद्दे शक्ति-संघर्ष से बच सके और आर्थिक, सामाजिक

---

१. ह०, १२-८-३९, पृ० २३२।

और नैतिक स्वतन्त्रता की स्थापना कर सके। उनके सुझाव हमको उनके एक हिन्दी में लिखे ज्ञापन (मेमोरेन्डम) में—जिसको उन्होंने कांग्रेस की विधान-समिति को १ जनवरी सन् १९४७ को दिया था[1]—उनके एक लेख में जिसका शीर्षक था 'कांग्रेस की स्थिति'[2] और कांग्रेस के विधान के उस प्रारूप[3] में मिलते हैं जिसको उन्होंने २९ जनवरी १९४८ को लिखा था और जो उनकी अन्तिम वसीयत के नाम से प्रसिद्ध है।

गांधीजी का मत था कि प्रचार और व्यवस्थापक कार्य के साधन की भाँति कांग्रेस की उपयोगिता समाप्त हो चुकी थी। कांग्रेस के वर्तमान संगठन को विघटित करके लोक-सेवक संघ के रूप में विकसित हो जाना चाहिए। संघ को राष्ट्र के उन सेवकों का समुदाय होना चाहिए जो आर्थिक, सामाजिक और नैतिक स्वतन्त्रता की सिद्धि अर्थात् राजनैतिक स्वतन्त्रता को जनतन्त्र में कार्यान्वित करने के उद्देश्य से अधिकतर गाँवों में रचनात्मक कार्यक्रम में लगे हुए हों। वह खुदाई खिदमतगार शक्ति-संघर्ष से अलग रहेंगे और राष्ट्र के मतदाताओं को अपनी नैतिकता और सेवा से प्रभावित करेंगे।

लोक-सेवक संघ का संगठन जनतन्त्रवादी सिद्धान्तों के अनुसार होगा। रचनात्मक कार्य में लगे पांच वयस्क व्यक्तियों की एक इकाई बनेगी। ऐसी दो निकटवर्ती पंचायतें एक नेता चुनेंगी। ऐसे पचास प्रथम श्रेणी के नेता द्वितीय श्रेणी का एक नेता चुनेंगे और इस प्रकार संगठन समस्त देश में फैल जायगा। द्वितीय श्रेणी के नेता व्यक्तिगत रूप से अपने स्थान में और सम्मिलित रूप में सम्पूर्ण देश में कार्य-संचालन करेंगे। आवश्यकता होने पर द्वितीय श्रेणी के नेता अपने में से एक को प्रमुख नेता चुनेंगे जो सम्पूर्ण संघ का संचालन और नेतृत्व करेगा। संघ रचनात्मक कार्य करने वाली अन्य स्वतन्त्र संस्थाओं को मान्यता देगा।

गांधीजी के महाप्रयाण के बाद उनके इन सुझावों को कांग्रेस के नेताओं की स्वीकृति न मिल सकी। सन् १९४८ में कांग्रेस ने एक नए विधान को स्वीकार किया। इस विधान के अनुसार पुराने संगठन में कुछ परिवर्तन कर दिए गए हैं। नये विधान के अनुसार, "भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का उद्देश्य भारतवासियों की भलाई और उन्नति करना तथा भारत में शांतिमय

---

१. ज्ञापन के अंग्रेजी अनुवाद के लिए देखिए एन० वी० राजकुमार, 'डेवलपमेंट ऑव दि कांग्रेस कांस्टीट्यूशन', परिशिष्ट २।

२. ह०, १।२-१९४८, पृ० ४।

३. ह०, १५-२-१९४८, पृ० ३२।

एवं वैध उपायों से ऐसे सम्मिलित सहकारी स्वराज्य की स्थापना करना है जिसका आधार सब के लिए समान अवसर और समान राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकार हो और जिसका लक्ष्य विश्व-शान्ति और विश्व-बंधुत्व की स्थापना करना हो।"[1] नये विधान के अनुसार कांग्रेस की सदस्यता तीन प्रकार की है—साधारण सदस्य, योग्य सदस्य और कर्मठ सदस्य। कर्मठ सदस्य वह है जो अपने समय का एक भाग नियमित रूप से किसी प्रकार के राष्ट्रीय या रचनात्मक कार्य में या कार्यों में लगाता है। कर्मठ सदस्य को कांग्रेस के सभी चुनावों के लिए खड़े होने का और वोट देने का अधिकार है। चुनाव के लिए वही खड़ा हो सकता है जो किसी साम्प्रदायिक दल या किसी ऐसे अन्य राजनैतिक दल का सदस्य नहीं है जिसकी अलग सदस्यता, विधान या कार्यक्रम हो। कार्य-समिति (वर्किंग कमेटी) में ऐसे सदस्यों का अनुपात जो भारत या राज्यों की सरकार के मन्त्री हैं एक तिहाई से अधिक नहीं हो सकता। कांग्रेस कमेटियों की अवधि तीन वर्ष कर दी गई है।

कांग्रेस की सहायक संस्थाएँ भी हैं। पार्लमेंटरी बोर्ड कार्य-समिति की उपसमिति है जो व्यवस्थापक-मण्डलों से सम्बन्धित कांग्रेस के कार्यों की देख-रेख करती है।

सन् १९४१ के पहले गांधी-सेवा-संघ भी सत्याग्रही विशेषज्ञों की अनुसन्धान संस्था थी। यह विशेषज्ञ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अहिंसा के प्रयोग के बारे में खोज करते थे। विशेष-रूप से वह विधायक कार्य के बारे में और उस कार्य की व्यक्ति और समाज पर प्रतिक्रिया के बारे में अध्ययन और अनुसन्धान करते थे।[1] संघ कांग्रेस से स्वतन्त्र था और गांधीजी की देख-रेख में कार्य करता था। संघ के अतिरिक्त विधायक कार्यक्रम के विशेषज्ञों की स्वतन्त्र संस्थाएँ भी हैं। विधायक कार्यक्रम सम्बन्धी प्रमुख संस्थाएँ हैं अखिल भारतीय चर्खा संघ, अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ, हरिजन सेवक संघ, हिन्दुस्तानी तालीमी संघ और गो सेवा संघ। सन् १९४६ में गांधीजी के तत्त्व दर्शन पर आधारित विधायक कार्यक्रम सम्बन्धी इन पाँच संस्थाओं के पाँच प्रतिनिधियों की एक सम्मिलित समिति बनी थी जिसका नाम सन् १९४१ में बदल कर समग्र-रचना समिति रखा गया था। यह सलाह देने वाली समिति और पाँचों विधायक कार्य सम्बन्धी संस्थाएँ गांधीजी की देख-रेख में कार्य करती थीं। समग्र-रचना समिति का प्रमुख कर्तव्य था ग्राम्य-जीवन की उन्नति के उद्देश्य से विधायक कार्यक्रम का पथ-प्रदर्शन, उसमें सामञ्जस्य स्थापन, और यह देखना कि इन संघों के कारबार में सत्य और

१. ह०, २-३-४०, पृ० २४।

अहिंसा का पालन होता है या नहीं।[1] किन्तु समग्र-रचना समिति सन्तोष-जनक रीति से काम न कर सकी।

गांधीजी के महाप्रस्थान के बाद उनकी शिक्षा पर आधारित ११ रचनात्मक कार्य-सम्बन्धी संस्थाओं ने पथ-प्रदर्शन, नीति-निर्धारण और पारस्परिक सहयोग के लिए एक अखिल भारत सेवा संघ की स्थापना की है।[2] गांधीजी की शिक्षा को मानने वालों ने सर्वोदय-समाज नाम के एक समाज की रचना की है। इस समाज का उद्देश्य है "सत्य और अहिंसा पर एक ऐसा समाज बनाने की कोशिश करना जिसमें जात-पांत न हो, जिसमें किसी को शोषण करने का मौक़ा न मिले और जिसमें समूह और व्यक्ति, दोनों को पूरा पूरा (सर्वांगीण) विकास करने का पूरा अवसर मिले।" गांधीजी के सिद्धांतों को माननेवाला और उनके अनुसार कार्य करने का प्रयत्न करने वाला प्रत्येक व्यक्ति समाज का सदस्य हो सकता है। सदस्यों मे आपस में सम्पर्क रखने के लिए प्रति वर्ष ३० जनवरी के दिन सर्वोदय समाज का एक मेला लगता है जिसमें सब सदस्य सम्मिलित हो सकते हैं।

स्वयंसेवक

हिन्दुस्तानी सेवा दल कांग्रेस के स्वयंसेवकों की देख-रेख करने वाली संस्था थी। समय-समय पर स्वयंसेवकों के शिक्षा-शिविर लगते थे। उनकी अपनी अलग ड्रिल, वर्दी और राष्ट्रीयगान थे। गांधीजी ने सदा इस बात पर ज़ोर दिया कि स्वयंसेवकों को सतर्कता से भर्ती करना चाहिए। सच्चरित्र व्यक्तियों के अतिरिक्त दूसरों को अलग रखने के उद्देश्य से स्वयंसेवकों को एक प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करना पड़ता था और अहिंसक अनुशासन स्वीकार करना पड़ता था।

गांधीजी की राय थी कि अपना सब समय राष्ट्रीय-सेवा में लगाने वाले निर्धन स्वयंसेवकों को अपने भरण-पोषण मात्र के लिए आवश्यक वेतन स्वीकार करना चाहिए।[3] सन् १९३५-३६ में ग्राम-सुधार का कार्य करने

१. खादी जगत, वर्ष ४, अंक ६, पृ० १५।

२. यह संस्थाएं है—अखिल भारतवर्षीय चर्खा संघ; अखिल भारतवर्षीय ग्राम-उद्योग संघ; हरिजन सेवक संघ; हिन्दुस्तानी तालीमी संघ, गो-सेवा संघ; हिन्दुस्तानी प्रचार सभा; कस्तूरबा गांधी मेमोरियल ट्रस्ट; नवजीवन ट्रस्ट; हिन्दुस्तानी मज़दूर संघ; नेचरक्योर ट्रस्ट; और वेस्टर्न इण्डिया आदिवासी वर्क्स फेडरेशन।

३. यं० इं०, भा० २, पृ० ४४२।

वाले स्वयंसेवकों को उन्होंने यह सलाह दी थी कि वह अपनी आवश्यकताओं के लिए उस गाँव पर आश्रित रहें जिसकी वह सेवा करते थे। साथ-ही-साथ उनका यह भी मत था कि शरीरश्रम के आदर्श के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ज़रूरतों के लिए स्वयं कमा लेना चाहिए और अपना बाक़ी समय राष्ट्रीय-सेवा में लगाना चाहिए।[1] ग्राम-सेवा करने वाले का जिस गाँव की वह सेवा करता है उस पर आश्रित होना इस बात का चिह्न है कि गाँव उसकी सेवा स्वीकार करता है, उस व्यक्ति में विश्वास करता है और उसकी उचित ज़रूरतों को पूरा करने के लिए तैयार है। सन् १९४६ में गांधीजी की स्वीकृति से अखिल भारतीय चर्खा संघ ने यह तय किया था कि आजकल की मँहगी को दृष्टि में रखते हुए समग्र ग्राम-सेवा में लगे हुए कार्यकर्ता को उसके परिवार की सदस्यसंख्या के अनुसार १०० रुपये मासिक तक मिलना चाहिए। यह आर्थिक सहायता बीस प्रतिशत के हिसाब से प्रतिवर्ष कम होती जायगी। ५ वर्ष के अन्त में कार्यकर्ता स्वावलम्बी हो जायगा और अपने भरण-पोषण के लिए गाँव की सहायता पर, स्वयं अपने शरीर-श्रम पर और उस स्थान में अपने द्वारा चलाए हुए घरेलू धंधों की साधारण आय पर आश्रित रहेगा।

स्वयंसेवकों का कर्त्तव्य था जनता को सत्याग्रह की शिक्षा देना। अहिंसक प्रतिरोध के समय वह सत्याग्रही सेना के पथप्रदर्शक का काम करते थे। नये रंगरूटों में सत्याग्रह की भावना विकसित करते थे और उनको अनुशासन सिखाते थे। शान्ति के समय उनसे यह आशा की जाती थी कि वह रचनात्मक कार्य द्वारा जनता की सेवा करेंगे। आवश्यकता पड़ने पर वह सभाओं, जलूसों और हड़तालों का प्रबन्ध करते थे।

ग्राम-सेवकों की हैसियत से उनका कर्त्तव्य था खादी को सार्वभौम बनाना और घरेलू धन्धों के आधार पर गाँवों का पुनर्संगठन करना। गांधीजी एक आदर्श सत्याग्रही ग्राम-कार्यकर्ता का वर्णन इन शब्दों में करते हैं, "सेवा के नाते से वह गाँव के निर्धन-से-निर्धन मनुष्य से संबन्धित होगा। वह अपने को भंगी, परिचारक, झगड़ों का पंच और गाँव के लड़कों का शिक्षक बना देगा। उसका घर कताई में केन्द्रित लाभदायक कार्यों से शहद की मक्खियों के छत्ते की तरह मशगूल रहेगा।"[2]

सन् १९३८ से गांधीजी ने प्रायः इस बात पर ज़ोर दिया कि साम्प्रदायिक झगड़ों को दबाने के लिए प्रत्येक गाँव में और शहरों के हिस्सों में शान्ति-

---

१. ह०, १–६–३५, पृ० १२२ और १२५; १२–११–३५, पृ० ३०२, और २६–२–३६, पृ० १८।

२. ह०, ४–८–४०, पृ० २३५।

दलों का संगठन हो और शान्ति-दल के स्वयंसेवक भर्ती किये जायं। प्रत्येक दल या दल का प्रत्येक भाग अपना अध्यक्ष चुन ले। इन स्वयंसेवकों के लिए यह आवश्यक था कि वह अहिंसा को सिद्धांत की तरह मानें, उनको ईश्वर में दृढ़ विश्वास हो और उनमें संसार के प्रमुख धर्मों की ओर समता का भाव हो। वह स्वयंसेवक स्थानीय होना चाहिए, उनको एक-दूसरे से अच्छी तरह परिचित होना चाहिए और उनको अपने स्थान के लोगों के साथ व्यक्तिगत विधायक सेवा के द्वारा सम्पर्क स्थापित करना चाहिए। उन्हें किसी विशेष प्रकार के वस्त्र पहनना चाहिए जिसमें वह सुगमता से पहिचाने जा सकें। उनके पास किसी प्रकार के हथियार नहीं होना चाहिए। गांधीजी का विचार था कि यह स्वयंसेवक पुलिस और फौज का स्थान ले लें और सांप्रदायिक दंगों को अहिंसक पद्धति से शांत करें।[1]

उनका कहना था कि शान्ति-सेना का कार्यक्रम "हिन्दू-मुस्लिम दंगों और इसी तरह के दूसरे झगड़ों के रोकने में मृत्यु के स्वागत का कार्यक्रम है। यह हिंसा को रोकने के लिए जान देने का कार्यक्रम है।"[2] गांधीजी के निर्देश के अनुसार सन् १६३८ में देश के कुछ भागों में शान्ति-सेना के संगठन का प्रयत्न हुआ था। जिस प्रकार की शान्ति की स्थापना का प्रयत्न यह अहिंसक स्वयंसेवक करते थे वह सरकारी सत्ता द्वारा बल-प्रयोग से स्थापित शान्ति न थी बल्कि सेवा और समझदारी द्वारा स्थापित विश्वास पर आश्रित शान्ति थी। गांधीजी का विश्वास था कि अहिंसा इस प्रकार के दंगों को दबाने के लिए पर्याप्त है। उनका यह भी कहना था कि इस प्रकार के दंगों का स्थायी इलाज अहिंसा द्वारा ही हो सकता है।

अहिंसक सेना का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग था खुदाई खिदमतगार या सुर्खपोश। इस आन्दोलन की नींव डालने वाले खान अब्दुलगफ्फार खां हैं। खाँ साहब अहिंसा को व्यापक अर्थ में मानते हैं। पहिले अहिंसक आन्दोलन में जब गांधीजी ने देश को रौलट बिल का विरोध करने की सलाह दी थी उसी समय खाँ साहब ने कांग्रेस के बाहर इस आन्दोलन का संगठन किया था। धीरे-धीरे वह आन्दोलन कांग्रेस के समीप आता गया और देश के बटवारे के पहिले, कई वर्षों से वह कांग्रेस का अङ्ग था।

सुर्खपोशों की संख्या सन् १६३८ में एक लाख से अधिक थी। वह अवैतनिक स्वयंसेवक थे और अपनी वर्दी स्वयं लाते थे। उनको अर्ध-फौजी

---

1. ह०, १८-६-३८, पृ० १५२।
2. ह०, २१-१०-३६, पृ० ३१०।

क़वायद की शिक्षा मिलती थी और उनका अनुशासन हिन्दुस्तान के अन्य प्रांतों के स्वयंसेवकों की अपेक्षा अधिक अच्छा था। सन् १६३०–३२ के आंदोलन में सरकारी दमन भारत के किसी भी भाग में इतना कठोर और अत्याचारपूर्ण न था जितना कि सीमाप्रांत में और न किसी दूसरे प्रांत के सत्याग्रहियों ने इतनी वीरता और अहिंसा के साथ उसका सामना किया था जैसा कि सुर्ख़-पोशों ने। गांधीजी सुर्ख़पोश आन्दोलन को बहुत महत्त्व देते थे। उनकी संख्या और सफलता के अतिरिक्त यह आन्दोलन बहुत कुछ वीरों की अहिंसा का प्रयोग था। सीमाप्रांत के निवासी संसार के अधिकतम युद्धप्रिय मनुष्यों में से हैं। हिंसा और बदला उनकी विशेषता है। बदला लेना पठानों की प्रतिष्ठा-नियमावली का आवश्यक भाग है। कहा जाता है कि प्रत्येक पठान अपने द्वारा की हुई हत्याओं की गिनती रखता है और अपने शत्रुओं को याद रखता है। कुछ वर्ष पहले खान अब्दुलगफ़्फ़ार ख़ाँ की राय थी कि अहिंसा ने सुर्ख़पोशों के साहस को बढ़ा दिया था और उनके झगड़ों को कम कर दिया था।[1] बाद में खान अब्दुलगफ़्फ़ार ख़ाँ ने ख़ुदाई ख़िदमतगारों को रचनात्मक कार्यक्रम की शिक्षा देने के लिए सरदर्याब में एक केन्द्र स्थापित किया। वह भारत के विभाजन के विरुद्ध थे। विभाजन के बाद उन्होंने ख़ुदाई ख़िदमत-गार आन्दोलन को पाकिस्तान के अन्य सूबों में भी फैलाने का और उसको पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी का—जिसकी स्थापना सन् १९४८ ई० में हुई थी—स्वयंसेवक दल बनाने का निश्चय किया। किन्तु वह और उनके साथी क़ैद कर लिए गये हैं, उनको लम्बी सज़ायें दी गई हैं और ख़ुदाई ख़िदमतगारों पर कठोर दमन हो रहा है।

सन् १६३८ तक सुर्ख़पोश गांधीजी के आदर्श से पीछे थे। उनकी अहिंसा राजनैतिक क्षेत्र तक मर्यादित थी। लेकिन गांधीजी आशापूर्ण थे कि अपने महान् नेता के पथ-प्रदर्शन में सुर्ख़पोश सच्ची, वीरों की अहिंसा का विकास कर सकेंगे। सन् १६३८ में उन्होंने ख़ाँ साहब के संयोग से आन्दोलन के नव-संगठन की योजना बनाई थी। विशेष रूप से उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया था कि सच्ची अहिंसा के विकास के लिए यह आवश्यक है कि सुर्ख़पोश रचनात्मक कार्यक्रम को अपनायें।[2]

अनुशासन

गांधीजी ने सत्याग्रही स्वयंसेवकों के अनुशासन के प्रश्न पर बहुत

---

१. ह०, २८–८–४०, पृ० २२४; २१–८–४०, पृ० २२४।

२. 'हरिजन', अक्तूबर, नवम्बर, १६३८ में 'इन दि फ्रन्टियर प्राविंस' शीर्षक लेख देखिये।

विचार किया था। उनका विश्वास था क अहिंसक प्रतिरोध की सफलता पर्याप्त अनुशासन पर निर्भर है।

अनुशासन का उद्देश्य है सत्याग्रही की आत्म-शक्ति या नैतिक-शक्ति का विकास जिससे सत्याग्रही सबके साथ अपनी आध्यात्मिक और नैतिक एकता का अनुभव कर सके।[1] सत्याग्रही को बदले के लिए भी दूसरों की जान न लेना चाहिए और उसमें बिना बदला लिए मौत का सामना करने का साहस होना चाहिए।[2] इसके लिए सेवा, बलिदान और त्याग की भावना का विकसित होना आवश्यक है सत्याग्रहियों मे अनुशासन दृढ़ करने का सर्वश्रेष्ठ साधन है रचनात्मक कार्यक्रम।

सन् १६२१ मे गांधीजी ने एक प्रतिज्ञापत्र तैयार किया था। इसमें सत्याग्रही स्वयसेवक के लिए आवश्यक अनुशासन का समावेश था। सन् १६३० मे उन्होंने अनुशासन को निश्चित रूप देने के लिए १६ नियम बनाये थे। इस अध्याय के परिशिष्ट में यह प्रतिज्ञापत्र और नियम दिये गये हैं। सन् १६३६ मे गांधीजी ने सत्याग्रही की योग्यता का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार किया था[3]-

१ उसको ईश्वर में जीवित श्रद्धा होनी चाहिए।

२ उसको सत्य और अहिंसा में धार्मिक सिद्धांतों की भांति विश्वास होना चाहिए और इसलिये मनुष्य स्वभाव की उस अच्छाई में श्रद्धा होना चाहिए जिसको वह कष्ट-सहन मे अभिव्यक्त होने वाले अपने सत्य और प्रेम से जागृत करना चाहता है।

३ उसका जीवन पवित्र होना चाहिए और उसे अपने उद्देश्य के लिए अपने जीवन और सम्पत्ति के बलिदान के लिए तैयार रहना चाहिए।[4]

---

१. अहिंसा के आदर्श मे जीव-जन्तुओं के साथ मनुष्य के संबंध का भी समावेश है; लेकिन कांग्रेस के समान राजनैतिक संस्था मे अहिंसा मनुष्यों तक सीमित थी। अहिंसा मे जीव-जन्तुओं के साथ मनुष्य के संबंध को सम्मिलित करने मे ऐसी संस्था की सदस्यता से लाखों मनुष्यों को अलग रखना पड़ता और यह बात समाज में पाशविक शक्ति के स्थान मे प्रेम के नियम को स्थापित करने के प्रयत्न मे विघ्न डालती है। ह०, १५-३-३६, पृ० २८५।

२. ह०, ८-६-४६, पृ० १६६।

३. ह०, २५-३-३६, पृ० ६४।

४. संपत्ति से वंचित होने के लिए तैयार रहने के संबंध मे गांधीजी का रुख अपरिग्रह के आदर्श पर आधारित है। कहा जाता है कि सन् १६२० में गांधीजी को इसमें आपत्ति न थी कि सत्याग्रही सरकार द्वारा जब्त किए

४ उसे अभ्यस्त खादी पहिनने वाला और कातने वाला होना चाहिए।

५ उसे शराब और दूसरे नशों के उपयोग से मुक्त होना चाहिए।

६ उसे समय-समय पर निर्धारित अनुशासन के सब नियमों का हृदय से इच्छापूर्वक पालन करना चाहिए।

७ उसे जेल के नियमों का पालन करना चाहिए, जब तक वह नियम विशेष रूप से उसके आत्म-सम्मान पर प्रहार करने को न बनाए गए हैं।

अनुशासन की पर्याप्तता का चिन्ह यह है कि स्वयंसेवकों में अहिंसा की भावना का विकास हो और उसका प्रभाव स्वयंसेवकों के सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति पर पड़े। अधिकतम उत्तेजना के होते हुए भी सत्याग्रही का संयम दृढ़ रहे और वह अपने स्थान के हिंसक व्यक्तियों को नियन्त्रण में रख सके।[1] उन्हें विधायक कार्यक्रम में पूरे ध्यान के साथ लगना चाहिए। गांधीजी इस बात की आशा नहीं करते थे कि साधारण सत्याग्रही को सत्याग्रह-विज्ञान की पूरी जानकारी हो जाय और उसका सम्पूर्ण आचरण अहिंसा के सिद्धान्तों के अनुसार हो। उनके अनुसार "पूर्ण अहिंसक व्यक्तियों की फौज कभी भी न बन पाएगी। वह उन व्यक्तियों की बनेगी जो ईमानदारी से अहिंसा के अनुसार चलने का प्रयत्न करेंगे।"[2] न गांधीजी इसी बात की आशा करते थे कि साधारण सत्याग्रहियों में सेनापति की तरह साधन-शीलता हो। यह पर्याप्त होगा कि वह वफ़ादारी के साथ सेनापति की आज्ञा का पालन करें।[3]

जाने या बेचे जाने से बचाने के लिए अपनी संपत्ति को हस्तांतरित कर दे। उन्होंने इसको प्रोत्साहन नहीं दिया, लेकिन कष्ट-सहन की मर्यादा-निर्धारण का कार्य सत्याग्रहियों पर छोड़ दिया। सन् १९३७-३८ में उन्होंने कांग्रेस सरकारों द्वारा सत्याग्रहियों की ऐसी ज़मीनों की वापिसी को उचित बतलाया जिनको पिछली सरकार ने अपनी दमन-नीति के अनुसार, बदले की भावना से, अलगन मालूम होने वाले कम दामों में बेच दिया था। लेकिन वह इस बात के विरुद्ध थे कि जब सरकार सत्याग्रहियों के हाथ में आ जाय तो अपनी हानि के लिए हरजाना मांग कर, उन पदों पर पुनर्नियुक्ति का प्रयत्न करके जिनसे वह हटा दिए गए थे और यह दावा करके कि सरकारी नौकरियों में उनको तरजीह मिले वह अपने पुराने बलिदानों का दाम उगाहने का प्रयत्न करें। 'हिस्ट्री ऑव दि कांग्रेस', पृ० २७४; ह० ३-१२-३८, पृ० ३६४।

१. ह०, २४-६-३९, पृ० १७५।

२. ह०, २१-१०-४०, पृ० ३२८।

३. ह०, २५-८-४०, पृ० २६१।

लेकिन उनमें बिना नेताओं की देख-रेख के कार्य करने की क्षमता का विकास होना चाहिए, क्योंकि नेताओं को तो सरकार किसी समय गिरफ्तार करके हटा सकती है। इसीलिए गांधीजी के अनुसार सत्याग्रह में, प्रत्येक सत्याग्रही सिपाही को ज़रा देर में स्वयं अपना नेता और सेनापति बनना पड़ता है।[1]

यह आवश्यक नहीं है कि सत्याग्रही सिपाही को पश्चिमी ढंग की शिक्षा मिली हो। यह शिक्षा बहुत लाभप्रद नहीं होती, क्योंकि वह धन-लिप्सा, शक्ति-प्रियता आदि प्रवृत्तियों को जागृत करके व्यक्ति के लिए त्याग, सेवा और कष्ट-सहन कठिन बना देती है।

प्रचार

नेता, उसके सहकारी और अहिंसक संस्था जनता में सत्याग्रह के आदर्श के प्रचार का प्रयत्न करते हैं।

प्रचार (प्रोपागैंडा) करने का अर्थ है किसी विश्वास, चलन, व्यवहार, या दस्तूर का प्रसार करना या उनको फैलाना। पश्चिम में 'प्रचार' के समानार्थक प्रोपागैंडा शब्द का अर्थ होता है किसी सिद्धांत या चलन, व्यवहार या दस्तूर की उन्नति के लिए सुव्यवस्थित योजना या संगठित आन्दोलन।[2] आधुनिक राज्य में प्रचार वह साधन है जिसका प्रयोग कोई समुदाय जनमत को इस उद्देश्य से अपने नियंत्रण में रखने के लिए करता है कि वह राज्य-शक्ति को प्राप्त कर ले, उसको अपने हाथ में सुरक्षित रख सके और उसका इच्छानुसार प्रयोग कर सके। अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों में और राजनैतिक संघर्षों में प्रचार का उपयोग अपने पक्ष के अनुशासन और आत्म-विश्वास को दृढ़ करने और प्रतिपक्षी के अनुशासन और आत्म-विश्वास को हानि पहुँचाने के लिए होता है। पश्चिम में प्रचार के रूप और साधनों का निर्धारण नीतिविहीन उपयोगितावादी और अवसरवादी दृष्टिकोण से होता है। वहाँ के राजनीतिज्ञ और युद्धवादी उन सभी नैतिक या अनैतिक साधनों के प्रयोग के पक्षपाती हैं जिनसे उद्देश्य सिद्ध हो, अपने पक्ष की शक्ति बढ़े और विरोधी को हानि पहुंचे।

पश्चिम का आधुनिक प्रचारक मनोविज्ञान-विशेषज्ञ, कुशल प्रतीक-निर्माता,

---

१. ह०, २८-७-४०, पृ० २२७।

२. ई० एच० हैन्डर्सन के अनुसार प्रोपागैंडा वह प्रक्रिया है जिसमें समझाने-बुझाने की रीतियों द्वारा इस बात का जान-बूझ कर प्रयत्न किया जाता है कि जिनमें प्रचार होता है वह स्वतन्त्रतापूर्वक सोचने-विचारने के पहले ही प्रचारक के इच्छानुसार व्यवहार करें। देखिए 'जर्नल ऑफ सोशल साइकालोजी', १९४५, १८, पृ० ७१-८७।

प्रभावोत्पादक शब्द-रचना में सिद्धहस्त, और सफल वक्ता होता है और चतुरतापूर्ण सुझावों द्वारा जनसाधारण को धोखे में डालकर उनकी भावनाओं को उत्तेजित करता है और अपनी इच्छानुसार उनसे व्यवहार करवाता है। आधुनिक प्रचार में सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग होता है। शिक्षा और पत्र-पत्रिकाएँ, जुलूस और प्रदर्शन, धोखेबाज़ी और बल-प्रयोग, धन और नौकरियों का लालच, नारों और भाषणकला का जादू, चित्रकला, संगीत और नाट्यकला -- इन सब का प्रचार-कला में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में आजकल प्रोपागैंडा या प्रचार पक्षपात रहित वैज्ञानिक विवेचन से और ठीक सच्चे समाचार से पृथक् समझा जाता है।

प्रचार के मामले में गांधीजी में और पश्चिम के रुख में बुनियादी मतभेद है। वह इस बात के विरुद्ध थे कि जनमत का शोषण हो, या दुरुपयोग हो और उस पर किसी राजनैतिक दल या नेता का अनुचित अधिकार रहे। लेकिन वह सत्य के प्रसार और जनमत को अहिंसा की शिक्षा देने के अर्थ में प्रचार में विश्वास करते थे। सत्याग्रही के लिए यह पर्याप्त नहीं कि वह स्वयं सत्य और अहिंसा के आदर्शों पर चले, उसे दूसरों की भी सहायता करना चाहिए, जिसमें वह इन आदर्शों को समझ सकें और उनके अनुसार रह सकें।

आदर्शवादी दृष्टिकोण से सत्याग्रह या आत्म-शक्ति भौतिक साधनों से परे है और स्वयं-प्रचारित है। जीवन ही आत्मा की भाषा, सत्य और अहिंसा की अभिव्यक्ति है, न कि केवल बोले या लिखे हुए शब्द। जैसा कि गांधीजी ने एक बार कुछ ईसाई पादरियों से कहा था, "जैसे ही जीवन में आध्यात्मिक अभिव्यक्ति होती है, वैसे ही वातावरण प्रभावित होता है। जब मनुष्य सत्य के अनुसार रहता है, तब बोलने की इच्छा नहीं होती। सत्य में शब्दों की अधिकतम मितव्ययता होती है। इस प्रकार जीवन की अपेक्षा अधिक सच्चा या उसके (जीवन के) अतिरिक्त कोई दूसरा प्रचार नहीं है।"[1] "यह मेरा पक्का विश्वास है कि सत्य स्वयं कार्य करता है...यदि हमारे अन्दर सत्य है तो वह उन (जनता) तक बिना प्रयत्न के पहुँच जायगा।"[2]

इसलिए सत्याग्रह का सच्चा आधार है अहिंसक मूल्यों के अनुसार रहना। गाँधीजी ने अपने एक भाषण में एक बार कहा था, "जो मेरे बताए सीधे-सादे सत्यों में विश्वास करते हैं वह उनका प्रचार केवल उनके अनुसार रहकर

---

१. ह०, १२-१२-१६३६, पृ० ३५३।

२. मीरा, 'ग्लीनिग्ज़', पृ० २०।

ही कर सकते हैं।"[1] अहिंसा के सिद्धान्तों के अनुकूल जीवन जनता की प्रत्यक्ष, व्यक्तिगत सेवा का जीवन है; सेवा में कष्ट-सहन अनिवार्य है और सेवा और कष्ट-सहन का अधिकतम प्रभाव तब पड़ता है जब सत्याग्रही उनके बारे में मौन रहता है और उनका विज्ञापन नहीं करता। गांधीजी के शब्दों में, "....... भाषणों और दूसरे दिखावटी कार्यों की अपेक्षा सत्य और प्रेम के मौन कार्य का—जिसका प्रदर्शन नहीं किया जाता—परिणाम कहीं अधिक स्थायी होता है।"[2]

अहिंसक मूल्यों के अनुकूल जीवन का अर्थ है विचार पर नियंत्रण और पूरी तरह नियंत्रित विचार अधिकतम शक्तिशाली होते हैं और कभी व्यर्थ नहीं जाते। "विचार के ऊपर नियंत्रण का अर्थ है अल्पतम शक्ति से अधिकतम कार्य। यदि हममें वह नियंत्रण होता, तो हमें उतना घोर प्रयत्न न करना पड़ता जितना हम करते हैं। अहिंसक कार्य का अर्थ है बहुत मौन कार्य और बहुत ही कम लिखना या बोलना।"[3]

निस्संदेह सत्याग्रह का जितना प्रचार कष्ट-सहन और सेवा में प्रकट होने वाले प्रेम से होता है उतना और किसी साधन से नहीं हो सकता, लेकिन अपूर्ण मनुष्य होने के कारण सत्याग्रही का अपने विचार पर पूर्ण नियन्त्रण नहीं होता। इसलिए वह समाचार-पत्र, भाषण, जुलूस, और इन अन्य सभी उचित साधनों का उपयोग करता है, जिनसे जन-साधारण में सत्याग्रह के प्रचार में सहायता मिले। इन साधनों के प्रयोग में कुछ भी स्वभावतः अनैतिक या अनुचित नहीं है।

लेकिन यद्यपि प्रचार के यह साधारण साधन निर्दोष हैं, पर उनका स्थान सेवा के बाद आता है और सेवा को भुलाकर सब ध्यान इन्हीं साधनों तक सीमित रखना अनुचित है। सन् १९३९ में गांधी-सेवा-संघ के सदस्यों ने गांधीजी की शिक्षाओं को जनता में फैलाने के लिए संगठित प्रचार की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। गांधीजी की राय थी कि सत्याग्रह का प्रदर्शन केवल सत्याग्रही के जीवन से हो सकता है, लेकिन दूसरे साधनों का भी उपयोग हो सकता है। उन्होंने कहा, "आप कह सकते हैं कि कार्यकर्त्ताओं की सहायता के लिए और आलोचकों को उत्तर देने के लिए किताबों और समाचार-पत्रों की आवश्यकता है। ठीक है, जिन सिद्धांतों में मुझे विश्वास है

१. ह०, ५८-३-३६, पृ० ४६।
२. य० इं०, ८-८-१९२६।
३. ह०, १०-६-३६, पृ० १६०।

उनको समझाने के लिए जहाँ तक आवश्यक है मैं लिखता हूँ। लिखिए अगर आप यह महसूस करते हैं कि बिना लिखे आपका काम नहीं चल सकता। लेकिन किताबें न प्रकाशित कर सकने के कारण न तो आपके काम में विघ्न पड़ना चाहिए न जनता का उत्साह घटना चाहिए।"[1]

समाचार-पत्र और प्रचार के दूसरे साधन सत्य और अहिंसा के प्रतिकूल नहीं होना चाहिए और ज़ोर उनकी गति और परिमाण पर नहीं बल्कि उनकी शुद्धता और नैतिकता पर होना चाहिए। उदाहरण के लिए यह गांधीजी का अनुभव था कि पैदल दौरा करना मोटरकार और हवाई जहाज़ों के द्वारा आंधी की रफ्तार से दौरा करने की अपेक्षा बहुत अच्छा प्रचार है। गांधीजी ने देश में बहुत बार प्रचार के लिए दौरा किया था लेकिन इनमें अधिकतम प्रभावोत्पादक और हृदयग्राही थे १९३० के सामूहिक सविनय आज्ञा-भंग के प्रारम्भ में डाँडी की ऐतिहासिक पैदल यात्रा, और सन् १९४७ में गांधीजी का बिना साथियों के अकेले, नंगे, ज़ख्मी पैरों नोआखाली का पैदल दौरा।

भाषण

गांधीजी बहुत अधिक उत्साह को अविश्वास की दृष्टि से देखते थे और उन प्रदर्शनों और नारों को प्रोत्साहन नहीं देते थे जिनमें क्रोध और असहिष्णुता की बू आती हो।[2] सत्याग्रहियों की सभाओं में वह अनुशासन पर, अप्रिय बात के प्रति सहिष्णुता पर और भाषणों के समय श्रोताओं के स्वीकृति या अस्वीकृति के न प्रदर्शित करने पर ज़ोर देते थे।[3]

सत्याग्रहियों के भाषणों में असत्य और अतिशयोक्ति लेशमात्र भी न होना चाहिए और वक्ता को श्रोताओं में क्रोध या घृणा की हिंसक भावनाओं को उत्तेजित करने का प्रयत्न न करना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि सत्याग्रही के भाषण प्रभावहीन होते हैं। सत्य का जादू की तरह असर होता है। सत्य से अधिक प्रभावशाली और कुछ भी नहीं हो सकता। गांधीजी के भाषणों की भाषा में रामायण, महाभारत और बाइबिल की-सी सादगी होती थी। उनमें हिटलर के भाषणों का-सा चीखने, चिल्लाने और नाटकीय ढंग से जनता को भुलावे में डालने के प्रयत्न का सर्वथा अभाव था। लेकिन उनके

१. ह०, २८-३-१९३६. पृ० ४९-५०।

२. जलूसों प्रदर्शनों आदि का प्रबन्ध सत्याग्रहियों को किस प्रकार करना चाहिए इसके सम्बन्ध में गाँधीजी के विस्तृत निर्देशों के लिए देखिए। यं० इं०, भा० १, पृ० ३१४-२६ और ४४२-४४।

३. 'स्पीचेज़', पृ० ४४४-५६ और ५४४-४५।

सादे भाषणों की जनता के हृदय पर गहरी छाप पड़ती थी और उनका जादू का सा असर होता था।[1]

वास्तव में गांधीजी प्रचार के साधनों के अधिकतम लाभपूर्ण उपयोग में सिद्धहस्त थे। उनकी डांडी यात्रा और नोआखाली का दौरा, नमक बनाना, दक्षिण अफ्रीका[2] में परवानों की और भारतवर्ष में विलायती कपड़ों की होली, और हड़तालें[3] इस सम्बन्ध में गांधीजी की प्रभावोत्पादक प्रचार-कुशलता के कुछ प्रमाण हैं। अपनी आत्म-कथा में वह दो भाषणों में भेद करते हैं, एक तो तर्कपूर्ण भाषण था और दूसरे का उद्देश्य था जनता को प्रभावित करना।[4] युद्ध के पहले जब कांग्रेस प्रान्तों में शासन-भार स्वीकार करने वाली थी तो गांधीजी ने यह मत प्रकट किया था कि कांग्रेस के शासन का प्रारंभ किसी ऐसी बात से होना चाहिए जिससे जनता बहुत प्रभावित हो।[5]

भारतीय जनता पर गांधीजी का दृढ़, दीर्घकालीन प्रभाव उनके महान प्रचारक होने का प्रमाण है—प्रचारक पश्चिम में प्रचलित जनमत पर अवैतिक अधिकार स्थापित करने के लिए उसको गुमराह करनेवाले के अर्थ में नहीं, बल्कि जनहित के लिए सत्य का प्रचार करनेवाले के अर्थ में। लगभग तीन

----

१. गांधीजी के एक अंग्रेजी में दिये हुए भाषण का वर्णन करते हुए कृष्णदास लिखते हैं, "मैं नहीं जानता कि उसको वक्तृता कहूं या दैवी शक्ति से पूर्ण, प्रेरित भाषण। प्रत्येक शब्द उनके हृदय के अंतरतम से आता था और जादू का सा काम करता था। इसलिए उनके शब्दों की ध्वनिमात्र श्रोताओं के हृदय को चीरकर प्रविष्ट हो जाती थी। जैसे-जैसे वह गंभीरता से बोलते गए ऐसा मालूम होने लगा कि वह श्रोताओं के ऊपर जादू डाल रहे हों और सब हृदय बेबसी से उनकी ओर खिंच रहे हों। मैंने यह भी देखा कि जब वह बोल रहे थे उनकी आंखें भावनाशून्य थीं और उनके हाथ पैर जरा भी हिलते-डुलते न थे। 'सेविन मथ्स विद महात्मा गांधी', भा० १, पृ० ६१। उनके भाषणों पर अन्य ऐसे ही मतों के लिए देखिए रायवाकर, 'लोर्ड आफ़ गोल्ड' पृ० १२७; पोलक तथा अन्य लेखक, 'महात्मा गांधी', पृ० १४२-४३।

२. 'दक्षिण अफ्रीका', उत्तरार्ध, पृ० ३।

३. हंटर कमेटी के सामने गांधीजी ने अपनी गवाही में कहा था कि हड़ताल सरकार और जनता के मन को प्रभावित करने के लिए थी। यं० इं०, भा० १, पृ० २३।

४. 'आत्म-कथा', भा० ५, पृ० ३६।

५. ह०, ८-१-३८, पृ० ४१२।

दशाब्दियों तक भारतीय राजनीति में उनका प्राधान्य था और वह जनता के सच्चे प्रतिनिधि थे। उन्होंने जनता के दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया, पुराने रिवाजों को हटा दिया, पुराने मापदण्डों को बेकार कर दिया, नए प्रतीकों की रचना की और नए मूल्य समाज के सामने रखे।

प्रचारक की हैसियत से उनके प्रभावशाली होने का कारण यह था कि जिस बात की वह शिक्षा देते थे ठीक उसीके अनुसार आचरण करते थे। लेखों और भाषणों में स्पष्ट प्रकट होनेवाला उनका सत्य और अहिंसा का प्रेम; इस बात की उपेक्षा कि यह प्रेम उन्हें किधर, कितने कष्ट-सहन की ओर ले जायगा; उनका व्यापक आत्म-नियंत्रण; सच्चे सत्याग्रही की अविजित और अजेय दृढ़ता के साथ-साथ उनकी नम्रता; सेवा के उद्देश्य से स्वीकृत उनके अपरिग्रह के अनवरत विकास का और निर्धनों के साथ उनके तादात्म्य का प्रतीक उनका लगभग नंगा शरीर—यह सब व्यक्तिगत जीवन की और प्रचारित सिद्धांतों की असाधारण एकरूपता के प्रदर्शक थे। इस प्रकार उनकी प्रभाव-शक्ति का प्राथमिक कारण था उनके व्यक्तित्व की शक्ति, उनकी आत्म-शक्ति।

समाचार-पत्र

गांधीजी ऐसे समाचार पत्रों के विरुद्ध थे जो लाभ की भावना से रोज़गार की तरह चलाए जाते हैं और जिनके ऊपर पूंजीपतियों और विज्ञापनदाताओं का अधिकार होता है। ऐसे समाचार पत्रों को ध्यान में रखकर ही सन् १६२५ में विद्यार्थियों में भाषण देते हुए उन्होंने समाचार-पत्रों के नशे को 'दयनीय और भयानक' बताया था, क्योंकि "समाचार-पत्रों में मनुष्योचित रुचि का कुछ नहीं होता। उनमें चरित्र-निर्माण में सहायक कोई बात नहीं होती।"[1]

लेकिन ठीक प्रकार से संचालित पत्र सत्याग्रह में प्रबल शस्त्र की तरह काम करता है। दक्षिण अफ्रीका में प्रकाशित अपने पत्र 'इण्डियन ओपिनियन' के बारे में गांधीजी लिखते हैं, "यदि यह अखबार न होता तो सत्याग्रह-संग्राम न चल सकता।"[2] भारतवर्ष के अहिंसक प्रतिरोध के आन्दोलनों में 'यंग इण्डिया' और 'नवजीवन' और बाद में विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित 'हरिजन' का वही गौरवपूर्ण स्थान था जो इण्डियन ओपिनियन का दक्षिण अफ्रीका के संग्रामों में था। यह पत्र गांधीजी के अहिंसक जीवन के निचोड़ और जनता

१. यं० इ०, भा० २, पृ० १२०८।
इग्लैंड के पत्रों की ऐसी ही आलोचना के लिए देखिए 'हिन्दस्वराज्य', पृ० ३६–३७।

२. 'आत्मकथा', भा० ४, अ० १३।

को सत्याग्रह का आंतरिक अर्थ समझाने का साधन थे।[1]

यदि समाचार-पत्रों को सामाजिक जीवन में उचित स्थान प्राप्त करना है तो सेवा उनका एकमात्र उद्देश्य होना चाहिए। उनको जनमत को शिक्षित करना चाहिए और उसको प्रकट करना चाहिए और राजनैतिक और सामाजिक कुरीतियों की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहिए। लेकिन कोई भी समाचार-पत्र तबतक सेवा के आदर्श पर नहीं चल सकता जबतक वह विज्ञापनदाताओं के आश्रय पर अवलंबित रहता है और अपने पृष्ठों को अश्लील विज्ञापनों से भ्रष्ट करता है। इसलिये समाचार-पत्र को स्वावलंबी होना चाहिए क्योंकि यह स्पष्ट प्रमाण है कि उनकी सेवा को समाज वांछनीय समझता है और उसकी कद्र करता है और वह समाज के ऊपर भारस्वरूप नहीं है। यदि समाचार-पत्रों को कुछ लाभ हो तो उसका उपयोग किसी विधायक सार्वजनिक कार्य के लिए करना चाहिए। समाचार-पत्रों को प्रत्येक शब्द सोच विचार कर लिखना चाहिए और असत्य, अतिशयोक्ति और कटुता से बचना चाहिए।[2]

सत्याग्रह की लड़ाई में सरकार समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता पर कड़ी रुकावटें लगा देती है। ऐसी हालत में गांधीजी समाचार-पत्रों को यह राय देते हैं कि या तो वह प्रकाशन बंद करदें या सरकार को चुनौती दें और उसके परिणाम को सहें। पिछले अहिंसक आन्दोलनों में जब सरकार ने सत्याग्रही पक्ष का समर्थन करने वाले सब हिन्दी और अंग्रेज़ी समाचार-पत्रों को दबा दिया तो गांधीजी की राय से सत्याग्रहियों ने जनता के पास अपना सँदेश पहुँचाने के लिए हाथ के लिखे छोटे समाचार-पत्रों का सहारा लिया। जिनको यह समाचार-पत्र मिलते थे वह नक़ल करके उनको दूसरों के पास पहुँचाते थे और इस गुप्तविधि से सत्याग्रहियों का संदेश देश के बहुत बड़े हिस्से में पहुँच जाता था। एक प्रति को बहुत से आदमी पढ़ते थे। यह हस्तलिखित समाचार लोगों के हृदय पर लड़ाई, कष्ट सहने और परिणाम की उपेक्षा करने की गहरी छाप डालते थे। साधारण समाचार-पत्रों की अपेक्षा यह हस्तलिखित पत्र साधारण जनमत को कहीं अधिक प्रभावित करते थे।

जब १६४०—४१ का युद्ध-विरोधी सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ तो यह डर था कि शायद सरकार कांग्रेस के सभी समाचार-पत्र बंद कर दे। गांधीजी ने छपे हुए समाचार-पत्रों के स्थान में मुख द्वारा समाचारों को व्यापक रूप से फैलाने की

१. 'आत्म-कथा', भा० ४, अ० १३ और १४; 'दक्षिण अफ्रीका', पूर्वार्द्ध, अ० १६।

२. 'आत्म-कथा', भा० ४, अ० १३; 'दक्षिण अफ्रीका', पूर्वार्द्ध, अ० १६; यं० इं०, भा० १, पृ० ३, १०३४; यं० इं०, भा० २, पृ० ५—६।

राय दी। उन्होंने लिखा, "हरएक व्यक्ति अपना स्वयं चलता-फिरता अख़बार बन जाय और शुभ संवाद को फैलाए...इसमें विचार यह है कि जो मैंने प्रामाणिक रूप से सुना है उसे अपने पड़ोसी को बताऊँ। इसे कोई भी सरकार दबा नहीं सकती। यह सस्ते-से-सस्ता अख़बार है और सरकार चाहे जितनी चतुर क्यों न हो उसकी बुद्धि की अवज्ञा करता है। इन चलते-फिरते अख़बारों को अपने द्वारा दी हुई ख़बर के बारे में निश्चित होना चाहिए।"[1]

संक्षेप मे, सत्याग्रही प्रचार की शक्ति उसके उच्च नैतिक उद्देश्य की सब को प्रभावित करने की क्षमता में और उसकी नितान्त सत्य-निष्ठा मे है। इस प्रचार के प्राथमिक साधन हैं सेवा और कष्ट-सहन और इसकी प्रभावशीलता का एक कारण यह भी है कि प्रचार के साधारण साधनों, भाषण, लेख इत्यादि की हमारे हृदय पर वह छाप नहीं पड़ती जो उन व्यक्तियों को देखने की पड़ती है, जो किसी आदर्श के अनुसार रहते हैं और उसके लिए कष्ट सहते हैं। कष्ट सहन करने वाला सत्याग्रही बुद्धि को ही नहीं, समग्र मनुष्य को प्रभावित करता है; आदर्श को स्पष्ट, मूर्तिमान और जीवित बना देता है; और मनुष्य में ऐसे स्थाई, हार्दिक विश्वास को उपजाता है जिसका प्रभाव उसके आचरण पर बौद्धिक धारणा की अपेक्षा कहीं अधिक पड़ता है। प्रभाव के प्रश्न के अतिरिक्त प्रचार के साधारण साधन पूँजीपतियों और शोषकों के हाथ में हैं और वर्तमान सामाजिक और आर्थिक संगठन में क्रांतिकारी परिवर्तन के लिए प्रयत्नशील सत्याग्रही उनका पूरा तरह उपयोग नहीं कर सकते। इसके विपरीत सेवा और बलिदान मे ऐसी कोई रुकावट नहीं; वह सबको उपलब्ध हैं।

रचनात्मक कार्य-क्रम

सत्याग्रह के लिए सर्वश्रेष्ठ प्रचार है रचनात्मक कार्य-क्रम। सत्य और प्रेम जीवनदायी हैं और सत्याग्रह के विनाशक मालूम होने वाले पर वास्तव में शुद्धकारी स्वरूप अहिंसक प्रतिरोध का उद्देश्य होता है पुनर्निर्माण के मार्ग की रुकावटों को दूर करना। विधायक कार्यक्रम "आन्तरिक विकास" के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वह सत्य और अहिंसा की मूर्तिमान अभिव्यक्ति है।

रचना और प्रतिरोध

भारत मे अहिंसक पुनर्निर्माण की सुविधा के लिए गांधीजी ने अहिंसात्मक प्रतिरोध द्वारा राजनैतिक दासता दूर करने का सफल प्रयत्न किया। लेकिन उनका मत था कि पुनर्निर्माण के कार्य को राजनैतिक क्रांति की सफलता के समय तक स्थगित न कर देना चाहिए। गांधीजी अराजकता-

१. ह०, १०-११-४०, पृ० ३३४।

वादी थे। वह राज्य-कार्य के परिमाण को अल्पतम कर देना चाहते थे और स्वेच्छा से निर्माण किये हुए समुदायों के द्वारा आंतरिक सुधार में विश्वास करते थे। इसी कारण उनके अनुसार रचनात्मक कार्यक्रम को अहिंसक प्रतिरोध के पहले और बाद में और उसके साथ चलाते रहना चाहिए। सत्याग्रही को चाहिए कि अन्यायपूर्ण पिछड़ी हुई सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध लड़ने के साथ-साथ पुनर्निर्माण का कार्य भी करता रहे।

गांधीजी का विश्वास था कि बिना विधायक कार्य-क्रम पर ज़ोर दिए सत्याग्रह की लड़ाई कई कारणों से असम्भव है। विरोधी से लड़ने के लिए सत्याग्रही को आत्म-शुद्धि द्वारा आंतरिक शक्ति विकसित करना चाहिए। जान-बूझ कर सहयोगपूर्वक किया हुआ सम्मिलित प्रयत्न इस आत्मशुद्धि का साधन है। दूसरों की बुराइयों के विरुद्ध लड़ना और अपनी उन्हीं बुराइयों की ओर से आँख मूंद लेना न तो सत्य है न अहिंसा। इस शुद्धता का अर्थ न तो प्रदर्शन है न राजनैतिक आन्दोलन और जेलयात्रा की उत्तेजना। यह आत्मशुद्धि है शान्तिमय, ठोस कार्य- जनता की प्रत्यक्ष, व्यक्तिगत सेवा, उनके लिए कष्ट-सहन, उनका संगठन, उनको सत्याग्रह की शिक्षा देना और इस प्रकार दृढ़ निश्चय के शांतिमय वातावरण को उत्पन्न करना। संक्षेप में विधायक कार्य-क्रम सेवा द्वारा सामूहिक शुद्धिकारी प्रयत्न है। वह "जन-प्रयास और जन-शिक्षा" है।

यदि पुनर्निर्माण का कठिन, धीमा, परिश्रमपूर्ण कार्य सत्याग्रहियों को बहुत आकर्षणहीन, सूना और तुच्छ मालूम हो, यदि वह केवल विरोधी से युद्ध करने को ही उत्सुक हों, तो प्रतिरोध विनाशक और हिंसापूर्ण होगा, क्योंकि यह स्पष्ट चिन्ह है कि सत्याग्रहियों के हृदयों में हिंसा है और उनमें सेवा और अहिंसा की भावना की कमी है। एक बार गांधीजी ने कहा था "सेवा की भावना के बिना जेल जाने, लाठियाँ और मार खाने का प्रयत्न एक प्रकार की हिंसा है।"[१] सन् १९४१ के एक वक्तव्य में उन्होंने लिखा था, "बिना विधायक कार्यक्रम की सहायता के सविनय आज्ञा-भंग अपराधयुक्त है और निष्फल प्रयत्न है।"[२] सन् १९४२ में उन्होंने लिखा था, "जिसको रचनात्मक कार्यक्रम में विश्वास नहीं है उसको मेरी राय में भूखी जनता के लिए समूर्त्त सहानुभूति नहीं है। जिसमें यह भावना नहीं है वह अहिंसक रीति से युद्ध नहीं कर सकता।"[३] वास्तव में गांधीजी राजनैतिक कार्य की अपेक्षा रचनात्मक कार्य

१. ह०, २५-३-३६, पृ० ६७।
२. गाँधीजी का ३०-१०-४१ का वक्तव्य।
३. ह०, १२-४-४२, पृ० ११२।

को बहुत अधिक महत्त्व देते थे। सन् १९३१ में उन्होंने लिखा था, "..मेरा समाज-सुधार का कार्य किसी प्रकार भी राजनैतिक कार्य के अधीन या उसकी अपेक्षा कम (महत्त्व का) नहीं था। बात यह है कि जब मैंने देखा कि राजनैतिक कार्य की सहायता के बिना मेरा सामाजिक कार्य कुछ अंश में असम्भव होगा तब मैंने उसको (राजनैतिक कार्य को) उस हद तक अपनाया जहाँ तक वह सामाजिक कार्य की सहायता करता था। इसलिए मुझे स्वीकार करना चाहिए कि...समाज-सुधार या आत्मशुद्धि का कार्य मुझे उस कार्य से जिसे केवल राजनैतिक कहा जाता है सौ-गुना अधिक प्रिय है।"[1]

विधायक कार्यक्रम के प्रभाव के बारे में गांधीजी ने लिखा था, "वह हमको शांत और निश्चल करेगा। वह हमारी संगठन-शक्ति को जाग्रत करेगा, वह हमें परिश्रमी बनाएगा। वह हमको स्वराज्य के योग्य बनावेगा, वह हमारे रक्त को ठंडा करेगा।"[2] इस प्रकार विधायक कार्यक्रम नये सत्याग्रही रंगरूट को अनुशासनपूर्ण सिपाही बना देगा। वह सत्याग्रहियों की सचाई की अचूक परख है और अवसरवादियों और दुर्बलों का निराकरण कर देता है।

सत्याग्रह की लड़ाई में सफलता तबतक असंभव है जबतक सत्याग्रहियों को जनता का सच्चा सहयोग और उनके ऊपर ऐसा नियंत्रण प्राप्त न हो जाय जिससे कि जनता हिंसा से अलग रहे। इस नियंत्रण को प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग है जनता के हृदय को जीतना और उनके साथ जीवित सम्पर्क स्थापित करना। यह तभी सम्भव है जब कि सत्याग्रही उनके (जनसाधारण) लिए, उनके द्वारा और उनके बीच मे, उनके संरक्षकों की तरह नहीं, उनके सेवकों की तरह काम करें।[3] जैसा कि गांधीजी ने सन् १९३० ई० मे कहा था, विधायक कार्यक्रम जनता को और उनके नेताओं को साथ-साथ लाएगा और जनता नेताओं में पूरी तरह विश्वास करना सीखेगी। लगातार विधायक कार्यक्रम चलाने से उत्पन्न विश्वास संकट के समय अनमोल सम्पत्ति है।[4] रचनात्मक कार्य केवल सत्याग्रही की सचाई का प्रमाण ही नहीं है बल्कि वह जनता को सत्याग्रही की योग्यता का अन्त करने और उनकी स्थिति को सुधारने की क्षमता भी दिखलाता है और यह बात केवल भाषणों या लेखों से नहीं हो सकती। विधायक कार्यक्रम विरोधी को सत्याग्रही के

---

१ यं० इं०, ६-८-३१, पृ० २०३।

२. यं० इं०, भा० १, पृ० ४०४।

३. यं० इं०, भा० ३, पृ० ७८।

४. यं० इं०, १-१-१९३०।

अहिंसक इरादे का विश्वास दिखाता है। "इसलिए सत्याग्रही सेना के लिए रचनात्मक कार्यक्रम वैसा ही है जैसे कवायद इत्यादि हिंसक युद्ध के लिए तैयार की हुई सेना के लिए।"[1] "जैसे फौजी शिक्षा सशस्त्र विद्रोह के लिए आवश्यक है ठीक वैसे ही रचनात्मक प्रयत्न में शिक्षा सविनय प्रतिरोध के लिए उतनी ही आवश्यक है।"[2]

दक्षिण अफ्रीका की सबसे पहली सत्याग्रही लड़ाई के समय भी गांधीजी ने आंतरिक सुधार सम्बन्धी रचनात्मक कार्य पर ज़ोर दिया था।[3] सन् १९२० ई० में गांधीजी ने रचनात्मक कार्यक्रम कांग्रेस के द्वारा भारतवर्ष के सामने रक्खा था। उस समय से कार्यक्रम की आवश्यकता और प्रभावोत्पादकता में उनकी श्रद्धा बढ़ती गई और इस बात पर उनका अनुरोध ज्यादा होता गया कि संग्राम के पहले नैतिक शक्ति को विकसित करने के लिए और अनुशासन को दृढ़ करने के लिए और संग्राम के बाद सुसंगठित होने के लिए और जीत के नशे से या हार की उदासी से बचने लिए विधायक कार्यक्रम सत्याग्रही के लिए आवश्यक है।

गांधीजी ने सन् १९३० में लिखा था, "विधायक कार्यक्रम किसी विशेष प्रकार के अन्याय को दूर करने के लिए की गई स्थानीय सविनय अवज्ञा के लिए जैसा कि बारदोली का मामला था आवश्यक नहीं है। स्थानविशेष में सीमित निश्चित सामान्य शिकायत (स्थानीय सविनय अवज्ञा के लिए) काफी है; लेकिन स्वराज्य ऐसी अनिश्चित बात के लिए लोगों को अखिल-भारत के हित के कार्य करने में पहले से शिक्षा मिलना आवश्यक है।"[4] लेकिन जैसा कि आर० बी० ग्रेग ने लिखा है, "बारदोली के मामले में भी गांधीजी ने सफलता का बहुत बड़ा कारण यह बताया था कि बारदोली सत्याग्रह के छः-सात साल पहले से वहां सामाजिक और आर्थिक सुधार का विधायक कार्यक्रम चलता रहा था।"[5]

युद्धकारी (प्रतिरोध सम्बन्धी) और विधायक कार्य सत्याग्रह के निषेधात्मक और भावात्मक रूप हैं और इनमें से प्रत्येक दूसरे के लिए अनिवार्य है। प्रतिरोध के अहिंसक रहने के लिए यह आवश्यक है कि वह विधायक कार्यक्रम पर आश्रित हो और उसके परिणामस्वरूप इस कार्यक्रम

---

१. यं० इं०, ९-१-१९३०।

२. २१-१०-'४४ का गांधीजी का वक्तव्य।

३. 'साउथ अफ्रीका', पृ० ७६-७७।

४. यं० इं०, १-१-१९३१।

५. 'दि पावर आफ नान्वायोलेंस', पृ० १०६।

को प्रोत्साहन मिले। दूसरी ओर इस अपूर्ण संसार में पुनर्रचना में कभी-कभी अड़चनें पड़ेंगी और उन्हें दूर करने के लिए प्रतिरोध अनिवार्य हो जायगा। लेकिन प्रतिरोध की अपेक्षा विधायक कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रतिरोध के विपरीत विधायक कार्यक्रम मे अनुचित दबाव, हिंसा और पाखंड की गुंजाइश नहीं है।[1] विधायक कार्य प्रतिरोध की तरह विरोधी में हिंसक भावनाओं को उत्तेजित नहीं करता। इसके अतिरिक्त परतन्त्र देशों मे जितना अधिक विधायक अहिंसा का अभ्यास किया जावेगा उतनी ही कम स्वतन्त्रता प्राप्ति के उद्देश्य से सविनय अवज्ञा की आवश्यकता पड़ेगी।[2] गांधीजी इस कार्यक्रम को निश्चित रूप से, बुद्धिमानी से और स्वेच्छा से अपनाने को स्वतन्त्रता के सार की प्राप्ति कहते थे, और उनका विश्वास था कि इसके बाद राजनैतिक शक्ति जनता के हाथ मे आ जायगी।[3] इसी कारण वह विधायक कार्यक्रम को "अहिंसात्मक प्रयत्न का स्थायी अंश", "अहिंसा के सक्रिय सिद्धांत की प्रतिमूर्ति" और "पूर्ण स्वराज्य की रचना" कहते थे।[4]

ऊपर तीसरे अध्याय में हम यह बता चुके हैं कि किस प्रकार गांधीजी के अनुसार वीरों की अहिंसा वास्तविक जनतन्त्र के लिए आवश्यक है। गांधीजी की जनतन्त्र की परिभाषा है, "सर्वजनहित की सेवा में जनता के सब अंशों के समग्र शारीरिक, आर्थिक और आध्यात्मिक साधनों को कारगर बनाने की कला और उसका विज्ञान।"[5] इस प्रकार विधायक कार्य-क्रम आदर्श जनतन्त्र की कार्य-पद्धति है।

जहाँ तक इस कार्य-क्रम में सम्मिलित कार्यों का सम्बन्ध है यह ध्यान रखना चाहिए कि गांधीजी की धारणा का रचनात्मक कार्य-क्रम अहिंसक

१. ह०, १-६-३५, पृ० १२३।

२. य० इ०, भा० २, पृ० ४४७; ह०, २-१-३७, पृ० ३७६।

३. 'स्पीचेज़', पृ० १४३। २७ अक्तूबर सन् १९४४ के एक वक्तव्य में गांधीजी कहते हैं, "रचनात्मक कार्यक्रम पूर्ण स्वराज्य को जीतने का अहिंसक और सच्चा मार्ग है। इसको समग्रता में पूरा करना पूर्ण स्वतन्त्रता है। आधार में राष्ट्र की रचना करने के लिए समग्र विधायक कार्यक्रम मे लगे हुए ४० करोड़ मनुष्यों की कल्पना कीजिए। क्या कोई इस बात का विरोध कर सकता है कि उसका अर्थ होगा पूरे अर्थ मे सम्पूर्ण स्वतन्त्रता जिसमे विदशी आधिपत्य का हटाना सम्मिलित होगा?"

४. ह०, १८-५-४०, पृ० १२९ और ३-६-३९, पृ० १४७; 'कन्स्ट्रक्टिव प्रोग्राम', पृ० १।

५. ह०, २७-५-३९, पृ० १४३।

राज्य की व्यवस्था के विकास का ढाँचा है। यह वर्तमान सामाजिक सङ्गठन के इस प्रकार पुनर्निर्माण का प्रयत्न है कि शोषण और अन्याय दूर हो जायं और राष्ट्र की सृजन-शक्ति और संस्कृति स्वेच्छा से सादगी और अकृत्रिमता को अपनाने से जाग्रत और परिष्कृत हो जायँ। अहिंसक जीवन का अनिवार्य रूप से अर्थ है विकेन्द्रित घरेलू धन्धे और स्वावलम्बी स्वयं-संचालित सत्याग्रही ग्राम्य समाज।

कार्य-क्रम की पद्धति व्यक्तिवादी है। गांधीजी का विश्वास है कि समग्र देश में क्रांति को सफल बनाने के लिए सत्याग्रही को चाहिए कि वह अपने प्रयत्न को किसी स्थानविशेष से किसी गाँव या क़स्बे में और वहाँ भी कुछ विशेष व्यक्तियों में केन्द्रित करे। व्यष्टि या व्यक्ति एक निश्चित, जीवित, समूर्ति सत्ता है, जबकि समष्टि अदृश्य, अनिश्चित कल्पना है। व्यक्ति के सुधार के परिणामस्वरूप समष्टि भी सुधर जायगा। यदि गाँव के कुछ आदमी सत्याग्रही के दृष्टान्त से प्रभावित हो जायँ और जीवन के अहिंसक मार्ग को अपना लें तो उस स्थान का पुनर्निर्माण सुगम हो जायगा। इसी प्रकार यदि कुछ गाँवों की समस्याएँ सुलझ जाएँ और उनमें सहयोग की भावना दृढ़ हो जाय तो पूरा ज़िला आसानी से सुधर जायगा और इसी प्रकार यह प्रक्रिया बढ़ती चलेगी। गांधीजी ने सेवाग्राम को इसी प्रकार के तर्क के कारण अपना निवास-स्थान बनाया था। उनकी राय थी कि "रचनात्मक कार्य के साथ पूरा न्याय करने के लिए उसे उसकी उपयोगिता के अनुसार महत्व देना चाहिए और राजनैतिक कार्य का परिशिष्ट न बना देना चाहिये।"[1]

भारतवर्ष का विधायक कार्य-क्रम आवश्यक रूप से ग्राम-कार्य है। गांधीजी इस कार्य-क्रम में १८ बातों को सम्मिलित करते थे और यह वे बातें हैं जो राष्ट्र की पूर्ण स्वतंत्रता के लिए अनिवार्य हैं। वे बातें निम्नलिखित हैं:—

१ साम्प्रदायिक एकता;
२ अस्पृश्यता-निवारण;
३ मद्य-निषेध;
४ खादी;
५ दूसरे ग्रामोद्योग;
६ गाँव की सफाई;
७ नई या बुनियादी तालीम;
८ प्रौढ़-शिक्षा;
९ आदिवासियों की सेवा;

१. 'चरखा संघ का नवसंस्करण', पृ० १०५।

१० स्त्रियों की उन्नति;

११ स्वास्थ्य और सफाई की शिक्षा;

१२ राष्ट्र-भाषा का प्रचार;

१३ स्वभाषा-प्रेम;

१४ आर्थिक समानता के लिए प्रयत्न;

१५—१७ किसानों, मजदूरों और विद्यार्थियों का संगठन; और

१८ प्राकृतिक चिकित्सा।

कार्य-क्रम का आर्थिक भाग

इनमें से गांधीजी आर्थिक भाग को विशेषकर खादी को अधिकतम महत्त्व देते थे। वह आर्थिक प्रश्नों पर मनुष्य की नैतिक भलाई के दृष्टि-कोण से विचार करते थे। उनका आर्थिक दृष्टि-कोण अपरिग्रह, अस्तेय, शरीर-श्रम और स्वदेशी के आदर्शों से निर्धारित हुआ था। आर्थिक समता का आदर्श उनको बहुत प्रिय था क्योंकि विलासिता और भुखमरी का एक साथ अस्तित्व शोषण और जीवन की निष्फलता का द्योतक है और धनी और निर्धन दोनों के लिये आध्यात्मिक एकता की अनुभूति कठिन कर देता है। गांधीजी के अनुसार आर्थिक समता के लिये कार्य करना अहिंसक स्वतंत्रता की श्रेष्ठ कुंजी है क्योंकि अहिंसक राज्य तबतक असम्भव है जबतक गरीबों-अमीरों के बीच की गहरी खाई पाट नहीं दी जाती और उनका संघर्ष समाप्त नहीं हो जाता।[1] आर्थिक समता से गांधीजी का अर्थ पूर्ण समता की स्थिति नहीं बल्कि लगभग समता की स्थिति है। "आर्थिक समता का यह अर्थ कभी नहीं समझना चाहिये कि हर एक व्यक्ति के पास बराबर परिमाण में सांसारिक वस्तुएँ हों; लेकिन उसका यह अर्थ है कि हरएक के पास रहने को ठीक मकान हो, खाने को काफ़ी युक्त आहार हो और शरीर ढकने को काफ़ी खादी हो। उसका यह भी अर्थ है कि आज की निर्दय असमता शुद्ध अहिंसक साधनों से हटा दी जायगी।"[2]

सन् १९४७ में गांधीजी ने यह मत प्रकट किया था कि यदि भारत को आदर्श देश बनना है तो ईमानदारी से दिन भर काम करने वालों की आय चाहे वह भंगी हों, चाहे वकील, या डाक्टर, या अन्य धन्धे वाले—बराबर होनी चाहिए। जबतक समता की यह स्थिति सम्भव न हो तबतक आय के उच्चतम

१. 'कांस्ट्रक्टिव प्रोग्राम' पृ० १८।

२. ह०, १८-८-४०, पृ० २५३।

और निम्नतम स्तरों के अन्तर को कम करने का प्रयत्न करना चाहिए।[1]

समाज को समता के आदर्श की ओर ले जाने के लिए सत्याग्रही अहिंसक साधनों द्वारा जनता का मत-परिवर्तन करेगा। इसके लिए वह अपने जीवन से प्रारम्भ करेगा और अधिकतम निर्धन व्यक्ति के आर्थिक स्तर को स्वेच्छा से स्वीकार करेगा। सत्याग्रही के व्यक्तिगत उदाहरण के अतिरिक्त गांधीजी धन-बाहुल्य और निर्धनता दोनों को हटाने के पक्ष में थे। धन-बाहुल्य को दूर करने के लिए वह यथासंभव कानून द्वारा सम्पत्ति ज़ब्त करना या स्वामित्व का अधिकार छीनना नहीं चाहते थे। धनिकों को आर्थिक समता के आदर्श को अपनाने को और सम्पत्ति का ट्रस्टी या संरक्षक की हैसियत से निर्धनों के लाभ के लिए उपयोग करने को तैयार करने के लिए गांधीजी समझाने-बुझाने, शिक्षा, अहिंसक असहयोग और दूसरे अहिंसक साधनों के प्रयोग के पक्ष में थे।

गांधीजी के अनुसार आर्थिक समता के सिद्धांत के मूल में धनिकों के, उनकी अनावश्यक सम्पत्ति के सम्बन्ध में, संरक्षण (ट्रस्टीशिप) की धारणा है। संरक्षण की पद्धति का एकमात्र विकल्प है हिंसा। लेकिन हिंसा का प्रयोग समाज को लाभ के स्थान पर हानि पहुँचावेगा; क्योंकि समाज उन मनुष्यों की - जो धन-संचय करना चाहते हैं—क्षमता को खो देगा। अहिंसक असहयोग धनिकों से संरक्षण के आदर्श अनुसार व्यवहार कराने का कारगर साधन है, क्योंकि "धनी समाज में निर्धनों के सहयोग के बिना धन-संचय नहीं कर सकता। यदि इस बात का ज्ञान निर्धनों तक पहुँच जाय और उनमें फैल जाय तो वह शक्तिवान हो जायेंगे और यह जान जायेंगे कि किस प्रकार अपने को अहिंसा के द्वारा उन पीस देने वाली असमताओं से मुक्त करें जिन्होंने उन्हें भुखमरी की सीमा तक पहुँचा दिया है।[2]

जनता की दरिद्रता और बेकारी को दूर करने का उनका उपाय था खादी और दूसरे ग्राम उद्योगों का पुनरोद्धार—अन्य ग्रामोद्योग भी खादी का विस्तार हैं। खादी को गांधीजी अपने दो श्रेष्ठतम कार्यों में से एक मानते थे। इनमें से दूसरा हरिजन कार्य है।[3] खादी हिंसापूर्ण सम्पत्तिहरण का अधिकतम कारगर स्थानापन्न है।[4] उनके खादी-प्रेम का प्रमुख कारण उनके नैतिक सिद्धान्त हैं।

१. ह०, १६-३-४७, पृ० ६७; २३-३-४७, पृ० ७८; १०-८-४७, पृ० २७४।
२. ह०, २५-८-४०, पृ० २६०।
३. बिड़ला, 'बापू', पृ० १६।
४. ह०, २-१-३७, पृ० ३७५।

उनके अनुसार केन्द्रित उत्पादन और बड़ी मशीनें अहिंसा के विरुद्ध हैं। बड़े पैमाने पर उत्पादन प्रकृति और मनुष्य का शोषण है और यह अहिंसा का निषेध है। समझ-बूझकर घरेलू धन्धों को अपनाना विश्व-शान्ति की ओर महत्त्वपूर्ण कदम है, क्योंकि कच्चे माल की प्राप्ति और बने माल की खपत के लिए पिछड़े देशों और बड़े बाज़ारों पर अधिकार पर ही पनप सकने वाला बड़े पैमाने पर उत्पादन आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय होड़, साम्राज्यवादी शोषण और युद्धों का प्रमुख कारण है।

राष्ट्रीय मामलों में केन्द्रित उत्पादन लोकतंत्र को दोषपूर्ण बना देता है। क्योंकि उसका परिणाम होता है आर्थिक शक्ति और उसी परिमाण में राजनैतिक शक्ति का केन्द्रीकरण और इस शक्ति के दुरुपयोग की और स्वतन्त्रता के अपहरण की निरन्तर संभावना।

केन्द्रित उत्पादन मज़दूरों की नैतिकता और चरित्र को हानि पहुँचाता है। वह उनको गाँवों के घरेलू वातावरण की शुद्धता और स्वाभाविकता से हटाकर वेतनभोगी कर्मचारी बना देता है। वह अपना व्यक्ति-स्वातंत्र्य और आत्म-सम्मान खो बैठते हैं; उनकी सृजन-शक्ति, जिसके लिए घरेलू उद्योगों के प्रतिकूल केन्द्रित उत्पादन में गुंजाइश नहीं, कुंठित हो जाती है; और वह मिलों की बड़ी मशीनों के पुर्ज़े से हो जाते हैं।

बड़े पैमाने पर उत्पादन प्रकृति-विरोधी भी है। खनिज कोयला और तेल जिनके द्वारा बड़े कल-कारखाने चलते हैं मनुष्य जाति का संरक्षित शक्ति-संचय है। इस संचय के क्रमशः ह्रास और इसके बढ़ते हुए दामों के कारण कुछ विचारक इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि संसार की शक्ति के आय-व्यय को संतुलित रखने के लिए यह आवश्यक है कि उत्पादन घरेलू धन्धों के द्वारा हो। बड़ी-बड़ी मशीनों के विपरीत घरेलू धन्धों का आधार होता है मनुष्य का शरीर-श्रम अर्थात् पौधों और शाकपात से—जो पृथ्वी के तल पर शक्ति-प्राप्ति का चालू स्रोत है - प्राप्त शक्ति।[1] इसके अतिरिक्त उद्योगीकरण के लिए घरेलू धन्धों की अपेक्षा कहीं अधिक पूँजी की आवश्यकता है; और बाज़ारों के सीमित होने के कारण और मुनाफ़े को बढ़ाने के लिए अपेक्षाकृत कम श्रम से चलने वाली मशीनों के लगातार आविष्कार के कारण उद्योगीकरण से बेकारी घटने के स्थान में बढ़ती रहती है। इन दोषों के कारण गांधीजी

---

१. आर० बी० ग्रेग 'एकनामिक्स ऑव खद्दर', अ० १ और २; लुई मम्फोर्ड, 'टेकनिक्स ऐंड सिविलिज़ेशन', पृ० १५६–५८।

औद्योगीकरण को मानवता के लिए श्राप और औद्योगिक सभ्यता को अशुभ और एक रोग बताते थे ।[1]

विकेंद्रित आर्थिक संगठन और घरेलू उद्योग धंधे इन सब बातों में बड़ी मशीनों और केंद्रित उत्पादन से श्रेष्ठ हैं। घरेलू उद्योग-धन्धे धन का लगभग समान और न्यायोचित वितरण करते हैं और बेकारी, नैतिक अवनति, पूँजी-पतियों और विशेषज्ञों द्वारा शोषण, शहरों की वृद्धि और केंद्रित उत्पादनों से संबंधित दूसरे दुर्गुणों को रोकते हैं।[2] उत्पादन और वितरण को विकेन्द्रित करने से आर्थिक जीवन बहुत कुछ स्वयं-संचालित हो जाता है और धोखे-बाज़ी और सट्टे की गुंजाइश नहीं रहती।[3] घरेलू धंधों का अर्थ है कामगार के निवासस्थान के स्वाभाविक वातावरण में हितकारी कार्य और उससे सम्बन्धित अनेक शारीरिक, आर्थिक, नैतिक और अन्य लाभ। यह धन्धे घरेलू जीवन की एकता और शुद्धता और कामगारों की कला, चतुरता, सृजन-शक्ति और उनकी स्वतंत्रता, और सम्मान की भावना की रक्षा करते हैं। घरेलू धंधों पर आश्रित संस्कृति से सादगी और गाँवों की महत्ता बढ़ती है। जान बूझकर घरेलू धन्धों को अपनाने से गाँवों और देश में आर्थिक स्वावलंबन आएगा और जनता में सब प्रकार के अन्याय और अत्याचार का बहादुरी से सामना करने की नैतिक शक्ति का विकास होगा।

चर्खा-संघ के आंकड़ों से विशेष रूप से भारत के केन्द्रित वस्त्र-व्यवसाय और चर्खा-संघ की पूंजी की, दोनों के कामगारों की संख्या की और मज़दूरी की, और दोनों प्रकार के बने हुए माल के मूल्य की तुलना से यह स्पष्ट है कि आर्थिक दृष्टिकोण से विदेशी सरकार के समय में भी खादी का देश के आर्थिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान था और उसे सफल धन्धा कहा जा सकता

---

१. य० इं०, भा० २, पृ० ११८७; १२-११-३१, पृ० ३५५।

२. यह हिसाब लगाया गया है कि भारतवर्ष के सूती कपड़े के कारखानों में बिके माल का प्रतिशत २२ मजूरी का भाग होता है। खादी में इस भाग का तख़मीना ६० से ६६ प्रतिशत तक किया गया है। देखिए ऊपर उद्धरित 'गांधीजी हिज़ लाइफ ऐंड वर्क', पृ० २१४ और 'खादी जगत', फरवरी १९४७, पृ० ३३। हमारे देश के केन्द्रित वस्त्र व्यवसाय में कुछ वर्ष पूर्व ५० करोड़ रुपये की पूंजी लगी थी। इस व्यवसाय ने सन् १९४० से १९४६ तक १४९ करोड़ का मुनाफा उठाया। एजेंटों का कमीशन, व्यापारियों का मुनाफ़ा, छिपा कर लिया गया नफ़ा यह सब इस मुनाफ़े के अलावा है। खादी में इस मुनाफे का प्रश्न ही नहीं उठता।

३. ह०, २-११-३४, पृ० ३०२।

था।[1] निस्सन्देह खादी का दाम ख़रीदार को मिल के कपड़े से महँगा पड़ता है; लेकिन गांधीजी के सिद्धान्तों के अनुसार चर्खा-संघ की नीति है कि खादी पहनने वालों को स्वावलम्बी बनाया जाय और वह अपने काते हुए सूत का ही कपड़ा बनवा कर पहनें। धैर्य के साथ वैज्ञानिक अनुसन्धानों द्वारा खादी के औज़ारों के सुधार से खादी के उत्पादन में बहुत उन्नति हो सकती है।

भोजन के बाद वस्त्र अधिकतम सार्वभौम आवश्यकता है। इसलिए गांधीजी का मत था कि कि खादी का देश के संगठन में वही स्थान है जो मानव शरीर में फेफड़े का। खादी एक फेफड़ा है, कृषि दूसरा।[2] हमारे खेतिहर देश में किसान कुछ दिन बेकार रहता है। इस बेकारी को दूर करने का साधन खादी और दूसरे घरेलू धन्धे हैं। गांधीजी खादी को गाँव के आर्थिक जीवन के सौर मण्डल का सूर्य बताते थे और दूसरे घरेलू धन्धों की ग्रहों से तुलना करते थे।[3] खेती सूर्य नहीं है और ग्रहों में से एक है क्योंकि खेती का नियन्त्रण सरकारी क़ानून-कायदों से होता है। इसके अलावा अपने वर्तमान रूप में केवल खेती उस परिमाण में नैतिक और मानसिक विकास का साधन नहीं हो सकती जिसमें खादी और दूसरे घरेलू धन्धे, जिनमें चतुरता और बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है।[4] खादी की उन्नति का अर्थ है संसार के इतिहास में स्वेच्छा पर आधारित अधिकतम सहयोग। खादी का अर्थ है जन-प्रयास और जन-नियन्त्रण पर आधारित उत्पादन-प्रणाली।

गांधीजी के अनुसार चर्खा पूर्ण जीवन का तत्त्व-दर्शन और अहिंसा का जीवित प्रतीक भी है।[5] अहिंसा की अभिव्यक्ति जनता की स्वार्थरहित

१. देश भर में खादी की उत्पत्ति का अन्दाज़ लगाने के साधन अप्राप्य हैं। अखिल भारत चर्खा-संघ का जो वार्षिक हिसाब प्रकाशित होता है उससे कई गुना कार्य संघ के बाहर होता है। इस बाहर के कार्य में, जिसके आंकड़े उपलब्ध नहीं, परम्परागत स्वयं कते सूत की मोटी खादी और अप्रमाणित खादी सम्मिलित है। सन् १९४६ में चर्खा-संघ की पूंजी २५ लाख थी और पिछले २५ वर्षों में वह भारत के २५ हजार गाँवों के साढ़े चार लाख कत्तिनों और बुनकरों को सात करोड़ से अधिक रुपया मजदूरी के रूप में दे चुका था। ह०, २५-८-४६, २७७।

२. उनका १७-६-१४ का वक्तव्य।

३. यं० इं०, भा० ३, पृ० ८४।

४. 'न्यू होराइज़न्स इन खादी वर्क' शीर्षक प्यारेलाल का वक्तव्य, २८-३-१९४५।

५. 'चर्खा संघ परिपत्र', १ (५-१२-४४), पृ० २।

सेवा के कार्यों द्वारा होना चाहिए। गांधीजी चर्खे को उसकी अभिव्यक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन मानते थे।[1] वह निर्धनों के उत्थान के लिए धनिकों की उत्सुकता का द्योतक है। चर्खा और अहिंसा एक दूसरे तर्क से भी संलग्न हैं। सन् १९२० से चर्खा भारतवर्ष की आज़ादी की अहिंसात्मक लड़ाई से संबद्ध रहा है और विधायक कार्यक्रम में उसका गौरवपूर्ण स्थान रहा है।[2] इस प्रकार चर्खा नवीन सत्याग्रही संस्कृति का प्रतीक बन गया है।

यह समझना भूल होगी कि गांधीजी का खादी का संदेश समस्त संसार के लिए नहीं केवल भारत की निर्धन जनता के लिए था। सन् १९३४ में उन्होंने लिखा था, "मुझे इस बात में विश्वास नहीं है कि औद्योगीकरण किसी भी देश के लिये किसी भी दशा में आवश्यक है। मैं समझता हूँ कि उसका (चर्खे का) सन्देश अमेरिका और समस्त संसार के लिये है।" उनको आशा थी कि जब पश्चिम के निवासी उसको स्वीकार करेंगे तो वह चरखे की घरेलू धन्धों की आवश्यक विशेषताओं की रक्षा करके उसको एक अधिक उत्तम साधन बनाने में अपनी अतुलनीय आविष्कार-क्षमता का प्रयोग करेंगे।[3]

सत्याग्रही अनुशासन में विधायक कार्यक्रम के अन्य भागों की अपेक्षा खादी पर गांधीजी के अधिक ज़ोर देने का कारण यह है कि "इस कार्य में लाखों व्यक्ति भाग ले सकते हैं और उन्नति की माप अंकों में हो सकती है। साम्प्रदायिकता और अस्पृश्यता-निवारण की इस तरह माप नहीं हो सकती। यदि वह एक बार हमारे जीवन का अङ्ग बन जाय, तो हमें व्यक्तिगत रूप में उनके बारे में कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं रहती।"[4]

सन् १९४४ में गांधीजी की प्रेरणा से चर्खा-संघ की नीति का नव-संस्कार हुआ। अगस्त सन् १९४२ की राजनैतिक उथल-पुथल से चर्खा संघ को गहरा धक्का लगा था। सरकार ने चर्खा संघ पर कठोर दमनकारी प्रहार किये थे और संघ का बहुत-सा काम तितर-बितर हो गया था।[5] गांधीजी की सिफ़ारिश पर चर्खा-संघ के ट्रस्टियों ने खादीकार्य को व्यापक और गहरा बनाने के लिए नई नीति को अपनाया। इस नीति का उद्देश्य है इस बात का प्रदर्शन कि किस प्रकार चर्खा अहिंसात्मक समाज-संगठन का आधार बनाया

१. ह०, ६–५–३६, पृ० ११३।
२. ह०, २७–५–३६, पृ० १३७ और २८–१–३६, पृ० ४४६।
३. ह०, १-६-४६ पृ० २८५; १७-११-४६, पृ० ३०४, यं० इ० १७-६-२५।
४. ह०, १८–८–४०, पृ० २५२।
५. 'संघ का कार्य-विवरण', १९४२–४४, पृ० १।

जा सकता है। नई नीति के अनुसार कपड़ा बनाने के लिए और निर्धनता और बेकारी दूर करने के लिए व्यवसायिक खादी का संगठन संघ का उद्देश्य नहीं रह गया है। अब संघ का उद्देश्य है जनता में स्वावलंबन और अहिंसक गुणों का विकास और शोषण और अन्याय से मुक्त अहिंसक समाज-व्यवस्था की नींव डालना।[1]

स्वावलंबन के विकास के लिए विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। पिछले अहिंसक आन्दोलनों का अनुभव इस बात का प्रमाण है कि जितना कम विकेन्द्रित प्रतिरोधकारी या विधायक अहिंसक संगठन होगा उसी अनुपात में सरकार के लिए उसको पंगु बना देना आसान होगा। गांधीजी चाहते थे कि अहिंसक संस्थाएँ सरकार की दया के सहारे जीवित न रहें, स्वावलंबी हों। वह खादी का उत्पादन इतने पूर्ण रूप से विकेन्द्रित कर देना चाहते थे कि प्रत्येक खादी पहननेवाला ज़रूर सूत काते और खादी के उत्पादन में लगे हुए सभी व्यक्ति खादी पहनें। वह यह भी चाहते थे कि कताई समझ-बूझकर की जाय। समझ-बूझकर कातने का, उनके अनुसार, अर्थ है चर्खे और अहिंसा के आंतरिक संबंध को समझना और प्रारम्भ से अन्त तक खादी-प्रक्रियाओं को, बुनाई को भी, जानना।[2]

स्वावलंबन का आदर्श केवल व्यक्तियों के लिए कपड़े के बारे में ही नहीं, गाँव के लिए उसके समग्र जीवन के बारे मे है। इसलिए नई नीति के अनुसार चर्खा-संघ को अब खादी का कार्य एक पृथक् कार्य समझ कर नहीं बल्कि ग्राम-सुधार-योजना का अविभाज्य अंग मानकर करना चाहिए। इस प्रकार खादी का खेती, जानवारों की नस्ल सुधारने, अस्पृश्यता-निवारण, आर्थिक समता की स्थापना और विशेष रूप से व्यापक शिक्षा से निकट संबंध हो गया है।[3] अहिंसक समाज के विकास के उद्देश्य से ग्रामनिवासियों को प्रभावित करने के लिए खादी कार्यकर्ताओं को गाँवों के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में घुसकर उनका सुधार करने का प्रयत्न करना चाहिए। नई नीति के अनुसार संघ चर्खे के द्वारा समग्र ग्राम-सेवा में प्रयत्नशील है।

नई नीति के अनुसार चर्खा-संघ की शाखाओं का कार्य ग्राम सेवकों द्वारा होना चाहिए। उद्देश्य यह है कि अंत में सभी वस्त्र-स्वावलंबी हो जाएँ। कातनेवाला अपना सूत स्वयं या अड़ोस-पड़ोस के बुनकर से बुनवा कर

---

१. ह०. १४-४-४६, पृ० ८६।

२. ह०, १४-४-४६, पृ० ८६।

३. 'चर्खा संघ परिपत्र' १, १२-१२-४४।

पहिने।[1] लेकिन संघ की शाखाओं के कार्य को समग्र-सेवकों को सुपुर्द करने के लिए बहुत से कार्यकर्ता तैयार करना पड़ेगा। इसलिए शुरू में बेचने के के लिए भी खादी तैयार होती रहेगी, लेकिन बिक्री-भंडारों और उत्पत्ति-केंद्रों की संख्या कम करदी जावेगी। १ जुलाई, १९४४ से शहरों में खादी का आंशिक मूल्य सूत में लेना प्रारंभ हुआ था। यह निश्चित हुआ था कि सूत का अनुपात क्रमशः बढ़ता जाय और गांवों मे खादी केवल सूत के बदले मिले। गांधीजी का आदर्श था कि हर गांव केवल अपने इस्तैमाल के लिए ही खादी बनाए।[2] जबतक हर गांव केवल अपने इस्तेमाल के लिए ही खादी नहीं तैयार करता और लोग बिना किसी कठिनता के आवश्यकता से अधिक खादी बनाते हैं तबतक वह निकट के स्थान को भेजी जा सकती है, लेकिन अधिक-से-अधिक एक ज़िले या प्रांत तक की सीमा होनी चाहिए।[3] संघ की ओर से हरएक बिक्री-भंडार में बुनाई का प्रबन्ध होना चाहिए जिसमे भंडार के कार्यकर्त्ता बुनाई के प्रत्यक्ष सम्पर्क में रहें।

इस प्रकार विकेंद्रीकरण-नीति के अनुसार संघ अब प्रांतीय शाखाओं को जब वह चाहेगी स्वतंत्र कर देगा। ये शाखाएं और उनके कार्यकर्ता संघ के नाम का प्रयोग करेंगे लेकिन संघ उनको अपनी बात मानने के लिए विवश न करेगा। इस प्रकार संघ की सत्ता केवल नैतिक होगी। वह समय-समय पर शाखाओं की देख-रेख करेगा, उनकी धन से सहायता करेगा और उनकी नीति का संरक्षक रहेगा। इस प्रकार प्रांत खादी कार्य में स्वतंत्र हो जायेंगे।[4]

सेवाग्राम के बुनियादी स्कूल में पहले पाँच वर्षों में काते हुए सूत के आधार पर गांधीजी को विश्वास हो गया था कि खादी का प्रचार गांवों में नई तालीम द्वारा बहुत शीघ्रता हो सकता है, 'क्योंकि शिक्षा के समय बच्चों द्वारा बनाई हुई खादी पूरे गांव के आवश्यक कपड़ों के लिए पर्याप्त होगी और वह सस्ते-से-सस्ता कपड़ा होगा।"[5]

चर्खा-संघ नई खादी-नीति को कार्यान्वित करने में बहुत प्रयत्नशील रहा है, किंतु उसका प्रयास पूरी तरह सफल नहीं हुआ है। गांधीजी को अपने जीवन के अंतिम मासों मे यह शिकायत थी कि शासन-सत्ता प्राप्त होने के बाद

१ 'न्यू होराइजन्स इन खादी वर्क'; 'खादी जगत', फरवरी, १९४७, पृ० २।

२. 'न्यू होराइजन्स इन खादी वर्क'।

३. ह०, २७-१०-४६ पृ० ३७५-७६, 'न्यू होराइजन्स इन खादी वर्क'।

४. ह० १-११-४७, पृ० ३८८।

५. 'न्यू होराइजन्स इन खादी वर्क'; आर० बी० राव, 'दि गांधियन इन्स्टीट्यू-शन्स ऑव वर्धा', पृ० ४५-४६।

कांग्रेस को अहिंसा में आस्था न रह गयी थी और खादी ने अहिंसा के प्रतीक का स्थान खो दिया था। उनके महाप्रस्थान के बाद चर्खा-संघ ने यह नियम कि खादी का आंशिक मूल्य सूत के रूप में दिया जाय हटा दिया।[1]

गावों को स्वावलंबी बनाने के लिए और उनके पुनर्संगठन के लिए यह आवश्यक है कि केवल खादी ही नहीं दूसरे लाभप्रद घरेलू धंधे फिर से सजीव किये जांय। खादी और दूसरे ग्रामोद्योग एक दूसरे पर आश्रित हैं। बिना खादी के दूसरे धंधे नहीं पनप सकते और न दूसरे आवश्यक धंधों के पुनरुद्धार के बिना खादी ही संतोष-जनक उन्नति कर सकती है।[2] घरेलू धंधों के पुनरुद्धार से गांव आज की तरह केवल कच्चे माल के उत्पादक मात्र न रह जाएंगे। वह स्वावलंबी इकाइयां हो जाएंगे, शहरों की बहुत सी आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे और शहरों द्वारा गांव का शोषण बंद हो जायगा।[3] गांधीजी ग्रामोद्योगों में ऐसी साधारण मशीनों और औज़ारों के उपयोग के विरुद्ध नहीं थे जिनको गांव वाले बना सकते हैं और जिनका उपयोग आर्थिक दृष्टि से उनके लिए संभव है।[4] उन कठिन स्थितियों में जब कार्य इतना भारी हो कि उसे करने के लिए मनुष्य-शक्ति का उपयोग निर्दयतापूर्ण हो और जब मशीन का प्रयोग ऐसे उचित बचाव के साथ हो सकता है कि शोषण की संभावना न हो, तो गांधीजी को आधुनिक मशीन-शक्ति के प्रयोग में भी आपत्ति नहीं थी।[5]

ग्रामोद्योग-संघ की भी नीति चर्खा-संघ की नीति की भांति विकेंद्रीकरण की ही है और प्रमाणित संस्थाएं, उत्पादन-केंद्र, एजेंट आदि देखभाल और नीति-निर्धारण के अतिरिक्त अन्य बातों में स्वतंत्र हैं।

सामाजिक पुनर्रचना

गावों का पुनर्संगठन बिना गावों के स्वास्थ्य और सफ़ाई की ओर

---

१. ह० १-११-४७ पृ० ३८६।

२. ह०, २६-११-३६ पृ० ३१७, 'कंस्ट्रक्टिव प्रोग्राम', पृ० ११।

३. ह०, २१-१२-३६, पृ० ३५६।

४. ह०, २६-८-३६, पृ० २२६।

५. ह०, १५-३-४२, मे श्री जे० सी० कुमारप्पा का "व्हेन मशीन पावर" शीर्षक लेख। सन् १६४२ में गांधीजी की अनुमति से ग्रामोद्योग संघ ने प्रमाणित संस्थाओं को मशीन-शक्ति से बनी लुगदी से हाथ द्वारा बनाए कागज़ को बेचने की आज्ञा दी थी। अहिंसक आर्थिक सगठन में मशीनों के स्थान के लिए, ११ वां अध्याय देखिए।

ध्यान दिये अधूरा रहेगा। गांधीजी देश में राष्ट्रीय और सामाजिक सफ़ाई की भावना विकसित करना चाहते थे और भारतवर्ष के गांवों को जो आज कूड़ों के ढेर के समान हैं सफ़ाई के नमूना बना देना चाहते थे।

गांधीजी के अनुसार प्राकृतिक चिकित्सा चिकित्सा-पद्धति नहीं जीवन-मार्ग है। प्राकृतिक चिकित्सा का अर्थ यह है पूर्ण मस्तिष्क शरीर के पूर्ण स्वास्थ्य के लिए उत्तरदायी है। इसके लिए ईश्वर में बोधपूर्ण विश्वास आवश्यक है। इस जीवित श्रद्धा के अतिरिक्त अन्य कोई भी चीज़ प्राकृतिक चिकित्सा के विरुद्ध है। "ईश्वर की अनुभूति यह असंभव कर देती है कि मन में कोई भी अशुद्ध या व्यर्थ का विचार आए। जहां विचार की शुद्धता है वहां रोग असंभव है।" जीवन के इस मार्ग में यह आवश्यक है कि मनुष्य सभी ज्ञात प्राकृतिक नियमों के अनुसार रहे। गांधीजी का मत है कि प्राकृतिक चिकित्सा को पृथ्वी, आकाश, हवा, सूर्य का प्रकाश और जल—इन्हीं पांच तत्वों का उपयोग चिकित्सा-साधनों की तरह करना चाहिए।[1]

गांधीजी के मादक वस्तुओं के निषेध को इतनी महत्ता देने का कारण यह है कि जबतक गाँवों और शहरों के मनुष्यों की मादक वस्तुओं की लत न छूटेगी तबतक उनमें सत्याग्रह के लिए आवश्यक नैतिक प्रयत्न की क्षमता न होगी। इसीलिए गांधीजी सदा से इस बात के विरुद्ध थे कि मद्य-निषेध का कार्य भारतवर्ष में स्वतन्त्र सरकार की स्थापना तक स्थगित किया जाय। वह महसूस करते थे कि स्त्रियों और विद्यार्थियों को मद्य-निषेध का कार्य करने के लिए विशेष सुविधा है। प्रेमपूर्ण सेवा के कार्यों के द्वारा और मनबहलाव के स्थान खोलकर यह नशेख़ोरों को प्रभावित कर सकते हैं और उनसे नशे छुड़वा सकते हैं।[2]

साम्प्रदायिक एकता का अर्थ है अटूट हार्दिक एकता न कि कृत्रिम समझौतों के फलस्वरूप राजनैतिक एकता। धार्मिक कटुता अहिंसक वातावरण के अभाव का चिन्ह है। गांधीजी कांग्रेस के प्रत्येक सदस्य से इस बात की आशा करते थे कि वह सर्व-धर्म-समभाव की भावना विकसित करेगा और दूसरे धर्मों के मानने वालों से मित्रता का नाता जोड़ेगा।[3]

अपने जीवन के पिछले १६ मासों में गांधीजी ने साम्प्रदायिक हिंसा और विद्वेष के—जो देश के विभाजन के निश्चय का परिणाम थे— निराकरण और

१. ह०, ७-४-४६, पृ० ६८-६; १६-५-४६, पृ० १४८; ६-६-४६, पृ० १५७; १५-६-४७; पृ० १८५।

२. 'कंस्ट्रक्टिव प्रोग्राम', पृ० ७, नीचे अध्याय ११ भी देखिए।

३. 'कंस्ट्रक्टिव प्रोग्राम', पृ० ४।

साम्प्रदायिक एकता की स्थापना को अपना प्रमुख कार्य बना लिया था। उनका विश्वास था कि साम्प्रदायिक संकीर्णता, असहिष्णुता और हिंसा जनतंत्र, स्वतन्त्रता और उन्नति के लिए घातक थे। उनका मत था कि बहुमत को अल्पमत के हितों का संरक्षण करना चाहिए, उनको पूरी धार्मिक और सांस्कृतिक स्वतन्त्रता देना चाहिए और इस बात का लगातार प्रयत्न करना चाहिए कि अल्पमत के वह व्यक्ति जो हिंसा और अत्याचार के कारण अपने निवास-स्थान से चले गये हैं, वापस लौट आएं। अल्पमत वालों को न तो डर कर अपना स्थान छोड़ना चाहिए और न रक्षा के लिए पुलिस और फौज का मुँह ताकना चाहिए। उनको वीरों की अहिंसा से अत्याचार का सामना करना चाहिए। यदि अहिंसा की क्षमता न हो तो उन्हें कायरता से भागने के स्थान पर हिंसा से भी आत्मरक्षा करनी चाहिए।

सन् १९४६-४७ के जाड़े के महीनों में साम्प्रदायिक हिंसा के निराकरण के लिए गांधीजी ने नोआखाली में वीरों की अहिंसा का प्रयोग किया। उन्होंने अपने साथियों को विभिन्न गांवों में हिन्दुओं और मुसलमानों में शान्ति की स्थापना के लिए भेज दिया और स्वयं पैदल, नंगे पैरों नोआखाली के गाँवों की यात्रा की, यद्यपि उनके पैर ज़ख्मी थे। वह यथासम्भव मुसलिम घरों में ठहरते थे और हिन्दुओं और मुसलमानों को निर्भयता और वीरों की अहिंसा की शिक्षा देते थे।

गांधीजी की नोआखाली-यात्रा, और सितम्बर १९४७ और जनवरी १९४८ के उपवासों से और अन्य प्रयत्नों से साम्प्रदायिक पागलपन कम हो गया; किन्तु साम्प्रदायिक एकता के लिए गांधीजी का कार्य देश के कुछ प्रतिगामी अंशों को सह्य न हो सका और उनके बलिदान का कारण बना।

सामाजिक समता के लिए अस्पृश्यता निवारण आवश्यक है।[1] अस्पृश्यता सब मनुष्यों की आध्यात्मिक एकता के और वर्ण-नियम के विरुद्ध है। गांधीजी का मत था कि यदि अस्पृश्यता जीवित रही तो हिन्दू धर्म और उसके साथ भारत का विनाश हो जायगा। हिन्दू धर्म और समाज को अस्पृश्यता-निवारण गांधीजी की महान देन है। सन् १९३२ में उन्होंने अपने ऐतिहासिक उपवास द्वारा ब्रिटिश सरकार के अस्पृश्यों को अन्य हिंदुओं से पृथक् करने के घातक प्रयत्न को निष्फल किया। उन्होंने हिन्दू अन्तरात्मा को जाग्रत किया और उनकी प्रेरणा के फलस्वरूप अस्पृश्यता एक क़ानूनी अपराध बना दी गई है; अन्त्यजों की स्वतन्त्रता पर सामाजिक बंधन बहुत ढीले पड़ गए हैं; उनकी शिक्षा में और आर्थिक स्थिति में बहुत उन्नति हो

१. पीछे पृष्ठ ६८-९१ देखिए।

रही है और आशा है कि शीघ्र हिन्दू समाज अस्पृश्यता के कलङ्क से मुक्त हो जायगा।

अहिंसा में स्त्रियों को दबाकर रखने की गुंजाइश नहीं। "अहिंसा पर आधारित जीवन-योजना में स्त्रियों को अपने भाग्य-निर्धारण का वही अधिकार है जो मनुष्यों को है।"[1] गांधीजी चाहते थे कि स्त्रियों की स्थिति इस प्रकार सुधर जाय कि वह सेवा-कार्य में और स्वतन्त्रता के स्थापन और रक्षा के कार्य में मनुष्यों के साथ उचित भाग ले सकें। सन् १९४६ मे स्थापित कस्तूरबा गांधी स्मारक ट्रस्ट का उद्देश्य गाँवों मे रहने वाले स्त्री और बच्चों की सेवा, शिक्षा और उन्नति है। ट्रस्ट को लगभग सवा करोड़ रुपया दान में मिला है। उसका सेवा-कार्य ग्रामसेविकाओं द्वारा होता है। ट्रस्ट की ओर से इन सेविकाओं को नई तालीम, ग्रामोद्योग, ग्रामसेवा, सफ़ाई, बाल-विज्ञान और शिक्षा, स्वास्थ्य-सुधार आदि क्षेत्रों मे कार्य करने की शिक्षा दी जाती है। शिक्षा समाप्त होने पर सेविकाएं अपने ज़िले के किसी भाग में ग्रामसेवा-केन्द्र स्थापित करती हैं और सेवा का कार्य करती हैं। कुछ प्रान्तों मे' गाँवों मे ट्रस्ट की ओर से बुनियादी स्कूल, दवाख़ाने और ज़च्चाख़ाने भी खुले हैं।

शिक्षा

यदि रचनात्मक कार्यक्रम से जनसाधारण का मत परिवर्तन करके उनको नए अहिंसक जीवन की ओर अग्रसर करना है और अहिंसक समाज का विकास करना है तो बच्चों और प्रौढ़ों को अहिंसा के सिद्धान्तों के अनुसार शिक्षा देना आवश्यक है। बुनियादी तालीम का यही दृष्टिकोण है। उसका उद्देश्य है बच्चों को आदर्श ग्राम-निवासी बनाना। वह शरीर और दिमाग़ दोनों का विकास करती है और बच्चे को पृथ्वी से सम्बन्धित रखती है। गौरवपूर्ण भविष्य के निर्माण में बच्चे अपने विद्यार्थी-जीवन के प्रारम्भ से ही हिस्सा लेने लगते हैं।[2]

प्रौढ़-शिक्षा से गांधीजी का अर्थ है गाँवनिवासी प्रौढ़ों की सच्ची-राजनैतिक शिक्षा। यह शिक्षा अधिकतर मौखिक शब्दों द्वारा होगी और उनको देश की महानता और विस्तार की और देश की स्वतन्त्रता की रक्षा करने की उनकी क्षमता की चेतना देगी। इस मौखिक शिक्षा के साथ-साथ प्रौढ़ो को साक्षर भी बनाना चाहिए।[3] साक्षरता विकास में सहायता देती है।

१. 'कन्सट्रक्टिव प्रोग्राम', पृ० १४।
२. 'कंस्ट्रक्टिव प्रोग्राम', पृ० १३।
३. कंस्ट्रक्टिव प्रोग्राम', पृ० १३-१४।

इसलिए पढ़ने-लिखने की शिक्षा निरक्षर मनुष्यों की सेवा का आवश्यक अङ्ग है।[1]

गांधीजी के अनुसार देश की भाषाओं की उपेक्षा और अंग्रेज़ी भाषा के प्रेम ने शिक्षित वर्गों में और जनता में बड़ा अन्तर उत्पन्न कर दिया है और जनता को आधुनिक विकास से अलग रखा है। प्रान्तीय भाषाओं की उपेक्षा अहिंसक स्वराज्य की स्थापना में भी बाधक हुई है। अहिंसक स्वराज्य का अर्थ है कि "प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्रता के आन्दोलन में प्रत्यक्ष रूप से भाग ले। जनता यह पूरी तरह तबतक नहीं कर सकती जबतक वह हरएक क़दम का पूरा अर्थ न समझ ले। यह तबतक असम्भव है जबतक हर एक क़दम का अर्थ उनकी भाषा में न समझाया जाय।"[2] प्रान्तीय भाषाएँ ही जनता की राजनैतिक शिक्षा का माध्यम हो सकती हैं। इन भाषाओं के अतिरिक्त राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी का भी ज्ञान और प्रचार राष्ट्रीयता को सुदृढ़ बनाने के लिए आवश्यक है।

संगठन-कार्य

विधायक कार्यक्रम में मज़दूरों किसानों और विद्यार्थियों का संगठन शामिल है। जहाँ तक मज़दूरों का सम्बन्ध है गांधीजी अहमदाबाद के मज़दूरों के अहिंसक संगठन को पूरे देश के लिए आदर्श मानते थे।[3] मज़दूरों में रचनात्मक कार्य करनेवालों का उद्देश्य होना चाहिए मज़दूरों की नैतिक और बौद्धिक स्थिति का सुधार जिससे मज़दूर न केवल अपनी आर्थिक स्थिति ही सुधारने के योग्य बन जांय बल्कि उत्पादन के साधनों के दास होने के स्थान पर उनके स्वामी बन जाँय। पूँजी को मज़दूरों का स्वामी नहीं सेवक होना चाहिए। मज़दूरों को कर्तव्यों की चेतना होनी चाहिए जिनका पालन अधिकारों का स्रोत है। मज़दूरों का अपना अलग संगठन होना चाहिए। इस संगठन को चाहिए कि मज़दूरों की सामान्य और वैज्ञानिक शिक्षा के लिए रात्रि-पाठशालाओं और उनके बच्चों के लिए बुनियादी स्कूलों का प्रबन्ध करें। मज़दूर-सभा को मज़दूरों को अहिंसक हड़ताल के सञ्चालन की वैज्ञानिक शिक्षा देनी चाहिए। उसका यह भी कर्तव्य है कि मज़दूरों, शिशुओं और माताओं के चिकित्सालय का प्रबन्ध करे।[4]

---

१. मीरा, 'ग्लीनिंग्ज़', पृ० २०-२१।

२. 'कन्स्ट्रक्टिव प्रोग्राम', पृ० १७।

३. मजदूरों के संगठन के संबंध में गांधीजी के मत के लिये अ० १० देखिए।

४. गांधीजी का २७ अक्तूबर, १९४४ का वक्तव्य।

भारतवर्ष विशेष रूप से खेतिहर देश है। यहाँ जनता का अर्थ है किसान। चम्पारन, खेड़ा, बारडोली और बोरसाद के अहिंसक आन्दोलन किसानों की उचित शिकायतों को दूर करने और शोषण का अन्त करने के ठीक मार्ग का निर्देश करते हैं। गांधीजी का मत है कि किसानों की शिकायतों से असम्बन्धित राजनैतिक उद्देश्यों से उनकी शक्ति का उपयोग शोषण है और सत्याग्रही नेताओं को उससे अलग रहना चाहिए।[1] रचनात्मक कार्यकर्ताओं को किसानों में अधिकतम सहयोग का विकास करना चाहिए और इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि खेतों में काम करने वाले मज़दूरों को पर्याप्त मज़दूरी मिले।

गांधीजी का मत है कि विद्यार्थियों को राजनैतिक दलों के झगड़ों से, हड़तालों से, गुप्त और अनुचित दबाव डालने के तरीकों से और सांप्रदायिकता से अलग रहना चाहिए। उनको चाहिए कि वह सूत कातें, खादी और घरेलू धन्धों में बनी चीज़ों का उपयोग करें, राष्ट्र भाषा सीखें और अपनी मातृभाषा का साहित्य-भंडार भरें। उनको अपने जीवन को जोखिम में डालकर सांप्रदायिक दंगों को अहिंसक आचरण के द्वारा दबाने के लिए तैयार रहना चाहिए।[2]

रचनात्मक कार्यक्रम की तफ़सीली बातें देश और काल की परिस्थिति के अनुसार बदलती रहेंगी, किन्तु उसके बुनियादी सिद्धान्तों का स्वरूप स्थानीय या तात्कालिक नहीं है। कार्यक्रम का उद्देश्य है समाज की अहिंसक पुनर्रचना और इसके लिए विकेन्द्रित आर्थिक संगठन, सामाजिक समता और ठीक प्रकार की शिक्षा-प्रणाली आवश्यक हैं। आलोचक कभी-कभी गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम की आलोचना करते हैं और उसको सुधारवादी और और प्रतिक्रियामूलक बताते हैं। उनका कहना है कि जनता की दशा को सुधारने का प्रयत्न करने के कारण कार्यक्रम सामाजिक असंतोष को कम कर देता है। इस प्रकार सामाजिक स्वतन्त्रता का प्रश्न टल जाता है और क्रान्ति स्थगित हो जाती है। गांधीजी क्रान्तिवादी थे लेकिन वह क्रांति शब्द का प्रयोग आलोचकों की अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थ में करते थे। वह चाहते थे कि उन आदर्शों, भावनाओं, प्रवृत्तियों और प्रतीकों में क्रांति हो जाय जिनसे मनुष्य के व्यवहार और सामाजिक संस्थाओं का निर्धारण होता है। रचनात्मक कार्यक्रम इसी व्यापक अहिंसक क्रांति का जीवित अंग, उसका विधायक स्वरूप है। कार्यक्रम की कल्पना केवल तात्कालिक आवश्यकता के अनुसार नहीं हुई है, वह आने वाले अहिंसक राज्य का आधार भी है।

१. कंस्ट्रक्टिव प्रोग्राम', पृ० २२।

२. 'कंस्ट्रक्टिव प्रोग्राम', पृ० २५।

असंतोष को गहरा करने के लिए और क्रांति को निकट लाने के लिए जनता के कष्ट की उपेक्षा करने का अर्थ है स्त्री और पुरुषों को साधनमात्र समझना। इसके अतिरिक्त हद दर्जे की निर्धनता मनुष्य की नैतिक भावना को दुर्बल बना देती है, उसके जीवन को केवलमात्र शारीरिक जीवन बना देती है, उसकी क्रिया-शीलता और उपक्रम को निर्जीव कर देती है, और क्रांति को निकट लाने के स्थान में सामाजिक असंतोष की चेतना के व्यापक होने में बाधक होती है।

रचनात्मक कार्यक्रम सत्याग्रह का स्फूर्तिदायी संदेश ग्रामवासियों तक पहुंचाता है, उनको स्वावलंबी बनाता है, और उनमें अधिकारों और कर्त्तव्यों की चेतना जाग्रत करता है। यह सब केवल भाषणों और प्रदर्शनों से नहीं हो सकता। यह कार्यक्रम सत्याग्रही सेना के साधारण सिपाही को, वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति को, सामाजिक पुनर्निर्माण के कार्य में भाग लेने का अवसर देता है। वह सत्याग्रहियों और उनमें जिनको अहिंसक प्रतिरोध में विश्वास नहीं है एकता स्थापन का साधन है। इसका सार्वभौम प्रभाव इस कारण है कि वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का पुनर्संगठन है और जनता की व्यापक सामाजिक, आर्थिक, नैतिक सेवा है।

आठवें अध्याय के परिशिष्ट

सन १९२१ ई० में गांधीजी ने नीचे लिखा प्रतिज्ञा-पत्र तैयार किया था:—

ईश्वर को साक्षी करके मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि:—

१—मैं राष्ट्रीय स्वयंसेवक-संघ का सदस्य होना चाहता हूँ।

२—जबतक मैं संघ का सदस्य रहूँगा तबतक वचन और कर्म में अहिंसक रहूँगा और इस बात का अत्यंत प्रयत्न करूँगा कि मन में भी अहिंसक रहूँ, क्योंकि मेरा विश्वास है कि अहिंसा से भारतवर्ष की वर्तमान परिस्थिति में खिलाफत और पंजाब को सहायता मिल सकती है और स्वराज्य स्थापित हो सकता है और भारतवर्ष की सब जातियों में चाहे वह हिंदू, मुसलमान, सिख, पारसी, ईसाई या यहूदी हों एकता स्थापित हो सकती है।

३—मुझे ऐसी एकता में विश्वास है और मैं उसकी उन्नति के लिए सदैव प्रयत्न करता रहूँगा।

४—मेरा विश्वास है कि भारतवर्ष के आर्थिक, राजनैतिक और नैतिक उद्धार के लिए स्वदेशी आवश्यक है और मैं दूसरी तरह के सब कपड़ों को छोड़कर केवल हाथ के कते और बुने खद्दर का ही इस्तेमाल करूँगा।

५ हिन्दू होने की हैसियत से मैं अस्पृश्यता को दूर करने की न्यायपरता और आवश्यकता में विश्वास करता हूं और प्रत्येक सम्भव अवसर पर दलित लोगों के साथ व्यक्तिगत संपर्क रखूँगा और उनकी सेवा करने का प्रयत्न करूँगा।

६ मैं अपने बड़े अफ़सरों की आज्ञाओं और स्वयंसेवक-संघ कार्य समिति या कांग्रेस द्वारा स्थापित दूसरी संस्थाओं के उन सब नियमों का पालन करूँगा जो इस प्रतिज्ञापत्र के प्रतिकूल न होंगे।

७—मैं अपने धर्म और देश के लिए बिना नाराज़गी के जेल जाने, आघात सहने और मरने तक को तैयार हूं।

८ अगर मैं जेल जाऊँ तो अपने कुटुम्बियों या आश्रितों की सहायता के लिए कांग्रेस से कुछ न मांगूगा।

सन् १९३० ई० में गांधीजी ने इस प्रतिज्ञापत्र में दिये हुए अनुशासन को नीचे के ११ नियमों का विस्तृत रूप दिया:—

व्यक्ति की हैसियत से

१—सत्याग्रही या अहिंसात्मक प्रतिरोध करनेवाला क्रोध को स्थान न देगा।

२—वह विरोधी के क्रोध को सहेगा।

३—ऐसा करने में वह विरोधी के आघात को भी सहेगा, बदला कभी न लेगा। लेकिन सज़ा के या ऐसे ही किसी और डर से क्रोधपूर्वक दी हुई किसी आज्ञा का पालन न करेगा।

४ यदि कोई अधिकारी व्यक्ति सत्याग्रही को गिरफ्तार करने का प्रयत्न करेगा तो वह स्वेच्छा से गिरफ्तार हो जायगा और यदि उसकी कोई निजी सम्पत्ति ज़ब्त की जा रही हो तो उसकी कुर्की या हटाए जाने का विरोध न करेगा।

५—यदि किसी सम्पत्ति पर सत्याग्रही का संरक्षक या ट्रस्टी की हैसियत से अधिकार है तो वह उसे समर्पण करने से इन्कार करेगा चाहे उसकी रक्षा में उसे अपनी जान भी दे देना पड़े। लेकिन वह बदला कभी न लेगा।

६—बदला न लेने में कोसना और शाप देना शामिल है।

७—इसलिए सत्याग्रही अपने विरोधी को कभी असम्मानित न करेगा

और इसीलिए ही वह उन बहुत से नए बने नारों को—जो अहिंसा की भावना के प्रतिकूल हैं—चिल्लाने में हिस्सा न लेगा।

८—सत्याग्रही यूनियन जैक (अंग्रेज़ी झंडे) को अभिवादन न करेगा, न वह उसको या अंग्रेज़ी या हिन्दुस्तानी अफ़सरों को असम्मानित करेगा।

९—संघर्ष के बीच में यदि कोई किसी अफ़सर को असम्मानित करेगा या उस पर हमला करेगा तो सत्याग्रही अपनी जान को जोखिम में डालकर भी ऐसे अफ़सर या अफ़सरों की असम्मान या हमले से रक्षा करेगा।

कैदी की हैसियत से

१०—सत्याग्रही जेलखाने के अफ़सरों के प्रति सम्मानपूर्ण व्यवहार करेगा और जेल के ऐसे सब अनुशासन को जो आत्मसम्मान के विरुद्ध नहीं है मानेगा। वह जेल के अनुशासन के अनुसार अफ़सरों का अभिवादन करेगा लेकिन वह आत्मसम्मान पर आघात करने वाले काम न करेगा और सरकार की जय पुकारने से इन्कार कर देगा। वह सफ़ाई से बना हुआ और सफ़ाई से परोसा हुआ ऐसा खाना—जो उसके धर्म के विरुद्ध नहीं है—खाएगा और अपमानपूर्वक परोसा हुआ या गंदे बर्तनों में परोसा हुआ खाना खाने से इन्कार कर देगा।

११—सत्याग्रही साधारण कैदी में और अपने में कोई भेद न करेगा और अपने को दूसरों से भिन्न न समझेगा; और न ऐसी सुविधाओं की माग करेगा जो उसके शरीर को स्वस्थ और अच्छी दशा में रखने के लिए आवश्यक नहीं है। उसको ऐसी सुविधाएँ माँगने का अधिकार है जो उसकी शारीरिक और आध्यात्मिक भलाई के लिए आवश्यक है।

१२—सत्याग्रही ऐसी सुविधाओं की कमी के कारण उपवास न करेगा जिनसे वंचित होने से आत्मसम्मान को आघात नहीं पहुँचता।

इकाई की हैसियत से

१३—सत्याग्रही प्रसन्नता से (स्वयंसेवक) दल के नेता द्वारा दी हुई आज्ञाओं का पालन करेगा, चाहे वह (आज्ञाएं) उसे अच्छी लगें या न लगें।

१४—वह पहले तो सब आज्ञाओं का पालन करेगा, चाहे वह उसे अपमानजनक, द्वेषपूर्ण और मूर्खतापूर्ण ही क्यों न मालूम पड़ें, और तब उच्चतर अधिकारी से अपील करेगा। दल का सदस्य बनने के पहिले उसे दल को अपने को संतुष्ट करने की क्षमता का निश्चय करने की स्वतन्त्रता है; लेकिन उसमें संमिलित होने के बाद उसके अनुशासन को—चाहे वह कष्टकर हो या न हो—मानना उसका कर्तव्य हो जाता है। यदि सदस्य को दल की शक्ति

की समग्रता अनुचित या अनैतिक मालूम हो, तो उसे अधिकार है कि उससे अपना संबंध तोड़ दे, लेकिन उसके अन्दर रहकर उसको उसके अनुशासन की अवज्ञा करने का अधिकार नहीं है।

१५—कोई सत्याग्रही अपने आश्रितों के भरण-पोषण की आशा न करेगा। यदि ऐसा प्रबंध हो जाय तो यह आकस्मिक होगा। सत्याग्रही अपने आश्रितों को ईश्वर की रक्षा के भरोसे छोड़ता है। साधारण युद्ध में भी, जिसमें लाखों मनुष्य भाग लेते हैं वह पहले से प्रबंध नहीं कर पाते। तब सत्याग्रह में यह बात अपेक्षाकृत कितनी अधिक होगी? यह सार्वभौम अनुभव है कि ऐसे समय में शायद ही कोई भूखों मरता है।

साम्प्रदायिक लड़ाइयों में

१६—कोई सत्याग्रही जान बूझ कर साम्प्रदायिक लड़ाइयों का कारण न बनेगा।

१७—ऐसे दंगे के प्रारंभ होने पर, वह किसी संप्रदाय की तरफ़दारी न करेगा, बल्कि उस पक्ष की सहायता करेगा जिसकी बात निश्चित रूप से ठीक है। हिन्दू होने की हैसियत से वह मुसलमानों और दूसरे मतवालों के प्रति उदार रहेगा, और जो हिन्दू नहीं हैं उनको हिन्दुओं के हमले से बचाने के प्रयत्न में अपने को बलिदान कर देगा। और यदि हमला दूसरी तरफ़ से है, तो वह बदला लेने में हिस्सा न लेगा बल्कि हिन्दुओं को बचाने में अपनी जान दे देगा।

१८—वह, यथाशक्ति ऐसे सब अवसरों से बचेगा जो साम्प्रदायिक दंगों का कारण हो सकते हैं।

१९—यदि सत्याग्रहियों का जुलूस निकलता है तो वह ऐसी कोई बात न करेंगे जिससे किसी संप्रदाय की धार्मिक भावना को आघात पहुंचे, और वह किसी दूसरे जुलूस में— जिनसे ऐसी भावनाओं पर आघात पहुंचने की संभावना है—भाग न लेंगे।

: ६ :

सामूहिक सत्याग्रह (चालू)

प्रतिरोध-पद्धति

कभी-कभी सामूहिक झगड़ों का होना अनिवार्य है। यदि अन्य शान्ति-पूर्ण उपाय सफल न हों तो इनका निपटारा सामूहिक अहिंसक प्रतिरोध द्वारा होना चाहिए। लेकिन यद्यपि सत्याग्रह के प्रयोग के लिए सभी समय और सभी स्थान उपयुक्त हैं अहिंसक प्रतिरोध के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती। गांधीजी के शब्दों मे, "सविनय आज्ञा-भंग जीवन का नियम नहीं है; सत्याग्रह है। सत्याग्रह कभी नहीं रुकता; सविनय आज्ञा-भंग, जब उसके लिए उपयुक्त अवसर न हो, रुक सकता है और रुक जाना चाहिए।"[1] अहिंसक प्रतिरोध को प्रारंभ करने और चालू रखने के लिये बाह्य और आन्तरिक दशा, अर्थात विपक्षी और सत्याग्रही की दशा अनुकूल होना चहिए।

अवसर

अहिंसक प्रतिरोध विनाशकला की साधारण लड़ाई नहीं है। वह नैतिक लड़ाई है जिसमे साधारण युद्ध-प्रक्रिया परिवर्तित हो जाती है और संघर्ष ऊंचे नैतिक तल पर होता है। उसका उद्देश्य है विरोधी का हृदय-परिवर्तन न कि बल-प्रयोग, उसकी सेवा और उसका सुधार न कि उसकी हार और उसका विनाश। इसलिए अहिंसक प्रतिरोधका प्रयोग तब न करना चाहिए जब विपक्षी संकट में हो विशेष रूप से जब सकट उसके लिये जीवन-मरण का प्रश्न हो। गांधीजी के शब्दों में, "हमे उस विरोधी को जो संकट मे है परेशान न करना चाहिए और उसके संकट को अपना सुअवसर न बनाना चाहिए।"[1]

परेशान न करने पर ज़ोर न देने का कारण यह है कि विपक्षी के संकट से लाभ उठाना उसे सहानुभूतिरहित कर देता है और उसकी बदले की भावना को दृढ़ करता है। वह महसूस करता है कि अहिंसा उसे हानि पहुँचाने का आवरण मात्र है और उसका हृदय-परिवर्तन कठिन हो जाता है। इसलिए विपक्षी के हृदय को प्रभावित करने के लिए उद्देश्य यह होना चाहिए कि उसको परेशान न किया जाय। जहां उद्देश्य होता है विपक्षी को परेशान

---

१. ह०, ६-१-१९४०, पृ० ४०४।

करना वहां आन्दोलन सत्याग्रह नहीं निष्क्रिय प्रतिरोध होता है ।[1]

गांधीजी का यह भी विश्वास था कि सत्याग्रही को कोई ऐसी बात न करनी चाहिए जिससे विपक्षी की पाशविकता बढ़े और उसकी नैतिक भावना पंगु हो जाए। इसका यह अर्थ नहीं कि सविनय-आज्ञा-भंग को केवल इस कारण स्थगित कर देना चाहिए कि विरोधी के अत्याचार की तीव्रता और उसकी पाशविकता बढ़ रही है ।[2] वास्तव में यदि इस कारण सत्याग्रह को स्थगित करना अनिवार्य सिद्धान्त होता तो सत्याग्रह में बड़ी कमी होती, और इस सिद्धान्त के कारण विपक्षी के लिए अहिंसक प्रतिरोध को स्थगित कराने के उद्देश्य से पाशविक होने का बड़ा प्रलोभन होता।

इस प्रकार सन् १९३० में जब सरकार ने सत्याग्रह आंदोलन को दबाने के लिये आंतकपूर्ण अत्याचार शुरू किया तो गांधीजी ने महसूस किया कि सरकार के पाशविक दमन का सामना करने का ठीक रास्ता था सविनय आज्ञाभंग को और तीव्र कर देना, उसको और व्यापक बना देना और इस प्रकार सरकार की सत्ता की भयंकरता का पूरा प्रदर्शन करने को आह्वान करना। "क्योंकि सत्याग्रह विज्ञान के अनुसार, जितना अधिक सत्ताधारी का दमन और उसके अवैध कार्य हों उतना ही अधिक सत्याग्रही को कष्टों को आमन्त्रित करना चाहिए। स्वेच्छापूर्वक सहे गए तीव्रतम कष्टसहन का निश्चित परिणाम सफलता है।"[3]

विपक्षी सत्याग्रही की उसको परेशान न करने की उत्सुकता का दुरुपयोग करके सत्याग्रही को हानि पहुंचाने का प्रयत्न कर सकता है। लेकिन सत्याग्रही को चाहिए कि वह आत्म-नियंत्रण या अभ्यास आत्मविनाश या घातक आत्मदमन की सीमा तक न करे, क्योंकि इस प्रकार गुण दुर्गुण बन जाता

१. चन्द्रशंकर शुक्ल, 'कन्वसेंशन्स ऑव गांधीजी, पृ० ६३।

२. ह०, १०-६-३९ पृ० १५९।

३. हिस्ट्री ऑव दि कांग्रेस, में पृ० ६६५ पर उद्धृत। सन् १९३९ में निःसंदेह गांधीजी ने सलाह दी थी कि कुछ देशी राज्यों में, जहाँ सत्ताधारी पाशविक होते जा रहे थे, सत्याग्रह स्थगित कर दिया जाय। लेकिन इसका एक कारण था सत्याग्रहियों की अहिंसा की अपर्याप्त शिक्षा और दूसरा कारण था गांधीजी के लिये शांत वातावरण की आवश्यकता जिसमें वह सोच-विचार कर सविनय आज्ञा-भंग पद्धति को अधिक प्रभावशाली और गत्यात्मक बनाने के लिए उसका नव-संस्कार कर सकें। यदि सत्याग्रहियों का अनुशासन पर्याप्त होता तो संभवतः गांधीजी ने सत्याग्रह के स्थगित किये जाने की सलाह न दी होती। ह०, १०-६-३९, पृ० १५९।

है।[1] यदि विरोधी सत्याग्रही के परेशान न करने के प्रयत्न का दुरुपयोग करे तो सत्याग्रही समुदाय का स्पष्ट कर्तव्य है कि वह आक्रमणकारी विरोधी का अहिंसक प्रतिरोध करे और अपनी रक्षा करे। गांधीजी लिखते हैं, "जब विरोधी हमारा अपमान करे तो बचाव के लिए सविनय आज्ञा-भंग कर्तव्य हो जाता है। उस कर्तव्य का तो पालन करना ही होगा विरोधी चाहे संकट में हो या न हो।"[2]

संक्षेप में, जब विरोधी संकट में है तो जो नैतिक दृष्टि से आवश्यक है उसे करना सत्याग्रही का कर्तव्य है, यद्यपि उसे ऐसे कार्य से बचना चाहिए जो नैतिक दृष्टि से अनुचित तो नहीं है पर उससे विरोधी परेशान हो जायगा।[2]

सत्याग्रही के लिए बाह्य स्थिति की अपेक्षा आन्तरिक स्थिति अधिक महत्त्वपूर्ण है। गांधीजी के शब्दों में, "बाह्य कठिनाइयों से डरने की सत्याग्रही को आवश्यकता नहीं। इसके विपरीत वह बाह्य कठिनाइयों पर पनपता और उनका ज़ोरों से सामना करता है।"[3]

जहां तक सन्तोषजनक आन्तरिक स्थिति का सम्बन्ध है, सत्याग्रही-समुदाय का अनुशासन ठीक होना चाहिए। पिछले अध्याय में हम पर्याप्त अनुशासन के अर्थ का अध्ययन कर चुके हैं। विशेष रूप से सत्याग्रहियों को रचनात्मक कार्यक्रम को पूरा करने में सच्ची रुचि होना चाहिए। इस रचनात्मक सेवा द्वारा उन्हें जनता के हिंसात्मक अंशों पर इस प्रकार का नियन्त्रण प्राप्त कर लेना चाहिए कि जबतक अहिंसक प्रतिरोध चलता रहे वह कम-से-कम निष्क्रिय रूप से अहिंसक रहे। इसके अतिरिक्त सत्याग्रहियों को नेता में ऐसी श्रद्धा होनी चाहिए कि वह उसकी आज्ञा की राह देखें और उसका पालन करें। सत्याग्रही सेना की "तैयारी इतनी पूरी होना चाहिए कि लड़ाई अनावश्यक हो जाय।"[4]

पूरी तैयारी का चिन्ह यह है कि संघर्ष के स्थगित कर देने से सत्याग्रहियों में निराशा और दुर्बलता न पैदा हो।[5] यदि सत्याग्रही तैयार भी हैं और सेनापति भूल से युद्ध को स्थगित करने की आज्ञा देता है, तब भी आन्दोलन पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़ना चाहिए, क्योंकि "यदि सविनय आज्ञा-भंग के

१. ह०, २२-६-४०, पृ० २६०।
२. ह०, ६-१-४०, पृ० ४०४।
३. ह०, ३०-३-४०, पृ० ६६।
४. ह०, २-१२-३६, पृ० ३६१।
५. ह०, ३-६-३६, पृ० १४७।

स्थगित करने का परिणाम हो दमन का तीव्र हो जाना, तो वह आदर्श प्रकार का सत्याग्रह बन जायगा।"[1] लेकिन यदि सत्याग्रही युद्ध के स्थगित होने से निराशापूर्ण न हो जायं, तो यह इस बात का निश्चित चिन्ह है कि उन्होंने सत्याग्रह के संदेश को समझ लिया है और अपना लिया है।[2]

इतना सावधान होते हुए भी सामूहिक सत्याग्रह ख़तरनाक प्रयोग है। उसमें इस बात का सदा ख़तरा रहता है कि जनता में हिंसा की आग भभक उठे। लेकिन इसके विपरीत नेता को एक और भी बड़े ख़तरे को ध्यान में रखना पड़ता है वह है यह निश्चितता कि अत्याचार और अन्याय से उत्पन्न जनता का क्रोध हिंसा में परिवर्तित होगा, या घोर अन्याय को दूर करने के कारगर अहिंसक उपाय के अभाव में नैतिक अधःपतन होगा। दूसरा परिणाम पहले से भी अधिक बुरा होगा। अहिंसक प्रतिरोध इस हिंसा से बचाता है क्योंकि उसके द्वारा जनता अपनी भावनाओं को इस प्रकार प्रकट कर सकती है कि अन्यायी अन्याय को दूर करने पर विवश हो जाय। इस प्रकार सत्याग्रही समुदाय की आन्तरिक कमज़ोरियों के होते हुए भी अक्सर विपक्षी के अनैतिक कार्यों का प्रतिरोध कर्तव्य हो जाता है। प्रतिकूल परिस्थिति में भी इस अनिवार्य आवश्यकता पर ज़ोर देते हुए गांधीजी ने एक बार लिखा था कि, "यदि कांग्रेस को उसके (सविनय आज्ञा-भंग के) लिए विवश होना पड़ा तो सत्याग्रह विज्ञान में आन्तरिक कमज़ोरी के होते हुए भी प्रयोग-रीति का अभाव नहीं है।"[3]

इस बात का निर्णय कि अहिंसक प्रतिरोध के प्रारम्भ के लिए अवसर अनुकूल है या नहीं सेनापति करता है। उसका निर्णय संघर्ष के कारण की पर्याप्तता और न्यायपरता और सत्याग्रहियों की तैयारी पर आधारित होता है। जबतक उसकी तैयारी अपूर्ण है, उसे न तो विरोधी का दबाव, उसका दमन और अत्याचार और न अनुगामियों का शोरगुल ठीक समय से पूर्व संघर्ष शुरू करने पर विवश कर सकता है। इस प्रकार सत्याग्रही सेनापति अनुकूल समय पर और अपने निश्चय किये हुए तरीक़े से युद्ध शुरू करता है। युद्ध की बागडोर उसके हाथ में रहती है और वह उसे विरोधी के हाथ में कभी नहीं जाने देता।[4] युद्ध के आरम्भ और अन्त का और प्रतिरोध-पद्धति का निर्णायक सेनापति ही रहता है।

१. ह०, १-४-३६, पृ० ७२।

२. 'स्पीचेज़' पृ० ५०६; ह०, १-७-३६, पृ० १८२।

३. ह०, ४-८-४०, पृ० २३४।

४. ह०, २७-५-३६ , पृ० १४३।

स्थगित करने का निर्णय

यदि नेता देखता है कि उससे कोई भूल हो गई है या अहिंसा की ठीक भावना का सत्याग्रहियों में और समाज में अभाव है और अनुशासन के ढीले हो जाने की सम्भावना है तो वह पीछे हट जाता है और प्रतिरोध को स्थगित कर देता है।[1] सन् १९३८ में गांधीजी ने लिखा था, "बुद्धिमान सेनापति पराजित होने तक प्रतीक्षा नहीं करता रहता, वह ठीक समय पर उस मोर्चे से सुव्यवस्थित रीति से पीछे हट आता है, जिस पर वह जानता है वह अपना अधिकार न रख सकेगा।"[2] गांधीजी के अहमदाबाद (१९१९) बारडोली (१९२१) और पटना (१९३४) के निर्णय संघर्ष को स्थगित करने के दृष्टान्त हैं।[3] पटना के निर्णय द्वारा सविनय आज्ञा-भंग गांधीजी के अतिरिक्त और

१. सन १९२२ में गांधीजी की राय थी कि सविनय आज्ञा भंग केवल राजनैतिक हिंसा के कारण रोका जा सकता था, अराजनैतिक हिंसा के कारण नहीं। लेकिन सन १९३० में वह नर्म पड गए और उन्होंने कहा कि इस बार सविनय आज्ञा-भंग हिंसा के होते हुए भी चलता रहेगा। निस्सन्देह वीरता की अहिंसा अधिक-से अधिक हिंसा को भी बेकार बना सकती है। लेकिन कांग्रेस की हिंसा केवल एक काम चलाऊ नीति थी। सन् १९३४ ई० से उनका मापदंड फिर ऊंचा हो गया और लगातार उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि हिंसा का अभाव सविनय आज्ञा भंग को प्रारम्भ करने और उसको चालू रखने की आवश्यक शर्त है। लेकिन हिंसा ऐसे व्यक्तिगत सविनय आज्ञा भंग को नहीं रोकती जिसका प्रारम्भ बचाव के लिए हुआ हो। देखिए यं० इं०, भा० १, पृ० २९२; यं० इं०, २३-१-१९३०; 'हिस्ट्री ऑव दी कांग्रेस', पृ० ६४५; ह०, १ १२-३९, पृ० ३६२ और ३०-३-१९४०, पृ० ६६।

२. ह०, २२-१०-१९३९, पृ० ३०४।

३. सन् १९१९ में गांधीजी ने अहिंसक प्रतिरोध को नदियाद और अहमदाबाद की हिंसा के कारण रोक दिया था। इसी प्रकार बारडोली का निर्णय चौरी-चौरा की हिंसा के कारण था जिसके पहले राजनैतिक हिंसा की और भी घटनाएं हो चुकी थीं। इसके अतिरिक्त सन् १९२१ में हिंसा बढ़-सी रही थी और सत्याग्रहियों का अनुशासन अपर्याप्त था। किन्तु सन १९२५ में गांधीजी ने लिखा था कि उन्होंने जब-जब सविनय आज्ञा-भंग स्थगित किया था उसका कारण केवलमात्र हिंसा न थी, बल्कि ऐसी हिंसा थी जिसे कांग्रेस के सदस्यों ने प्रारम्भ किया था या प्रोत्साहन दिया था। पटना के निर्णय का कारण यह था कि सविनय आज्ञा-भंग का आंदोलन जो दुर्बलता की

सबके लिए स्थगित कर दिया गया था। याद रखना चाहिए कि सविनय आज्ञा-भंग को स्थगित करने से सत्याग्रह नहीं रुक जाता। उसमें केवल सत्याग्रही सेना रुकावटों को दूर करने के निषेधात्मक कार्य से हटकर रचनात्मक कार्य में लग जाती है। स्थगित कर देने का अर्थ यह है कि नेता सत्याग्रही सेना को, अधिक संतोषजनक तैयारी के लिए, युद्ध-योजना के अनुसार पीछे हटा लेता है।

प्रतिरोध का कारण

अहिंसक प्रतिरोध का प्रयोग केवल जनहित के लिए ही सकता है, अनैतिक प्रयोजनों के लिए कभी नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए इसका प्रयोग किसी दूसरे देश को जीतने के लिए या साम्राज्य स्थापित करने के लिए नहीं हो सकता।

समाज की कोई महत्त्वपूर्ण शिकायत ही प्रतिरोध का उचित कारण हो सकती है। यह शिकायत जहाँ तक सम्भव हो सीधी-सादी और सुनिश्चित होनी चाहिए, न कि जटिल और कठिनता से समझी जा सकने वाली। प्रतिरोध के प्रेरक हेतु को दूसरे प्रेरक हेतुओं के साथ मिलाना सत्याग्रह को हानि पहुँचाता है, इसलिए संघर्ष का कारण किसी अन्य प्रयोजन की सिद्धि का आवरणमात्र न होना चाहिए।[1] गांधीजी की यह भी राय थी कि सत्याग्रही समुदाय को ऐसी अल्पतम माँगों के लिए लड़ना चाहिए जिनमें और कमी नहीं की जा सकती। सत्याग्रही के लिए उनके अनुसार यह अल्पतम ही अधिकतम है।[2] सत्याग्रही की माँग ऐसी होना चाहिए जिसे स्वीकार कर लेना विरोधी की शक्ति में हो।[3]

अहिंसा पर आधारित था, सरकारी दमन के कारण दुर्बल हो गया था। इसलिए गांधीजी ने सत्याग्रह के प्रवर्तक की हैसियत से कांग्रेस के सदस्यों को यह सलाह दी कि सविनय आज्ञा भंग स्थगित कर दिया जाय, स्वराज्य-प्राप्ति के उद्देश्य से उसके प्रयोग का अधिकार केवल गांधीजी को रहे और भविष्य में गांधीजी के जीवनकाल में दूसरे इस उद्देश्य से उसका प्रयोग केवल उनकी आज्ञानुसार करें। किन्तु विशिष्ट शिकायतों के विरुद्ध सविनय आज्ञा भंग का प्रयोग यथापूर्व हो सकता था। यं० इं०, २६-१०-२५; चन्द्रशङ्कर शुक्ल, 'कन्वर्सेशन्स ऑव गांधीजी', पृ० ४६ और ४८।

१. ह०, २७-५-१९४०, पृ० १४४।

२. 'दक्षिण अफ्रीका', (उत्तरार्ध), पृ० १९९।

३. 'कन्स्ट्रक्टिव प्रोग्राम', पृ० २६।

अपने सभी सविनय आज्ञा-भंगके आन्दोलनों में गांधीजी ने इस बात पर बहुत ध्यान रखा कि लोग आन्दोलन के कारण को उससे भिन्न कोई वस्तु न समझ बैठें। दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने योरोपियन हड़तालियों के साथ, जिनकी हड़ताल अहिंसक नहीं थी, अपने आन्दोलन को मिला देने से इन्कार कर दिया था। वास्तव में उन्होंने अपनी सत्याग्रही हड़ताल को इसलिए रोक दिया था कि कहीं भ्रम से यह न समझ लिया जाय कि सत्याग्रहियों में और गोरे हड़तालियों में समझौता हो गया है। चम्पारन में भी उन्होंने इस बात पर ध्यान रखा कि वहाँ के मामले को राजनैतिक और राष्ट्रीय रूप न दिया जाय।

गांधीजी के अहिंसक आंदोलन मांग को सीमित रखने अर्थात मर्यादित उद्देश्य और उसको सुनिश्चित तथा स्पष्ट रखने के उदाहरण हैं। स्थानीय संघर्षों का कारण तो सुनिश्चित और स्पष्ट होता ही है, लेकिन राष्ट्रीय अहिंसक आन्दोलनों में भी गांधीजी ने इस सिद्धान्त को महत्त्व दिया। पहला आन्दोलन पंजाब और खिलाफत के अन्यायों को दूर करने के लिए था, यद्यपि सन् १९२० में श्री० सी० विजयराघवाचारियर और पं० मोतीलाल नेहरू के कहने से माँग में स्वराज्य को भी सम्मिलित कर लिया गया था।[१] इसी तरह सन् १९३०-३४ के दूसरे आन्दोलन में भी, जिसके बारे में गांधीजी को आशा थी कि वह पूर्ण स्वतन्त्रता का अन्तिम संघर्ष होगा, उन्होंने स्वराज्य की मांग को ११ शर्तों का रूप दिया था। पं० मोतीलाल नेहरू ने पहले तो गांधीजी की आलोचना की कि उन्होंने राष्ट्रीय मांग को नीचा कर दिया लेकिन उन्होंने जल्द महसूस किया कि ११ शर्तों के मान लिये जाने का अर्थ होगा स्वराज्य का सार मिल जाना। सन् १९४०-४१ का सत्याग्रह आन्दोलन उन्होंने स्वतन्त्र भाषण के अधिकार की रक्षा के लिए चलाया था और इस अधिकार को वह स्वराज्य की आधार-शिला, उसका बीज कहते थे।[२] इस आन्दोलन के कारण के बारे में वह लिखते हैं, "यह अधिकार एक समूर्त विषय है जिसकी परिभाषा करने की कोई आवश्यकता नहीं। वह स्वतन्त्रता का आधार है, विशेष रूप से जब उस स्वतन्त्रता को अहिंसक रीति से जीतना है। उसको समर्पण कर देना स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के एक मात्र साधन को समर्पण कर देना है। इसका अर्थ यह नहीं कि स्वराज्य की मांग अहिंसक संघर्ष का न्यायोचित विषय नहीं हो सकती, लेकिन गांधीजी यथासम्भव इस मांग को स्पष्ट सुनिश्चित शब्दों में रखने के पक्ष में थे। अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस कमेटी के ८ अगस्त, १९४२ के प्रस्ताव ने भी स्वतन्त्रता की मांग को युद्ध के खतरे के स्पष्ट संदर्भ

१. 'आत्मकथा', भा० ५, अ० ४२।

२. ह०, २२-८-४०, पृ० २६२।

में रक्खा था। इस प्रस्ताव की माँग थी कि अंग्रेज़ सत्ता भारतवर्ष से तात्कालिक आवश्यकता के कारण फौरन हट जाय, क्योंकि "उस शासन का चालू रहना भारतवर्ष को नीचे गिराता है, दुर्बल बनाता है और अपनी रक्षा के लिए और संसार की स्वतन्त्रता में सहायक होने के लिए क्रमशः अक्षम बनाता है।" प्रस्ताव के अनुसार अंग्रेज़ी आधिपत्य का अन्त स्वतन्त्रता और जनतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक था, क्योंकि केवल स्वतन्त्र भारत अपनी रक्षा कर सकता था और चीन और रूस को उनकी आवश्यकता के समय सहायता दे सकता था।[1]

देशी राज्यों में सत्याग्रह आन्दोलन के नेताओं को भी वह इसी तरह की राय देते थे। उदाहरण के लिए सन् १९३९ में उन्होंने ट्रावनकोर कांग्रेस के नेता को यह राय दी थी कि वह उस समय स्वराज्य की बात को भुला दें, राज्य-प्रबन्ध की तफ़सीली बातों पर ध्यान एकाग्र करें और जनता के प्राथमिक अधिकारों के लिए लड़े। गांधीजी ने कहा था, "अधिकारियों को उससे डर नहीं लगेगा और आपको उत्तरदायी शासन का भार प्राप्त हो जायगा।"[2]

कभी-कभी आलोचक गांधीजी की इस नीति की आलोचना करते हैं। उनका कहना है कि स्पष्ट, निश्चित अन्याय-विशेष एक व्यापक रोग के लक्षण हैं। उन लक्षणों को अलग करना और पृथकता में उनको दूर करने का प्रयत्न करना जनहित की उपेक्षा करना है, क्योंकि ऐसा करने से जनता वास्तविक उद्देश्य को भुला बैठती है।

लेकिन गांधीजी के मत का उनके मूलभूत सिद्धान्तों से अटूट सम्बन्ध है और साथ ही साथ वह व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी बहुत लाभदायक है। सुनिश्चितता और स्पष्टता सत्य के साथ तो मेल खाती ही है, इसके अतिरिक्त भ्रम के लिए गुंजाइश नहीं रहती और बात अन्याय-पीड़ित जनता की समझ में सुगमता से आ जाती है और उसकी सहायता तथा सहानुभूति सत्याग्रही को प्राप्त हो जाती है। अल्पतम मांग कुछ अंश में विपक्षी के संदेह को कम करती है। आक्रमणशीलता हिंसा है और मांग को अल्पतम रखना इस बात का लक्षण है कि सत्याग्रह आवश्यक रूप से बचाव की लड़ाई है। इसके अतिरिक्त यदि किसी सुनिश्चित, मर्यादित विषय में जनता को अहिंसा की रीति से सफलता प्राप्त हो जाती है तो जनता की नैतिक शक्ति विकसित होती है और उसमें अधिक व्यापक शिकायतों और अन्यायों को दूर करने की क्षमता आती है। एक बार गांधीजी ने कहा था, "यदि मैं केवल स्वराज्य की ही

१. अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस कमेटी का ८ अगस्त सन् १९४२ का प्रस्ताव।
२. ह०. २४-६-३९, पृ० १७५।

बातें करता रहता तो मेरे किये धरे कुछ न हो पाता। तफ़सील की बातों पर ध्यान एकाग्र करने से हमारी शक्ति में वृद्धि होती रही है।"[1]

जब संघर्ष शुरू हो जाता है तो सत्याग्रही समूह की शक्ति बढ़ जाने पर भी बिना उचित कारणों के अपनी मांग न बढ़ाना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि सत्याग्रह के आरम्भ होने के समय कोई शिकायत मौजूद थी और मांग में यह शामिल नहीं था कि वह दूर कर दी जाय, तो बाद में उद्देश्य को बढ़ाने के लिए उसको नहीं शामिल करना चाहिए। दूसरी ओर यदि सत्याग्रह की लड़ाई में विरोधी वचन-भंग करे या कोई दूसरा अन्याय करे तो उनसे सम्बन्धित नई मांगें न्यायोचित हो सकती हैं। इस दृष्टिकोण से जैसे-जैसे प्रतिपक्षी सत्याग्रही के बीच में नई आपत्तियाँ उपस्थित करता है और सत्याग्रह की लड़ाई बढ़ती जाती है त्यों-त्यों प्रतिपक्षी अपनी हानि और सत्याग्रही का फ़ायदा ही करता है। इस प्रकार 'वृद्धि का नियम' सत्याग्रह के युद्ध में लागू होता है और उसके परिणाम में वृद्धि होती जाती है।[2]

प्रतिरोध-पद्धति के सम्बन्ध में सातवें अध्याय में वर्णित व्यक्तिगत प्रतिरोध के सिद्धांत आवश्यक घटाव-बढ़ाव के साथ सामूहिक प्रतिरोध में भी लागू हैं। सत्याग्रही प्रतिरोध में उन पृथक् कार्यों की अपेक्षा जिसमें अहिंसा की अभिव्यक्ति होती है अहिंसा की भावना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी कारण गांधीजी इस बात पर ज़ोर देते थे कि सत्याग्रही नेता को पूरी तरह से अहिंसावादी होना चाहिए, क्योंकि अहिंसा में जीवित श्रद्धा के बिना किसी संकटपूर्ण स्थिति में वह अहिंसक मार्ग को न खोज सकेगा।[3] इसी कारण गांधीजी सत्याग्रही के अनुशासन की पर्याप्तता पर भी ज़ोर देते थे, और कहते थे कि अहिंसक लड़ाई का प्रारम्भ ठीक तरह से शुद्धतम मनुष्यों द्वारा होना चाहिए। गांधीजी का विश्वास था कि इन बातों के अतिरिक्त प्रत्येक सामूहिक सत्याग्रह की परिस्थिति अलग होती है और एक ही आन्दोलन में भी परिस्थिति बदलती रहती है। इस प्रकार सत्याग्रही सेनापति को अपनी दृष्टि की शुद्धता पर निर्भर रहकर परिस्थिति की आवश्यकता के अनुसार प्रतिरोध का रूप निश्चित करना पड़ता है। जिस प्रकार साधारण फौज का सेनापति परिवर्तनशील परिस्थिति और युद्ध-कौशल के अनुसार अपनी योजनाओं और आज्ञाओं को बदलता रहता है उसी प्रकार सत्याग्रही सेनापति भी करता है। बाह्य परिस्थिति के अतिरिक्त उसको स्वयं अपनी भी छान-बीन करनी पड़ती

१. ह०, २४–६–१९३९, पृ० १७५।

२. 'दक्षिण अफ्रीका' उत्तरार्ध, अ० ३ और १४ और पृ० ३१-३४।

३. यं० इं०, २७-२-१९३०।

है और अपनी आन्तरिक आवाज़ को ध्यान से सुनना पड़ता है।[1] प्रत्येक दशा में लागू होने वाली विस्तृत प्रतिरोध-योजना को जानने और तैयार करने का प्रयत्न जीवन की प्रक्रिया की तर्कपूर्ण बौद्धिक योजना-मात्र का रूप देने का प्रयत्न है और यह अनावश्यक, अव्यावहारिक और असम्भव है। इसीलिए गांधीजी प्रायः कहते थे कि उनके लिए केवल एक पग आगे देख पा सकना काफ़ी था। सन् १९३९ में उन्होंने लिखा था, "मुझसे यह बताने की आशा न कीजिए कि यदि सविनय आज्ञा-भंग का प्रयोग हुआ तो मैं किस प्रकार उसका प्रारम्भ करूंगा। मेरे पास कुछ भी छिपा हुआ नहीं है और मुझे अन्तिम क्षण तक कुछ भी मालूम न होगा। मैं इसी प्रकार निर्मित हूँ। मुझे नमक-यात्रा के बारे में लगभग उस क्षण तक कुछ भी मालूम नहीं था जब उसका निश्चय हुआ था। मैं यह जानता हूँ कि ईश्वर ने शायद ही कभी मुझ से इतिहास की पुनरावृत्ति करवाई हो और शायद इस बार भी ऐसा न करे।"[2] इसलिए हम पिछले दृष्टान्तों के आधार पर सामूहिक प्रतिरोध के केवल सामान्य सिद्धांतों का विवेचन करेंगे।

सातवें अध्याय में अहिंसक प्रतिरोध का उद्देश्य, उस उद्देश्य की कसौटी और लड़ाई के प्रारम्भ के पहले समझाने-बुझाने के और समझौते के प्रयत्न के महत्त्व का वर्णन हो चुका है। यह सब सिद्धान्त सामूहिक सत्याग्रही प्रतिरोध में उसी प्रकार लागू है जिस प्रकार वैयक्तिक प्रतिरोध में।

अगोपनीयता

गांधीजी सत्याग्रह में प्रकट, खुले हुए कार्यों पर ज़ोर देते थे। एक बार अमेरिकन लेखक अप्टन क्लोज़ ने उनको राजनैतिक सच्चाई का संसार में सर्व-श्रेष्ठ दृष्टान्त और प्रकट साधनों द्वारा सिद्ध प्रकट राजनीति के आदर्श का एक-मात्र सच्चा अनुगामी बताया था।[3] उनके लिए किसी भी मूल्य पर सत्य की साधना एकमात्र राजनीति थी और इसमें किसी भी छिपी हुई बात की गुंजाइश नहीं थी। उन्होंने सन् १९३१ में लिखा था, "जिस तरीक़े को हम अपना रहे हैं उसमें जाल, झूठ बोलने, धोखेबाज़ी, असत्य और हिंसा के तमाम बदसूरत कुटुम्बियों के लिए बिल्कुल ही गुंजाइश नहीं। हरएक काम खुल्लमखुल्ला किया जाता है; क्योंकि सत्य गोपनीयता से घृणा करता है।

१. ह०, १०-६-३९, पृ० १५८।

२. ह०, २-१२-३९, पृ० ३६२।

३. नटेसन, 'महात्मा गांधी, दि मैन एण्ड हिज मिशन" ऐप्रीसियेशन्स, पृ. ३०।

जितना अधिक आप खुले होंगे, उतना ही अधिक आपके सत्यपूर्ण होने की सम्भावना है।"[१]

गोपनीयता का अभाव साधनों की शुद्धता की गारंटी है, क्योंकि अशुद्धता प्रकाश से भागती है और छिपने का प्रयास करती है। खुले कार्य करना सत्याग्रह को परिणाम की परवाह न करके निर्भयता और अवज्ञा की खुली, शुद्ध लड़ाई बना देता है। वह नैतिक उच्चता का प्रतीक है और सभी के, विरोधी के, तटस्थों के और अपने पक्ष के व्यक्तियों के, उच्चतम अंश को प्रभावित करता है। वह सत्याग्रही अनुगामियों के अनुशासन को दृढ़ करता है और जनता और विपक्षी की दृष्टि में उनके सम्मान को बढ़ाता है और इसलिए विपक्षी के अनुशासन को ढीला करता है।

खुल्लमखुल्ला कार्य अच्छा प्रचार भी है। सत्याग्रह की ख़बर दूर-दूर फैल जाती है और बाद में लगाए गए प्रतिबन्धों को बेकार कर देती है। खुल्लमखुल्ला कार्य व्यावहारिक भी है। वास्तव में, जैसा कि गांधीजी ने सन् १९४० में एक वक्तव्य में कहा था, "कोई गुप्त आन्दोलन न तो कभी जन-आन्दोलन बन सकता है और न लाखों व्यक्तियों को सामूहिक कार्य के लिये प्रेरित कर सकता है।"[२]

हिंदुस्तान के और दक्षिण अफ्रीका के सभी सत्याग्रह के आन्दोलनों में गांधीजी सदा अपनी युद्ध-योजना की सूचना सरकार को पहिले से ही दे देते थे। उनका विश्वास था कि अगर पर्याप्त सूचना न दी जाय, तो अहिंसक प्रतिरोध अनैतिक और दोषपूर्ण हो जायगा। सन् १९४०-४१ के व्यक्तिगत सविनय आज्ञा-भंग के आन्दोलन में उन्होंने इस बात पर पहले से अधिक ज़ोर दिया। प्रत्येक सत्याग्रही को कई दिन पहले अपने सविनय आज्ञाभंग की विस्तृत सूचना सरकार को भेजनी पड़ती थी। कांग्रेस कमेटियों को इस बात की हिदायत थी कि वह गुप्त हिसाब या गुप्त धन न रखें।[३]

इसके विपरीत छिपाव से मालूम होता है कि सत्याग्रही विपक्षी से डरता है, उसके दिये हुए दण्ड से बचना चाहता है और अपने चारों ओर बचाव की दीवाल खड़ी करना चाहता है। अहिंसा इस प्रकार के बचाव से घृणा करती है अधिकतम शक्तिशाली विपक्षी का सामना खुलकर करती है। छिपाव से यह भी प्रकट होता है कि सत्याग्रही संदेहपूर्ण साधनों द्वारा शीघ्र सफल होने को उत्सुक है। इसलिये छिपाव सत्याग्रह की नैतिकता और प्रतिष्ठा को दूर करके

१. यं० इं०, २१-१२-१९३१।
२. २१-१०-४० का गांधीजी का वक्तव्य।
३. ह०, १३-४-४०, पृ० ८९।

उसको केवल-मात्र चतुरता की लड़ाई में परिणत कर देता है। इस प्रकार वह सत्याग्रह के लिये घातक है। गांधीजी के शब्दों में, "कोई भी गुप्त संगठन, चाहे जितना बड़ा क्यों न हो, कुछ भी अच्छाई नहीं कर सकता।"[1]

सन् १९३०-३४ के सत्याग्रह आन्दोलन में जब सरकारी दमन बहुत कठोर हो गया तो सत्याग्रही गुप्त साधनों का प्रयोग करने लगे। लेकिन आन्दोलन में ढीलापन और दुर्बलता आ गई। गांधीजी ने जेल से छूटने पर इस ढीलेपन के लिये और जनता में उत्साह की कमी के लिये बहुत कुछ छिपाव के साधनों को उत्तरदायी ठहराया।[2]

इसी प्रकार गांधीजी के अनुसार सरकारी सम्पत्ति का विनाश भी अहिंसक प्रतिरोध के आन्दोलन का भाग नहीं हो सकता। यह विनाश एक प्रकार की हिंसा है। "यदि प्रत्येक व्यक्ति पुलों, यातायात के साधनों, सड़कों आदि के विनाश के अधिकार का इसलिये दावा करे कि वह सरकार के कुछ कार्यों को ठीक नहीं समझता, तो राष्ट्रीय सरकार भी एक दिन न चल सकेगी। इसके अतिरिक्त बुराई पुलों, सड़कों, इत्यादि में—जो निर्जीव वस्तुएँ हैं—नहीं है, बल्कि मनुष्यों में है...विस्फोटक साधनों द्वारा पुलों आदि का विनाश इस बुराई को दूर नहीं करता, बल्कि उस बुराई के स्थान में जिसको वह दूर करना चाहता है अधिक निकृष्ट बुराई को उकसाता है।"[3]

संख्या और धन

सत्याग्रह आन्दोलन में गांधीजी संख्या और धन के प्रति उदासीन थे। उन्होंने बार-बार कहा है कि सत्याग्रह की सफलता भौतिक नहीं नैतिक और आध्यात्मिक साधनों पर निर्भर है।

वह जनता के सहयोग की उपेक्षा नहीं करते थे और न उसके महत्व को कम आंकते थे। सन् १९१९ में हंटर कमेटी के सामने उन्होंने कहा था कि यदि उनको अहिंसा के सिद्धान्त के अनुसार कार्य करने को तैयार १० लाख मनुष्य मिल जांय तो वह उनको सत्याग्रही-सेना में भर्ती करने में आगा-पीछा न करेंगे।[4] वह यह भी मानते थे कि सामूहिक सत्याग्रह का आंदोलन बिना जनसाधारण की सहायता और अनुशासन के असंभव है।[5] लेकिन यदि

१. ह०, १०-२-४६, पृ० ८।
२. उनका ५-५-३३ का वक्तव्य।
३. ह०, १०-२-४६, पृ० २।
४. यं० इं०, भा० १, पृ० १७।
५. 'साउथ अफ्रीका', पृ० २०४।

अनुशासन ठीक न हो तो संख्या दुर्बलता का स्रोत है। इसके अतिरिक्त सत्याग्रह सामूहिक हुए बिना भी सफल हो सकता है। और सफलता संख्या-शक्ति पर नहीं, सत्याग्रहियों की, बिना विरोधी के प्रति दुर्भावना के, सत्य के लिए कष्ट-सहन की क्षमता पर अवलम्बित है, उन सत्याग्राहियों की संख्या चाहे जितनी कम क्यों न हो। गांधीजी के शब्दों में "मैं परिमाण की लगभग उपेक्षा करके गुण (नैतिक उत्कृष्टता) को अधिकतम महत्त्व देता हूं... संख्या जब ठीक अनुशासन में रह कर एक मनुष्य की भांति कार्य करती है तो वह अजेय हो जाती है। जब प्रत्येक व्यक्ति अपने रास्ते चलता है या जब कोई नहीं जानता कि वह किस रास्ते चले तो वह स्वयं-विनाशक शक्ति बन जाते हैं। मुझे विश्वास है कि जबतक हम एकता, ठीक-ठीक कार्य करने की क्षमता और बुद्धिपूर्ण सहकारिता और सहानुभूति का विकास नहीं करते, तबतक कम संख्या में सुरक्षा है।"[1] "सत्याग्रह में संख्या का महत्त्व नहीं होता। सुसंगठित और अनुशासन पूर्ण मुट्ठीभर सच्चे सत्याग्रही भी जनता की स्वार्थरहित सेवा द्वारा भारतवर्ष को स्वतंत्र कर सकते हैं।"[2]

संख्या की ओर गांधीजी की उदासीनता आत्म शक्ति के बारे में उनके विश्वास का निष्कर्ष है। सत्याग्रही का अवलम्ब उसके संकीर्ण, सीमित, पृथक् शरीर की शक्ति नहीं, उसकी आत्मा की शक्ति है जो संपूर्ण संसारभर की भौतिक शक्ति की उपेक्षा कर सकती है। जब किसी व्यक्ति को ईश्वर और आत्मा में अडिग आस्था होती है तो वह आवश्यक सहारे और सहायता के लिए स्वयं अपने पर आश्रित रहता है।

गांधीजी नैतिक उत्कृष्टता पर इसलिए ज़ोर देते हैं कि वह संक्रामक होने के कारण वृद्धिशील होती है, और नैतिकताविहीन संख्या प्रभावहीन होती है। गांधीजी इसको सत्याग्रह में 'वृद्धि का नियम' कहते हैं। शुद्धता के कारण ही दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रहियों की संख्या जो एक समय केवल १६ थी, सत्याग्रह की लड़ाई के अंत के क़रीब बढ़ कर ६०००० हो गई थी।

इसके अतिरिक्त सत्याग्रह में सफलता संख्या पर नहीं बल्कि अन्यायी के साथ सहयोग न करने पर और उसका प्रतिरोध करने पर अवलम्बित होती है। इसलिए "लड़ने वाले के लिए लड़ाई ही जीत है, क्योंकि उसको केवल लड़ने में आनन्द आता है। उसका विश्वास है कि जीत या हार .... स्वयं उसके ऊपर अवलम्बित है।"[3] फिर, क्योंकि सत्याग्रही फौज बदले की भावना से

१. यं० इ०, भा०२, पृ० ५०३।
२. ह०, २५-३-३६, पृ० ६७।
३. 'साउथ अफ्रीका', पृ० ३६४।

मुक्त होती है, इसलिए उसमें सिपाहियों की कम-से-कम संख्या की आवश्यकता होती है।[1]

इन्हीं विचारों से मिलते-जुलते गांधीजी के विचार सत्याग्रह में धन के स्थान के बारे में थे। उन्होंने अनेक हलचलों के लिए करोड़ों रुपये एकत्रित किए थे और धन को युद्ध का साधन मानते थे।[2] सन् १९२१ में उन्होंने जनता से अपील की थी कि वह तिलक-स्वराज्य फंड में जितना धन दे सकें दें। सन् १९२७ में उन्होंने लिखा था, "इस फंड से महान राष्ट्रीय प्रयोजन सिद्ध हुआ है। उस शक्तिशाली संगठन का, जो एकदम खड़ा हो गया है, निर्माण इस महान् राष्ट्रीय फंड के बिना असंभव था... ।"[3] लेकिन याद रखना चाहिए कि वास्तव में गांधीजी धन की ओर से उदासीन थे। धन के प्रति उनकी मानसिकता का निर्धारण अपरिग्रह के आदर्श द्वारा होता है। उनका विश्वास था कि सत्याग्रह में धन का अल्पतम महत्व होता है।[4] धन स्वयं सत्याग्रह आंदोलन की उन्नति में सहायक नहीं हो सकता। दीर्घकालीन अनुभव से उनका यह विश्वास हो गया था कि सत्याग्रही के लिए यह आवश्यक है कि वह धन पर आश्रित रहना छोड़ ही दे, क्योंकि कोई भी आन्दोलन या कार्य जिसका नेतृत्व अच्छे और सच्चे आदमियों के हाथ है, धन की कमी से न तो रुकता है न ढीला पड़ता है।[5] दूसरी ओर आर्थिक निश्चितता का आवश्यक परिणाम होता है आध्यात्मिक दिवालियापन।[6]

गांधीजी का यह भी मत था कि "किसी भी सार्वजनिक संस्था को स्थायी कोष पर निर्वाह करने का प्रयत्न न करना चाहिए; क्योंकि इसमें नैतिक अधोगति का बीज समाया रहता है। सार्वजनिक संस्था का अर्थ है जनता की अनुमति और धन से चलनेवाली संस्था। जब जनता की सहायता मिलना बन्द हो जाए तब इसे जीवित रहने का अधिकार नहीं है। स्थायी संपत्ति पर चलने वाली संस्थाएँ प्रायः लोकमत की उपेक्षा करती देखी जाती हैं और कितनी ही बार तो लोकमत के विपरीत भी आचरण करती हैं। वार्षिक चंदा संस्था की लोकप्रियता और उसके संचालकों की ईमानदारी की कसौटी है

---

१. यं० इं०, भा० १, पृ० ६३५।
२. 'स्पीचेज', पृ० ५८४।
३. यं० इं०, भा० ३, पृ० १०२।
४. 'आत्मकथा' भा० ५, अ १४।
५. 'साउथ अफ्रीका' पृ० २०२।
६. ह०, १०-१२-३८, पृ० ३७१।

और मेरा यह मत है कि प्रत्येक संस्था को चाहिए कि वह अपने को इस कसौटी पर कसे।" गांधीजी उधार रुपये से सार्वजनिक संस्थाओं को चलाने के भी विरुद्ध थे।[1]

शायद यह बताना अनावश्यक है कि सत्याग्रह आर्थिक प्रलोभन देने से या स्वयंसेवक नौकर रखने से मेल नहीं खाता। इस प्रकार के स्वार्थपूर्ण उद्देश्य से सत्याग्रह में भाग लेने वाले अवसरवादी व्यक्ति आन्दोलन को निर्जीव और यन्त्रवत् बना देंगे। लेकिन यदि संभव हो तो निर्धन स्वयंसेवकों को और जब वह जेल में हों या मार डाले गए हों तो उनके आश्रितों को भरण पोषणमात्र के लिए धन देने में कुछ भी अनुचित नहीं है।

बहुत कुछ गांधीजी के ही कारण भारत में स्वतन्त्रता की लड़ाई में धन का व्यय इतना कम हुआ और कांग्रेस में अवैतनिक स्वार्थ रहित कार्यकर्ताओं की इतनी बड़ी संख्या थी। धन के भ्रष्टकारी प्रभाव से दूषित जनतन्त्र को धन की ओर गांधीजी के बुद्धिमतापूर्ण रुख से बहुत कुछ सीखना चाहिए।

गांधीजी का मत था कि सत्याग्रही आन्दोलन में नेता को धन और मनुष्यों के लिए यथासम्भव उसी स्थान पर निर्भर रहना चाहिए जिसको उस शिकायत से— जो लड़ाई का कारण है—प्रत्यक्षरूप से हानि पहुंचती है। उनके शब्दों में, "यह सत्याग्रह का सार है कि केवल उन्हींको सत्याग्रह करना चाहिए जो कष्ट उठा रहे हैं।"[2]

सत्याग्रह को स्थानविशेष में मर्यादित करने और बाहरी सहायता को रोकने का कारण यह है कि "सत्याग्रह का मूलभूत विचार है अन्यायी का हृदय-परिवर्तन करना, उसमें न्याय-भावना जगाना, और उसको यह दिखाना कि बिना पीड़ितों के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहयोग के वह इच्छित अन्याय नहीं कर सकता। यदि लोग अपने हितों के लिये कष्ट सहने को तैयार नहीं हैं तो सत्याग्रह के रूप में किसी भी बाहरी सहायता से सम्भवतः सच्चा छुटकारा नहीं मिल सकता।"[3] इस प्रकार अन्यायी के हृदय-परिवर्तन का सर्वश्रेष्ठ साधन है अन्याय से पीड़ित स्थानीय लोगों का बलिदान। बाहरवालों का बलिदान हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया में विघ्न डालता है और कटुता को बढ़ा देता है। इसके अतिरिक्त स्वावलंबन और स्थानीय उत्तरदायित्व का सिद्धान्त मनुष्यों को अपनी लड़ाई अपने आप लड़ने पर बाध्य करता है

१. 'आत्म कथा', भा० २, अ० ४; महादेव देसाई, 'डायरी', भा० १, पृ० ७७।
२. ह०, १०-१२-३८, पृ० ३६६।
३. ह० १०-१२-३८, पृ० ३६६।

और उनकी प्रसुप्त शक्तियों को विकसित करता है। लोगों में उनकी शक्ति की चेतना आती है और वह इस योग्य हो जाते हैं कि अन्याय से छुटकारा पा जायं। बाहरी सहायता—वह चाहे जिस परिमाण में क्यों न हो—इस आत्म-प्रयास का स्थान नहीं ले सकती।

सामूहिक अहिंसक प्रतिरोध के प्रधान शस्त्र हैं असहयोग, सविनय आज्ञा-भंग, उपवास, हिजरत, धरना, आर्थिक बहिष्कार और सामाजिक बहिष्कार।

असहयोग

वैयक्तिक संबंधों में अनुपम प्रतिरोध-शस्त्र होने के साथ-साथ असहयोग श्रेष्ठ राजनैतिक प्रतिकार-साधन भी है।

सरकारें अक्सर गलतियां करती हैं और उनको अन्यायपूर्ण रीति से शासन करने का दैवी अधिकार नहीं है। गांधीजी का कहना था कि सरकार का आधार उसकी शक्ति या जनता की निष्क्रिय सम्मति नहीं; बल्कि उसका सक्रिय सहयोग है। इसलिए जनता के सहयोग और सहायता से हाथ खींच लेने का परिणाम है राजनैतिक व्यवस्था का पूरी तरह पंगु और शक्तिहीन हो जाना और उसका अन्त। "अधिकतम निरंकुश शासन भी जनता की सम्मति के बिना नहीं चल सकता, और यह सम्मति प्रायः निरंकुश शासक बलपूर्वक प्राप्त करता है। जैसे ही जनता स्वेच्छाचारी शक्ति से डरना छोड़ देती है, उसकी (शासन की) शक्ति जाती रहती है।"[1]

साधारण रीति से नागरिक का कर्तव्य है क़ानूनों को मानना और सरकार का कर्तव्य है जनता की नैतिक भावनाओं, हितों और इच्छाओं की उपेक्षा न करना। सरकारी आज्ञाओं का पालन बिना सोचे समझे नहीं करना चाहिए क्योंकि यह दासता का लक्षण है। यदि सरकार जनता की भावनाओं के प्रतिकूल चलती है, यदि उसका शासन अनैतिक और अन्यायपूर्ण है तो सरकार के साथ असहयोग करना जनता का अधिकार भी है और कर्त्तव्य भी। गांधीजी लिखते हैं "बुरा शासन करने वाले शासक की सहायता करने से इन्कार कर देना जनता का प्राचीन काल से माना हुआ अधिकार है।"[2] जो बात सरकार के लिए ठीक है वही दूसरे शोषक समुदायों और संस्थाओं को भी लागू है।

सरकार के विरुद्ध प्रयुक्त होने पर "असहयोग का प्राथमिक प्रेरक हेतु है आत्मशुद्धि के लिए अनैतिक और पश्चाताप न करने वाली सरकार के साथ

---

१. यं० इं०, भा० १, पृ० २०५।

२ 'स्पीचेज़', पृ० २०५।

सहयोग से हाथ खींच लेना। दूसरा उद्देश्य है सरकारी नियन्त्रण या देखभाल से स्वतन्त्र होकर असहाय होने की भावना से छुटकारा पाना, अर्थात् यथासंभव सभी मामलों में स्वयं अपने आप पर शासन करना; और इन दोनों उद्देश्यों को पूरा करने में किसी व्यक्ति या सम्पत्ति को नुकसान पहुँचाने या नुकसान पहुंचाने की प्रेरणा देने या उनके प्रति हिंसा करने से बचाना।"[1]

सत्याग्रहियो की आत्म-शुद्धि का अर्थ है ऐसी महान नैतिक शक्ति का विकास जो सरकार के घमंड को तोड़ देगी और उसे न्याय करने पर विवश करेगी। यदि सरकार अनैतिक मार्ग को नहीं छोड़ती और न्याय करने से इन्कार कर देती है तो असहयोग शासन की जड़ उखाड़ देता है और सरकार को पंगु बना देता है।

जैसा कि उद्देश्य से प्रकट है, असहयोग केवल निषेधात्मक ही नहीं है, वह जनता का सरकार के साथ सहयोग करने से जानबूझ कर केवल इन्कार करना ही नहीं है, असहयोग का विधायक पक्ष भी है। विधायक पक्ष है आन्तरिक विकास, जनता में आपसी सहयोग का विकास। असहयोग के बाह्य निषेधात्मक पक्ष की सफलता विधायक आन्तरिक पक्ष की सफलता के अनुपात मे होती है। इसी कारण गांधीजी जनता की राजनैतिक शिक्षा पर इतना अधिक ज़ोर देते थे। जनता के आपसी सहयोग के बिना न तो असहयोग व्यापक ही हो सकता है और न अहिंसक ही, और दोनों ही हालतों मे वह कारगर नही हो सकता। इस आन्तरिक विकास के अभाव मे यदि असहयोग अहिंसक और कारगर भी हो तो भी सरकार के पतन के बाद असहयोगियों के लिए सामाजिक व्यवस्था को सुरक्षित रखना असम्भव हो जायगा और परिणामस्वरूप अराजकता फैल जायगी। इसी कारण जनता द्वारा असहयोग के प्रयोग में और सामाजिक व्यवस्था को सुरक्षित रखने की उनकी क्षमता मे सामञ्जस्य रहना चाहिए।

गांधीजी के अनुसार असहयोग का प्रमुख प्रेरक हेतु घृणा या निराकरण-शीलता नहीं बल्कि विधायक प्रवृत्ति है। गांधीजी के शब्दों में "निस्सन्देह असहयोग ऐसी शिक्षा है जो जनमत को विकसित करती है और निश्चित और स्पष्ट बनाती है और जैसे ही वह (जनमत) फलप्रद कार्य्य के लिए संगठित हो जायगा, हमें स्वराज्य मिल जायगा।"[2]

लेकिन असहयोग के इस विधायक स्वरूप, आंतरिक सहयोग का विकास, स्वेच्छा से होना चाहिए। सत्याग्रही को दूसरों के मत-स्वातन्त्र्य और कार्य-

१. य० इ०, भा० १, पृ० ४२।
२. 'सत्याग्रह', पृ० २४।

स्वातन्त्र्य के अधिकार का आदर करना चाहिए और उनको भ्रमपूर्ण मार्ग से बचाने के लिए केवल समझाने-बुझाने पर ही निर्भर रहना चाहिए। बल-पूर्वक सहयोग को विकसित करने का प्रयत्न हिंसा है और हिंसा केवल बुराई को जीवित रखती है और बढ़ाती है। इसके अतिरिक्त केवल स्वेच्छा पर निर्भर सहयोग ही जनता की भावना और असन्तोष की परख हो सकती है[1], और "जो अपने को बलन या ज़बरदस्ती के कारण असहयोगी कहते हैं वह असहयोगी नहीं हैं।"[2] इसलिए असहयोग के अहिंसक होने के लिए यह आवश्यक है कि असहयोगी मतभेद के प्रति सहिष्णु रहें और भिन्न मन्तव्यों की स्वतन्त्रता का आदर करें।

हड़ताल

सत्याग्रही असहयोग के विकास के लिए अहिंसक साधनों का, विशेष रूप से हड़ताल, सामाजिक बहिष्कार और धरने का प्रयोग करते हैं।

हड़ताल का अर्थ है विरोध-प्रदर्शन के लिए व्यवसाय को कुछ काल के लिए बन्द कर देना। हड़ताल का उद्देश्य है जनता और सरकार के मन को प्रभावित करना।[3] लेकिन हड़ताल बार-बार न होनी चाहिए नहीं तो उसका फल-प्रद होना रुक जायगा।[4] इसके अतिरिक्त हड़ताल नितान्त स्वेच्छा पर अवलम्बित होनी चाहिए। लोगों से कार्य स्थगित कराने के लिए समझाने-बुझाने और प्रचार के दूसरे अहिंसक साधनों का ही प्रयोग करना चाहिए। नौकरों से—जबतक उनको नौकर रखने वालों की आज्ञा न मिल जाय—काम बन्द करने के लिए न कहना चाहिए।

सामाजिक बहिष्कार

सामाजिक बहिष्कार में हड़तालों की अपेक्षा कहीं अधिक दुरुपयोग की सम्भावना है। बहिष्कार प्रयोग के अनुसार अहिंसक भी हो सकता है और हिंसक भी। गांधीजी महसूस करते थे कि सामाजिक जीवन में कुछ अंश में सामाजिक बहिष्कार से बचना असम्भव है, लेकिन किसी समाज में उन लोगों के विरुद्ध—जो जनमत की अवज्ञा करते हैं और असहयोगियों का साथ नहीं देते—बहिष्कार का प्रयोग बहुत मर्यादित रूप में ही हो सकता है।

---

१. यं० इं०, भा० १, पृ० १४६।
२. 'सत्याग्रह', पृ० २४।
३. यं० इं०, भा० १, पृ० २३।
४. यं० इं०, भा० १, पृ० २५८।

भारतवर्ष में सामाजिक बहिष्कार भयंकर और कारगर प्राचीन प्रथा है और वह जाति-प्रथा की समकालीन है। उसका आधारभूत विचार यह है कि समाज के लिए यह ज़रूरी नहीं कि वह बहिष्कृत को आतिथ्य दे। जब गाँव सामंजस्यपूर्ण, स्वावलम्बी इकाई थे और व्यक्ति द्वारा समाज की अवज्ञा के अवसर बहुत कम होते थे, उस समय सामाजिक बहिष्कार का साधन बहुत उपयोगी था। लेकिन आधुनिक जटिल परिस्थिति में जब जनता में किसी प्रश्न के बारे में गहरा मतभेद हो, गांधीजी के अनुसार, अल्पमत को बहुमत की बात मानने को विवश करने के लिए इस साधन का प्रयोग असभ्य हिंसा का एक प्रकार है।[1]

लेकिन कुछ असाधारण परिस्थितियों में जब कोई अवज्ञाकारी अल्पमत, सैद्धान्तिक कारण से नहीं, केवल अवज्ञा के या उससे भी अपकृष्ट कारण से बहुमत की बात मानने से इन्कार कर दे, तब सामाजिक बहिष्कार का प्रयोग हो सकता है।[2] लेकिन यह तभी कारगर हो सकता है और उसी दशा में इसका प्रयोग भी करना चाहिए जब बहिष्कृत को वह दंड की भाँति न लगे, बल्कि अनुशासन-कार्य मालूम हो।[3] बहिष्कृत उसको अनुशासन की तरह तभी स्वीकार करेंगे जब वह अहिंसक होगा, अर्थात् जब वह सभ्योचित होगा और उसमें अमानुषिकता की गंध न आएगी। उसके अहिंसक होने के लिये यह भी आवश्यक है कि अगर उससे बहिष्कृत को असुविधा हो तो प्रयोग करने-वालों को दुःख महसूस हो।[3]

सामाजिक बहिष्कार का यह अर्थ न होना चाहिए कि किसी मनुष्य को आवश्यक सामाजिक सेवाओं से वञ्चित किया जाय, अर्थात् उसके नौकर से उसकी नौकरी छोड़ देने को कहा जाय, उसको खाना या कपड़ा पाने से रोका जाय या उसको डाक्टर की सेवाओं से वञ्चित रक्खा जाय। ऐसा करना हिंसा और बल-प्रयोग है। इसी प्रकार यदि मनुष्य बेसबी से किसी व्यक्ति के जीवन को गाली, अपमान आदि से असह्य बना दे, तो वह हिंसक बहिष्कार का दृष्टांत होगा। दूसरी ओर यदि कोई पादरी अपने सम्मान की अपेक्षा अन्यायी सरकार से मिली उपाधि की अधिक क़द्र करे और उसके गिरजाघर में आने-वाले उसके नेतृत्व में प्रार्थना करने से इन्कार कर दें तो वह शान्तिमय बहिष्कार का दृष्टान्त होगा। इसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति को, जो किसी महत्त्वपूर्ण मामले में दृढ़, स्पष्ट जनमत की अवज्ञा करता है, सामाजिक सेवाओं से नहीं,

१. य० इं०, भा० १, पृ० २६६।
२. य० इं०, भा० १, पृ० २६८।
३. य० इं०, भा० १, पृ० ३००।

बल्कि सामाजिक सुविधाओं और रिआयतों से वञ्चित रक्खा जाय, तो उसमें कोई हिंसा की बात न होगी। दृष्टांत के लिए भोजों में निमंत्रण या भेंट देना इत्यादि ऐसी रिआयतें हैं जिन्हें रोक देना अनुचित न होगा। इस मर्यादित रूप में भी सामाजिक बहिष्कार का प्रयोग थोड़े से निश्चित अवसरों पर ही करना चाहिए और हर हालत में बहिष्कार करने वालों को इस साधन का प्रयोग स्वयं अपने को जोखिम मे डाल कर ही करना चाहिए।[1]

धरना

जब धरने का प्रयोग अहिंसक प्रतिरोध के साधन के रूप मे हो तब उसको बल प्रयोग से बचना चाहिए और केवल समझाने-बुझाने पर निर्भर होना चाहिए। भारत में सन् १९२०-२२ और १९३०-३४ के अहिंसक आन्दोलनों मे गांधीजी ने शराब, अफ़ीम और विदेशी कपड़े की दुकानों पर धरना देने की राय दी थी। दूसरे आंदोलनो मे यह कार्य लगभग सभी स्थानों में केवल स्त्रियों ने ही किया था। लेकिन गांधीजी इसके विरुद्ध थे कि धरना देने वाले किसी स्थान को इस प्रकार घेर कर एक दीवार सी बनाकर बैठ जायं या लेट जायं कि कोई भी मनुष्य बिना धरने देने वालों के शरीर पर पैर रक्खे उस स्थान में आ या वहाँ से बाहर जा न सके। इस प्रकार के धरने को गांधीजी हिंसक और बर्बरतापूर्ण बताते थे। बल-प्रयोग का भद्दा तरीका होने के कारण वह बर्बरतापूर्ण है। वह हिंसा से भी बदतर है क्योंकि "अगर हम अपने विरोधी से लड़ते हैं तो हम उसे कम-से-कम बदले में चोट करने देते हैं। लेकिन जब हम यह जान कर उसे अपने ऊपर चलने की चुनौती देते हैं कि वह ऐसा न करेगा तो हम उसकी स्थिति को अधिक-से-अधिक भद्दी और उसके सम्मान को गिराने वाली बना देते हैं"।[2]

शांतिमय धरने का उद्देश्य जो मनुष्य कोई विशेष कार्य करना चाहता है उसका रास्ता रोकना नहीं बल्कि यह है कि जनमत की शक्ति पर निर्भर रहा जाय, जनमत की अवज्ञा करनेवालों को चेतावनी दी जाय और उनको लज्जित किया जाय।[3] शान्तिमय धरने में बल-प्रयोग, धमकाने, अशिष्टता, किसी का पुतला बनाकर जलाने या दफ़न करने और भूख-हड़ताल इत्यादि के लिये स्थान नहीं है। शांतिमय धरने में उपवास का प्रयोग केवल तभी हो सकता है जब सत्याग्रही और उसके विरोधी में एक-दूसरे के लिये प्रेम और आदर हो और

---

१. यं० इं०, भा० १, पृ० ३०२।

२. 'सत्याग्रह', पृ० ९०।

३. ह०, २७-८-३६, पृ० २३४।

विरोधी ने अपने इक़रार को तोड़ा हो।[1]

ऊपर लिखे साधनों का प्रयोग सत्याग्रही असहयोग को विकसित और गतिशील बनाने के लिए करते हैं। असहयोग का अन्तिम रूप है सविनय आज्ञाभंग। गांधीजी ने सन् १९३० में लिखा था, "थोड़ा सोचने से प्रकट हो जायगा कि सविनय आज्ञा-भंग असहयोग का आवश्यक अङ्ग है। आप सरकार की आज्ञा का पालन करके उसकी अधिक-से-अधिक सहायता करते हैं।"[2] कुछ अच्छाइयाँ तो बुरे से-बुरे राज्य में भी होती हैं। लेकिन यदि राज्य अनैतिकतापूर्ण है तो जनता को राज्य की पूरी व्यवस्था को ठुकरा देना चाहिए।[3]

देश और काल की परिस्थिति-विशेष के अनुसार असहयोग की तफ़सीली बातें बदलती रहेंगी। जो आवश्यक हैं वह है सरकार की दी हुई सज़ा को बिना हिंसा और दुर्भावना के सहने और उसके भड़काने से भी अहिंसक बने रहने की असहयोगियों की क्षमता और जनता की दृढ़ सहानुभूति और सहायता। याद रखना चाहिए कि जनता का सामूहिक दबाव असहयोग की सफलता की एक आवश्यक शर्त है।

गांधीजी के सन् १९२०-२२ के असहयोग आंदोलन का विस्तृत इतिहास हमारे विषय के बाहर है; लेकिन उन बातों का संक्षिप्त विवरण, जिनको गांधीजी ने असहयोग के कार्यक्रम का अङ्ग बनाया था, अनुपयुक्त न होगा विशेष रूप से इसलिए कि राष्ट्रीय पैमाने पर असहयोग का यह पहला दृष्टांत है।[4]

---

१. 'हिस्ट्री ऑव दि कांग्रेस', पृ० ७९५ (शान्तिमय धरने के बारे में सन् १९३१ में दी हुई गांधीजी की हिदायतें देखिये)।

२. य० इ०, २७-३-३०।

३. य० इ०, ३१-१२-३१।

४. प्राथमिक रूप में असहयोग का सिद्धांत हमको गांधीजी के 'हिंद-स्वराज्य' में मिलता है। "हमारी समझ में आपकी (अंग्रेजों की) खोली हुई शालाएँ और अदालतें किसी काम की नहीं। उनके बदले हमारी जो असली पाठ-शालाएँ और अदालतें थीं उन्हींको हम फिर से स्थापित करना चाहते हैं। ....विलायती या योरुप का कपड़ा हमें नहीं चाहिए। हम तो इस देश में पैदा होने और बननेवाली चीज़ों से ही काम चला लेंगे।......हमारी इच्छा के विरुद्ध जो काम आप करेंगे उसमें हम आपकी कोई मदद न करेंगे। यह हम जानते हैं कि हमारी मदद के बग़ैर आप एक क़दम भी नहीं उठा सकते।" 'हिन्द-स्वराज्य', पृ० १९२-९४।

गांधीजी की प्रारम्भ की उस योजना के अनुसार जिसको ख़िलाफ़त कमेटी ने भी मान लिया था, यह निश्चित हुआ था कि असहयोग का प्रयोग निर्धारित, निश्चित क्रमशः बढ़ते हुए भागों में हो। यह भाग थे, ख़िताबों को और अवैतनिक पदों को त्याग देना: सरकारी नौकरों को नौकरी छोड़ने के लिए आदेश देना, पुलिस और फौज को सरकारी नौकरी से हटाना और टैक्स-बन्दी।[1] बाद में पहले भाग में कचहरियों का वकीलों और जनता द्वारा, स्कूलों और कालिजों का शिक्षकों और विद्यार्थियों द्वारा; व्यवस्थापक-सभाओं का उसके सदस्यों द्वारा; और चुनावों का वोटरों द्वारा बहिष्कार भी शामिल कर दिया गया था। स्वदेशी का प्रचार, विदेशी कपड़ों का त्याग और उनके स्थान में एक-मात्र खादी का प्रयोग; स्थानीय बोर्डों से नामज़द सदस्यों का त्याग-पत्र; सरकारी दर्बारों और दूसरे सरकारी या अर्ध सरकारी समारोहों में जाने से इन्कार यह सब भी पहिले भाग में ही शामिल थे। इनमें से हरएक निषेधात्मक बात का विधायक, रचनात्मक पक्ष भी था जिसमें जैसे ही सरकार पंगु हो जाय वैसे ही समानान्तर सत्याग्रही सरकार उसका स्थान ले सके और सामाजिक व्यवस्था को अटूट और अक्षत बनाये रख सके। सन् १९२० में गांधीजी ने लिखा था, "जब हम फौज और पुलिस को बड़े पैमाने पर सरकारी नौकरियों से अलग करने को तैयार होंगे तब हम अपनी रक्षा करने के योग्य हो चुकेंगे। अगर पुलिस और फौज देशभक्ति के कारण नौकरियाँ छोड़े तो मैं निश्चय ही उनसे आशा करूँगा कि वह उसी कर्त्तव्य का राष्ट्रीय स्वयंसेवकों की तरह पालन करें। असहयोग का आन्दोलन अपने आप चलने वाली व्यवस्था का (आंदोलन) है। अगर सरकारी स्कूल खाली हो जाते हैं तो मैं निश्चय ही आशा करूँगा कि राष्ट्रीय स्कूल स्थापित हो जायंगे। अगर वकील सामूहिक रूप से अपनी वकालत स्थगित कर दें तो वह पंचायती अदालतें बनावेंगे और क़ौम को आपसी झगड़ों को तय करने की और अन्यायी को सज़ा देने की अधिक सस्ती और शीघ्रता से काम करने वाली पद्धति मिल जायेगी।"[2] "इसलिए अहिंसक साधनों से प्राप्त स्वराज्य का अर्थ विशृङ्खलता और अराजकता का मध्यवर्ती काल कभी नहीं हो सकता। अहिंसा द्वारा प्राप्त स्वराज्य इस तरह की वृद्धिशील शांतिपूर्ण क्रांति होगी कि एक सीमित समुदाय के पास से शक्ति का जनता के प्रतिनिधियों के हाथों में आना वैसा ही स्वाभाविक होगा जितना कि एक पूरी तरह पके फल का सुपोषित वृक्ष

१. यं० इं०, भा० १, पृ० १९१-९२।
२. यं० इं०, भा० १, पृ० ६४१ ४२।

से गिरना।"[1] "अहिंसक क्रान्ति शक्ति छीनने की योजना नहीं है। वह सम्बन्धों मे ऐसे आमूल परिवर्तन की योजना है जिसका अन्त शक्ति के शांतिमय हस्तांतरण मे होता है।"[2]

जहाँ तक स्वदेशी का सम्बन्ध है उसका स्पष्ट रूप से अर्थ है उन विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार जो किसी देश में सार्वभौम रूप से काम में आती हैं और जिनको देश में ही बना लेना आवश्यक है। विदेशी कपड़ा इसी प्रकार की वस्तु है और उसका बहिष्कार अहिंसक आर्थिक व्यवस्था का आवश्यक निषेधात्मक रूप है। सन् १९२०-२२ मे गांधीजी विदेशी कपड़े के केवल बहिष्कार के ही नहीं विनाश के भी पक्ष मे थे और जुलाई सन् १९२१ में उन्होंने स्वयं बम्बई में विदेशी कपड़े की होली की शुरुआत की थी।[3]

---

१. य० इ०, भा० १, पृ० २६३।

२. ह०, १०-२-४६, पृ० १४।

३. देशबन्धु सी० एफ़० एन्ड्रयूज़ ने अपने विदेशी भाइयो और बहनो द्वारा बनाए हुये कपड़ों के जलाने की नीति का विरोध किया था। कपड़ो की होली उनको हिंसापूर्ण, अस्वाभाविक और विकृत-सी मालूम हुई। उनकी राय थी कि इसके कारण देश पिछड़ जायेगा और योरोप मे चालू पुरानी स्वार्थयुक्त दोषपूर्ण जातीयता को अपना लेगा। लेकिन गांधीजी को विदेशी कपड़ो का विनाश उच्चतम नैतिक दृष्टिकोण से ठीक जँचा। इस विनाश मे सकीर्ण जातीयता की कोई बात न थी, क्योंकि उनका जोर विलायती वस्तुओं के नहीं विदेशी कपड़ो के विनाश पर था। वास्तव मे विनाश भारतवर्ष की जातीय दुर्भावना को अग्रेजों से उनके बने हुए कपड़ो की ओर मोड़ने का साधन था। विदेशी कपड़ो का प्रेम विदेशी राज्य की स्थापना का और देश के आर्थिक शोषण का कारण था और इसलिए ग़ुलामी और लज्जा का प्रतीक था। होली का प्रेरक-हेतु घृणा नहीं थी बल्कि पिछले पापों का पश्चात्ताप था। जितना होली जनता के मन को प्रभावित करती थी और उसमे उत्साह भरती थी उतना किसी और साधन द्वारा न हो सकता था। होली का अर्थ था भारतवर्ष के विदेशी कपड़ो के प्रेम को जलाना और वह एक गहरी बीमारी के लिये ज़रूरी डाक्टरी अस्त्र-क्रिया (ऑपरेशन) की तरह था। गांधीजी इस कपड़े के हिन्दुस्तान के निर्धनो मे बाट दिये जाने के विरुद्ध थे, क्योंकि इस प्रकार का अनुपयुक्त दान निर्धनों की देशभक्ति, आत्म-सम्मान और प्रतिष्ठा के विरुद्ध था। यं० इ०, भा० १, पृ० ५५३-६२.

असहयोग राष्ट्रीय पैमाने पर भारतवर्ष में एक बिल्कुल नया आंदोलन था। जनता में रचनात्मक-कार्य के रूप में उसके लिये पहले से काफ़ी तैयारी न हुई थी। जनता को अध्यवसायपूर्ण संगठित राजनैतिक आंदोलन का अनुभव न था। इसके अतिरिक्त प्रारंभ से ही पग-पग पर आंदोलन को हिंसा का सामना करना पड़ा। इसलिए स्वाभाविक रूप से गांधीजी उत्सुक थे कि वांछित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए देश को कम-से-कम जोखिम में डालें और कम-से-कम आत्म-त्याग की माँग करें।[1]

गांधीजी की राय थी कि जनता के राजनैतिक अनुभव की कमी के कारण आन्दोलन का प्रारम्भ मध्यम और उच्च वर्गों को करना चाहिए और जनता को आन्दोलन के बाद के भागों में हिस्सा लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त पहले भाग का, जिससे आंदोलन का प्रारम्भ हुआ था, अधिकतम सम्बन्ध उच्च और मध्यम वर्गों से ही था। बाद के भागों के लिए उनकी आशा जनता पर आधारित थी और इन बातों का प्रारम्भ तब होने को था जब जनता को अहिंसा की शिक्षा मिल चुकती। लेकिन शिक्षित वर्गों की अहिंसा दुर्बल और निकम्मी थी क्योंकि उन्होंने अहिंसक पद्धति को, हिंसा के प्रयोग की क्षमता के अभाव में, केवल काम चलाऊ नीति की तरह अपनाया था। आंदोलन के लिए यह बड़ी रुकावट थी क्योंकि उच्च वर्गों की दुर्बल अधकचरी अहिंसा में जनता को प्रभावित करने की शक्ति न थी।

गांधीजी जिस तरह भी हो देश को हिंसा से बचाने को उत्सुक थे और इसलिए असहयोग के अन्तिम भागों के बारे में स्वाभाविक रीति से बहुत सतर्क थे और धीमी रफ़्तार से क़दम बढ़ाना चाहते थे। सरकारी नौकरों को नौकरी छोड़ने की हिदायत देने के बारे में उन्होंने ज़ोर दिया कि किसी भी सरकारी नौकर पर दबाव न डाला जाय। जबतक वह नौकर अपना और अपने आश्रितों का भरण-पोषण करने के योग्य न हो जाँय या जबतक कौम उनको जीविका का साधन न दे सके तबतक उनसे नौकरी छोड़ने के लिए न कहना चाहिए। और न सब प्रकार के नौकरों को भी नौकरी छोड़ने के लिए एकदम कहना चाहिए। अंग्रेज़ों के निजी नौकरों के तो नौकरी छोड़ने की बात ही न उठाना चाहिए; क्योंकि आंदोलन सरकार के विरुद्ध था न कि अंग्रेज़ों के।[2] गांधीजी के अनुसार तीसरा भाग, पुलिस और फौज का नौकरी छोड़ना, एक दूर की और आदर्श की बात थी। इससे भी अधिक दूर गांधीजी चौथे भाग को—लगानबंदी को—मानते थे। लगानबंदी का प्रारम्भ करने की

---

१. 'स्पीचेज़', पृ० ५४८.

२. यं० इं०, भा० १, पृ० १६१।

तबतक सम्भावना नहीं थी जबतक यह निश्चय न हो जाय कि जनता हिंसक न हो जायगी।[1]

बाद में गांधीजी, अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस कमेटी और कार्य समिति ने सरकारी नौकरों को और पुलिस और फौज को भी अपनी नौकरी छोड़ देने और दूसरे धन्धों से, मिसाल के लिए कताई बुनाई से, अपना भरण-पोषण करने का आदेश दिया।[2] लेकिन इन दो अन्तिम भागों के बारे में गांधीजी की नीति बहुत सतर्कता और सावधानी की थी। उनको हिंसा का डर था। कांग्रेस नौकरी से अलग होने वाले सरकारी नौकरों को भरण-पोषण में सहायता देने में अशक्त थी। इसलिए पुलिस, फौज और दूसरे सरकारी नौकरों में नौकरी छोड़ देने का बहुत प्रचार न हुआ।

यद्यपि कार्यक्रम के इन दोनों भागों पर अमल न हुआ लेकिन लगानबंदी जिसको प्रारम्भ में गांधीजी नौकरियों को छोड़ने से भी अधिक दूर की बात समझते थे, चालू होते-होते ही रह गई। सन् १९२१ ई० में सरकार ने आन्दोलन को दबाने के लिए भीषण दमन शुरू किया। इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि विभिन्न प्रान्तों ने सविनय आज्ञा-भंग प्रारम्भ करने की आज्ञा मांगी। अक्तूबर, सन् १९२१ में कार्य-समिति ने उन व्यक्तियों द्वारा सविनय आज्ञा-भंग की आज्ञा दे दी जिनके स्वदेशी-प्रचार के कार्य में सरकार रुकावट डाले।[3] ४ नवम्बर सन् १९२१ को अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस कमेटी ने सविनय आज्ञा-भंग के क्षेत्र को विस्तृत कर दिया और प्रांतीय कांग्रेस कमेटियों को उनकी ज़िम्मेदारी पर व्यक्तिगत सविनय आज्ञा-भंग के अतिरिक्त सामूहिक सविनय आज्ञा-भंग को प्रारम्भ करने का अधिकार दे दिया। सविनय आज्ञा-भंग में करबन्दी भी शामिल थी और उसका प्रारम्भ उन चुने हुए ज़िलों और तहसीलों में होने को था जिन्होंने साम्प्रदायिक एकता, खादी और अस्पृश्यता आदि अहिंसा से सम्बन्ध रखने वाली शर्तों को पूरा कर लिया हो।[4] सविनय आज्ञा-भंग का आंदोलन ७ फ़रवरी, सन् १९२२ को बारदोली में शुरू होने को था। बारदोली के बाद मद्रास प्रान्त में गुन्टूर के १०० गाँवों की बारी आती और और आंदोलन देश भर में फैल गया होता।[5] वास्तव में गांधीजी

१. य० इं०, भा० १, पृ० १९२।

२. यं० इं०, भा० १, पृ० १०३०; 'हिस्ट्री ऑव दी कांग्रेस', पृ० ३६१, ३६६।

३. हिस्ट्री ऑव दि कांग्रेस', पृ० ३६७।

४. 'हिस्ट्री ऑव दि कांग्रेस', पृ० ३६८।

५. मालूम होता है कि गांधीजी का विचार यह था कि बारडोली और उसके पास-पड़ोस में सफल होने के बाद सविनय आज्ञा-भङ्ग को एक ज़िले के

की आज्ञा मिल जाने की आशा में गुन्तूर में कर नहीं दिये गए थे और जब तक कांग्रेस का आदेश चालू था सरकार पांच प्रतिशत कर भी वसूल न कर सकी थी।[1] लेकिन चौरीचौरा की हिंसा के कारण सविनय आज्ञा-भंग का आंदोलन स्थगित कर दिया गया। चौरीचौरा के हिंसाकांड के पहले बंबई, मद्रास और दूसरे स्थानों में भी हिंसापूर्ण घटनाएं हो चुकी थीं। सविनय आज्ञा-भंग के एकाएक स्थगित किये जाने से देश को बहुत निराशा हुई, सरकार के दमन की भीषणता बढ़ गई, गांधीजी और दूसरे नेता क़ैद कर लिये गए और सत्याग्रह आंदोलन धीमा पड़ गया। नवम्बर १६२२ में सविनय आज्ञा भंग कमेटी की सिफ़ारिश के अनुसार अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने एक प्रस्ताव पास किया कि देश अभी सविनय आज्ञा-भंग के लिए तैयार नहीं था। उस समय तक सत्याग्रही क़ैदियों की संख्या ३०००० हो चुकी थी।[2]

दूसरा अहिंसक आंदोलन (१६३०-३४) प्रमुख रूप से सविनय आज्ञा-भंग का आंदोलन था और वहींसे शुरू हुआ था जहां पहले आंदोलन (१६२०-२२) का अन्त हुआ था। इस आंदोलन में पहले के असहयोग आंदोलन के कार्यक्रम की कुछ महत्वपूर्ण बातें शामिल कर ली गई थीं। मिसाल के लिए विद्यालयों, कचहरियों, विदेशी कपड़े और शराब का बहिष्कार, सरकारी नौकरों को नौकरी छोड़ने का और व्यवस्थापक सभाओं के सदस्यों को इन सभाओं में न जाने का आदेश—इन सभी बातों पर ज़ोर दिया गया था। विलायती कपड़े का बहिष्कार ज़ोरों के साथ, विस्तृत और फलप्रद रूप में किया गया था। असहयोग-पद्धति के दृष्टिकोण से इस आंदोलन में एक महत्वपूर्ण बात हुई। ४ मई, सन् १६३० को गांधीजी की गिरफ़्तारी के बाद कांग्रेस ने विलायती चीज़ों और विलायती बैंकों, बीमा कम्पनियों, जहाज़ों

बाद दूसरा अपनाता जाय और इस प्रकार पूरा देश स्वतन्त्र हो जाय। कृष्णदास के अनुसार गांधीजी का कहना था कि, "जब बारडोली में स्वराज्य का विजयी झंडा फहराने लगे, तो बारदोली के पास के ताल्लुके की जनता को बारदोली के पद-चिह्नों पर चलकर अपने यहाँ स्वराज्य के झंडे को गाड़ने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार देश भर में व्यवस्थित क्रम से एक के बाद दूसरे ज़िले को स्वराज्य का झंडा फहराना चाहिए।" कृष्णदास, 'सेविन मंथ्स विद महात्मा गांधी', भा० १, पृ० ३७४।

१. 'हिस्ट्री ऑव दि कांग्रेस', पृ० ३६०-६१ और ३६८।

२. ब्रेल्सफोर्ड के अनुसार यह संख्या ५०००० थी। पोलक इत्यादि, 'महात्मा गांधी', पृ० १५७।

और इसी तरह की दूसरी संस्थाओं का ज़ोरों से बहिष्कार शुरू किया।[1]

गांधीजी ने पहले कभी इस तरह के व्यापक बहिष्कार का समर्थन नहीं किया था। जैसा हम चौथे अध्याय में बता आए हैं, वह इस प्रकार के बहिष्कार को दंडपूर्ण और इसलिए हिंसामय समझते थे। यह परिवर्तन उनकी अनुपस्थिति में किया गया था। लेकिन जैसा कि उनके कुछ लेखों और इंग्लैंड में दिए उनके भाषणों से प्रकट होता है वह इस परिवर्तन के विरुद्ध न थे।[2] इसके अतिरिक्त सन् १९३२ मे ही लंदन से उनके लौटने के बाद कार्य-समिति ने एक बार फिर बहिष्कार के इस व्यापक रूप को स्वीकार किया। सम्भवतः गांधीजी ने इस परिवर्तन का विरोध न किया होगा। क्योंकि सरकार से लड़ाई शीघ्र छिड़ने वाली थी और उस समय कार्य-समिति ने सेनापति की इच्छा की उपेक्षा न की होती। कांग्रेस का बहिष्कार सम्बन्धी प्रस्ताव यह था—"अहिंसक संग्राम में भी उत्पीड़क द्वारा तैयार माल का बहिष्कार करना सर्वथा वैध है, क्योंकि अत्याचार-पीड़ित व्यक्तियों का यह कभी कर्तव्य नहीं है कि वह आततायी के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ावें अथवा क़ायम रक्खें। इसलिए ब्रिटिश माल और ब्रिटिश कम्पनियों का बहिष्कार पुनः आरंभ किया जाय और ज़ोरो से चलाया जाय।"[3]

मालूम होता है कि अब गांधीजी को यह विश्वास हो गया था कि आर्थिक बहिष्कार का प्रयोग अत्याचारी के साथ असहयोग के अहिंसक साधन की तरह हो सकता है और होना चाहिए। जब उसका प्रयोग किया जाय तो ज़ोर बहिष्कार के नैतिक पक्ष पर रहना चाहिए।[4] लेकिन कठिनता यह होती है कि बहिष्कार के कारगर होने के लिए अत्याचार-पीड़ितों के एकमत होने की आवश्यकता पड़ती है और इसके लिए सत्याग्रही को सामूहिक दबाव डालने के संदिग्ध, अनैतिक उपायों को भी काम में लाने का प्रलोभन होता है। इस प्रकार दुर्भावना बढ़ती है; सत्याग्रही कष्ट सहने के स्थान में विरोधी को कष्ट पहुँचाने की बात सोचने लगते हैं और सत्याग्रह की उच्च नैतिकता लोप होने लगती है। लेकिन दूसरी ओर अन्यायी के साथ व्यापार करना, उसके साथ सहयोग करना और उसकी अनैतिकता में मदद करना है। इसके अतिरिक्त

१. 'हिस्ट्री ऑव दि कांग्रेस', पृ० ६७३ और ६८३-८४।

२. 'द नेशन्स वाएस', पृ० २०७ और २११; यं० इ०, २६-३-३१, पृ० ३७ और २-४-३१, पृ० ५७।

३. 'हिस्ट्री आव दी कांग्रेस', पृ० ८७०।

४. अन्तर्राष्ट्रीय अन्याय मे बहिष्कार के प्रयोग के सम्बन्ध में गांधीजी के मत के लिए ११ वां अध्याय देखिए।

दुर्भावना बहिष्कार का आवश्यक अङ्ग नहीं है और यदि सत्याग्रहियों का अनुशासन ठीक हो तो बहिष्कार से दुर्भावना दूर की जा सकती है।

इसी प्रकार २७ जून, १९३० के एक प्रस्ताव से कार्य-समिति ने जनता से अनुरोध किया "कि जिन सरकारी नौकरों और दूसरे लोगों ने राष्ट्रीय आंदोलन का गला घोटने के लिए जनता पर अमानुषिक अत्याचार करने में सीधा भाग लिया है उन सबका संगठित और कठोर बहिष्कार किया जाय।"[1] जब यह प्रस्ताव पास हुआ गांधीजी जेल मे थे। प्रस्ताव सामाजिक बहिष्कार सम्बन्धी गांधीजी के विचारों के—जिनका हम ऊपर इसी अध्याय मे विवेचन कर चुके हैं—विपरीत था। उनके गोलमेज़ परिषद् से लौटने पर कार्य-समिति ने बहिष्कार सम्बन्धी अपने आदेश में परिवर्तन कर दिया और जनता को याद दिलाया कि "सरकारी अधिकारियों, पुलिस अथवा राष्ट्र-विरोधियों को हानि पहुँचाने की दृष्टि से किसी भी दशा में सामाजिक बहिष्कार नहीं किया जाना चाहिए। अहिंसा-वृत्ति के यह सर्वथा विरुद्ध है।"[2]

सविनय आज्ञा-भंग

सविनय आज्ञा-भंग असहयोग का उपसंहार, आख़िरी मंज़िल और उग्रतम रूप है। गांधीजी उसे "सशस्त्र क्रान्ति का पूर्ण, कारगर और रक्तहीन स्थानापन्न"[3] बताते थे। असहयोग के दूसरे साधनों का प्रयोग सत्याग्रहियों को सविनय आज्ञा-भंग के लिए तैयार करता है। और यदि इन साधनों का सत्याग्रही कारगर तरह से प्रयोग करें तो उनको राज्य के क़ानूनों को तोड़ना ही पड़ेगा।

सविनय अवज्ञा असहयोग के दूसरे साधनों की अपेक्षा अधिक उग्र है और इसीलिए उसमे अधिक ख़तरा है और यह ज़रूरी है कि उसका प्रयोग अधिक सतर्कता से किया जाय। गांधीजी के अनुसार असहयोग का प्रयोग जनता और समझदार बच्चे भी कर सकते हैं। किन्तु बिना सजा के डर के इच्छापूर्वक आज्ञापालन सविनय अवज्ञा की पूर्व मान्यता है, इसलिए सविनय अवज्ञा का प्रयोग अन्तिम साधन की तरह ही और, कम से-कम प्रारम्भ मे, चुने हुए व्यक्तियों द्वारा ही हो सकता है।[4] असहयोग और सविनय अवज्ञा दोनों का ही ध्येय है अन्यायी, अनैतिक अर्थात् अजनतन्त्र-वादी सरकार को—जो जनता की निश्चित इच्छा की अवज्ञा करती है—

१. 'कांग्रेस का इतिहास', पृ० ३२२।
२. 'कांग्रेस का इतिहास', पृ० ४१८।
३. यं० इं०, भा० १, पृ० ६३८।
४. यं० इं०, भा० १, पृ० २२१।

पंगु बना देना। असहयोग की (अर्थात् सविनय अवज्ञा के अतिरिक्त असहयोग के दूसरे साधनों की) सफलता के लिए जनता का लगभग एक मत होना आवश्यक है, लेकिन सविनय अवज्ञा के कारगर होने के लिए न तो इतनी व्यापकता आवश्यक है, और न इसकी आशा ही की जा सकती है।

गांधीजी के अनुसार सविनय अवज्ञा का अर्थ है सरकार के द्वारा बनाए हुए उन क़ानूनों को भंग करना जो नैतिक नहीं हैं। सविनय अवज्ञा इस बात का द्योतक है कि प्रतिरोधकारी सविनय अर्थात अहिंसक रूप से क़ानून की अवज्ञा करता है।[1] सविनय अवज्ञा वास्तव में विनय और आज्ञाभंग का, अर्थात् अहिंसा और प्रतिरोध का, सामञ्जस्य है। मनुष्य के नैतिक विकास के लिए बुरे क़ानूनों का विरोध ज़रूरी है, लेकिन विनय आवश्यक है स्थायी सामाजिक व्यवस्था के लिए, जिसके बिना मनुष्य जीवन और विकास सम्भव नहीं है।

अवज्ञा स्वयं विध्वंसक है और समाज के लिए हानिकर है। लेकिन उससे भी बदतर है अनैतिक क़ानून का मानना और वह कभी कर्तव्य नहीं हो सकता। माना जाने के योग्य वही क़ानून है जो नैतिक हो और जनतंत्रवादी रीति से बना हो। जनतंत्र में भी कुछ असाधारण स्थितियों में यदि नागरिक वैधानिक साधनों द्वारा अनैतिक कानून को रद्द नहीं करा सकता, तो उसे अपनी अन्तरात्मा के प्रति वफ़ादार रहने के लिए उस क़ानून की अवज्ञा करनी चाहिए। प्रजातन्त्रवादी राज्यों में क़ानून और अन्तरात्मा में विरोध बहुत कम उठता है, लेकिन जनतन्त्र-विरोधी राज्यों में और पराधीन देशों में सत्याग्रही को इस स्थिति का सामना निरन्तर करना पड़ता है। राज्य के अनैतिक क़ानूनों की अवज्ञा वास्तव में एक उच्चतर नैतिक क़ानून—सत्य और न्याय के क़ानून—के प्रति आज्ञाकारिता है। इस प्रकार सविनय अवज्ञा स्वतन्त्रता और क़ानून में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न है।

लेकिन सविनय अवज्ञा जोखिम से भरा शस्त्र है और उसका प्रयोग बहुत थोड़े अवसरों पर और बड़ी सतर्कता से करना चाहिए। गांधीजी के शब्दों में, "...उसके प्रयोग को सभी रुकावटों से - जिनकी कल्पना की जा सकती है—सुरक्षित रखना चाहिए। हिंसा और अराजकता के विस्फोट के विरुद्ध प्रत्येक सम्भव प्रबन्ध करना चाहिए। उसके विस्तार और क्षेत्र को किसी विशेष स्थिति की कम-से-कम आवश्यकता तक सीमित रखना चाहिए।"[2]

इस साधन का प्रयोग सृजनात्मक और जीवनप्रद तभी हो सकता है

१. यं० इं०, भा० १, पृ० २२।
२. यं० इ०, भा० १, पृ० ६४४।

जब अवज्ञा की अपेक्षा उसके विशेषण सविनय पर अधिक ज़ोर दिया जाय।[1] 'सविनय' विपरीतार्थ-बोधक है अपराधयुक्त, विनयहीन और हिंसात्मक का। अपराधयुक्त अवज्ञा उसी तरह भ्रष्टाचार है, कष्टमूलक है, और जीवन-विनाशक है, जिस तरह सविनय अवज्ञा विकासकारी है, जीवनदायक है और स्वतन्त्रतावर्धक है। गांधीजी का कहना है कि अवज्ञा सविनय तभी होती है जब उसमें सच्चाई हो वह आदरपूर्ण और नियंत्रित हो, दंभपूर्ण चुनौती की भावना से मुक्त हो, किसी अच्छी तरह समझ में आने वाले सिद्धांत पर आधारित हो, और—यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण शर्त है—उसके पीछे कोई दुर्भावना या घृणा न हो।[2] सविनय का अर्थ अवसरवादियों की बाह्य भाषण-नम्रता नहीं बल्कि आंतरिक नम्रता और विरोधी के साथ भलाई करने की इच्छा है।[3] यदि अवज्ञा का उद्देश्य है विरोधी को परेशान करना या व्यक्तिगत भौतिक लाभ, न कि अन्याय से छुटकारा पाने के लिए कष्ट-सहन, तो अवज्ञा सविनय नहीं है।[4] वह सविनय तभी होगी जब प्रतिरोध करने वाले अनुशासन में रह चुके हों और वातावरण शांत और अहिंसक हो। इसलिए यह आवश्यक है सविनय अवज्ञा के पहले प्रतिरोध करने वाले को सविनय आज्ञा-पालन की बान रही हो। जैसा कि गांधीजी ने सन् १९१९ में नड़ियाद और अहमदाबाद की हिंसापूर्ण घटनाओं के बाद महसूस किया था, उन लोगों के हाथ में सविनय अवज्ञा का साधन दे देना, जिनको बिना सज़ा के डर के क़ानून को स्वेच्छा से मानने की आदत नहीं है, हिमालय की-सी बड़ी भूल है। सविनय अवज्ञा का अधिकार उन्हींको प्राप्त होता है जो राज्य के उन कष्टदायक कानूनों को भी— जो उनके धर्म और अन्तरात्मा के विरुद्ध नहीं हैं— इच्छा से और जान-बूझ कर मानते रहे हैं।[5] राज्य के क़ानूनों को समझ-बूझकर और स्वेच्छा से, बिना प्रयास के मानने के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि सविनय अवज्ञा का प्रयोग करने की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों और समुदाय ने रचनात्मक कार्यक्रम के पर्याप्त व्यवहार द्वारा ठीक प्रकार का अनुशासन विकसित कर लिया हो। यह भी ज़रूरी है कि प्रतिरोध करने वाले तबतक शांतिपूर्वक सब प्रकार की सज़ा और अत्याचार सहने को तैयार हों जबतक कि अन्यायी थक न जाय और सत्याग्रही का उद्देश्य पूर्ण न हो जाय।

१, ह०, १-४-१९३९, पृ० ७३।
२. यं० इं०, भा० १, पृ० ५७।
३. 'आत्मकथा', भा० ५, अ० २३।
४. यं० इं०, भा० १, पृ० ३९।
५. यं० इं०, भा० १, पृ० ९३२; 'आत्मकथा', भा० ५, अ० ३३।

अवज्ञा के सविनय होने के लिए यह भी आवश्यक है कि अवज्ञा प्रकट रूप से हो और उन लोगों को, जो सत्याग्रहियों को गिरफ़्तार करना चाहें, विशेष रूप से विदित कर दी जाय।[1]

इन शर्तों में से गांधीजी पर्याप्त अनुशासन पर बहुत अधिक ज़ोर देते थे। उनके अनुसार प्राथमिक महत्व उच्च अनुशासन अर्थात् नैतिक शुद्धता का है। निस्सन्देह यह बात सविनय अवज्ञा को बहुत कठिन बना देती है। लेकिन गांधीजी के अनुसार उच्च अनुशासन पर आधारित शुद्ध सविनय अवज्ञा उस अशुद्ध, मिलावट वाले प्रतिरोध से, जिसे हम प्रायः धोखे से सविनय अवज्ञा समझते हैं, बेहद अधिक कारगर और शीघ्रगामी होगी। उनका यह भी मत था कि जनता को सविनय अवज्ञा की शिक्षा देने के लिए यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है कि नेता का दृष्टिकोण परिमाणात्मक नहीं गुणात्मक हो अर्थात् उसको चाहिए कि सत्याग्रहियों की संख्या की उपेक्षा करके भी अनुशासन की पर्याप्तता और नैतिक शुद्धता पर ज़ोर दे।

यदि सामूहिक सविनय अवज्ञा की शुरुआत ठीक से हो और अनुशासन संतोषजनक हो तो सामूहिक अवज्ञा उस समय भी अहिंसक रहेगी जब सब नेता गिरफ़्तार कर लिए जायंगे और आंदोलन बहुत कुछ स्वयं-संचालित हो जायगा।

सविनय अवज्ञा या तो राज्य के किसी एक अन्यायपूर्ण या अनैतिक कार्य या क़ानून के विरुद्ध होती है या राज्य के ही विरुद्ध। पहली दशा में सविनय अवज्ञा का उद्देश्य है सरकार को अन्यायपूर्ण क़ानून या आज्ञा को हटाने पर मजबूर करना, दूसरी दशा में, अनैतिक सरकार को पंगु बना देना और उसके स्थान पर सत्याग्रही राज्य स्थापित करना। किसी अन्यायविशेष के विरुद्ध सविनय अवज्ञा का प्रयोग, बिना उसके सम्भव परिणाम का विचार किए, आत्म-बलिदान की तरह, किसी स्थान-विशेष की चेतना या अन्तरात्मा को जाग्रत करने के लिए भी हो सकता है।[2] चम्पारन में गांधीजी की सविनय अवज्ञा इसी प्रकार की थी। उन्हें अच्छी तरह मालूम था कि वहां की जनता उदासीन रहेगी। दक्षिण अफ्रीका, बारडोली और खेड़ा की सविनय अवज्ञा का उद्देश्य विशेष शिकायतों को दूर करवाना ही था। सन् १९४०-४१ की सविनय अवज्ञा उन रुकावटों के विरुद्ध थी जो सरकार ने भारत में भाषण-स्वातन्त्र्य पर लगा दिया था। कुछ देशी रियासतों में सविनय अवज्ञा का प्रयोग शासकों को उत्तरदायित्वपूर्ण शासन स्थापित करने को मजबूर करने के लिए

१. ह०, १-४-१९३९, पृ० ७२।
२. म० गांधी, 'कांस्ट्रक्टिव प्रोग्राम', पृ० २६।

हुआ था। सन् १९२०-२२ और १९३०-३४ के देश-व्यापी सत्याग्रह आंदोलनों का उद्देश्य था अंग्रेज़ी सरकार को हटाकर समानान्तर सत्याग्रही सरकार की स्थापना। इसी प्रकार उस सामूहिक अहिंसक संघर्ष का — जिसका ८ अगस्त सन् १९४२ के अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के प्रस्ताव में ज़िक्र था— उद्देश्य भी था इस देश से ब्रिटिश सत्ता का हटाना।

उद्देश्य चाहे सीमित हो चाहे व्यापक, उन क़ानूनों को जिनकी अवज्ञा करना है बड़ी सतर्कता से चुनना चाहिए। सत्याग्रही उन क़ानूनों की अवज्ञा नहीं कर सकता जो मान्य नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं। वह उन क़ानूनों की अवज्ञा कर सकता है जो जनता के लिए हानिकर हैं। कुछ ऐसे भी क़ानून सरकार बनाती है जो न तो नैतिक होते हैं न अनैतिक। सरकार इन क़ानूनों को अपनी सत्ता के उपयोग के लिए बनाती है और जनता उनको इसलिए मानती है कि देश में ठीक प्रकार का शासन और सुव्यवस्था रहे। इन क़ानूनों की अवज्ञा से जनता को हानि न होगी लेकिन शासन का कार्य बहुत बढ़ जायगा। सत्याग्रही को इन क़ानूनों की अवज्ञा का अधिकार है, क्योंकि अन्यायी सरकार जनता की आज्ञाकारिता पाने का अधिकार खो देती है। अवज्ञा के लिए ऐसे क़ानूनों को चुनना चाहिए कि अधिक-से-अधिक मनुष्य सविनय अवज्ञा में भाग ले सकें। इस प्रकार सरकार की सत्ता की उन सभी तरीक़ों से जिनमें हिंसा या अनैतिकता नहीं है, अवज्ञा करना चाहिए।[1] सन् १९३०-३४ के सत्याग्रह आन्दोलन में गांधीजी द्वारा नमक क़ानून का चुनाव आदर्श चुनाव था। बीसों दूसरे क़ानूनों की अवज्ञा हो सकती है और इस तरह अन्यायी सरकार के अस्तित्व की उपेक्षा और उसकी सत्ता का विरोध हो सकता है।

अहिंसापूर्ण टैक्सबन्दी सरकार को हटाने का सबसे अधिक तेज़ी से काम करने वाला तरीक़ा है और उसके तुरन्त अपनाए जाने का प्रलोभन है। लेकिन जबतक जनता अहिंसा से ओत-प्रोत न हो, टैक्सबन्दी में हिंसा का अधिक-से-अधिक ख़तरा है। इसलिए गांधीजी उसे सविनय अवज्ञा की अन्तिम मंज़िल बताते थे और कहते थे कि टैक्सबन्दी का प्रयोग सविनय अवज्ञा के दूसरे साधनों के प्रयोग के बाद होना चाहिए। अहिंसक टैक्सबन्दी का अधिकार उन्हींको है जो नियमित रूप से टैक्स देते रहे हों और अहिंसक टैक्सबन्दी के कारण और नैतिकता को समझते हों, जिन्होंने आवश्यक अहिंसक अनुशासन विकसित किया हो और जो अपनी सम्पत्ति की ज़ब्ती को शान्ति और सन्तोष के साथ सहने करने को तैयार हों।[2]

---

१. 'स्पीचेज़', पृ० ४५८; ह०, १८-३-३९, पृ० ५३।

२. य० इं०, भा० १, पृ० ९४७-५१।

अवज्ञा के लिए क़ानूनों का चुनाव स्वयं प्रत्येक सत्याग्रही द्वारा नहीं बल्कि नेता द्वारा या विशेषज्ञों की किसी केन्द्रीय समिति द्वारा होना चाहिए। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर यह रुकावट अनुशासन के लिए आवश्यक है और इसके अभाव में प्रत्येक सत्याग्रही के स्वयं अपना नियम-निर्धारक बनने की संभावना है और उसका परिणाम होगा अराजकता या अपराधपूर्ण अवज्ञा।

गांधीजी व्यक्तिगत और सामूहिक सविनय अवज्ञा तथा आक्रमण के लिए और बचाव के लिए की गई सविनय अवज्ञा में भेद करते थे। २५ फरवरी, सन् १९२२ को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने सविनय अवज्ञा के भिन्न-भिन्न प्रकारों की परिभाषा निम्न शब्दों में की थी:—

"व्यक्तिगत सविनय क़ानून भंग एक ही व्यक्ति द्वारा या व्यक्तियों की निश्चित संख्या या समुदाय द्वारा आज्ञा की या क़ानून की अवज्ञा है। इसलिए वह मना की हुई सार्वजनिक सभा जिसमें प्रवेश टिकटों द्वारा है व्यक्तिगत सविनय क़ानून-भंग की मिसाल है, जबकि वह मना की हुई सभा, जिसमें साधारण जनता का बिना किसी रुकावट के प्रवेश हो सकता हो, सामूहिक सविनय आज्ञा-भंग की मिसाल है। जब मना की हुई सार्वजनिक सभा साधारण कार्य के लिए हो, चाहे उसका परिणाम गिरफ़्तारी ही क्यों न हो, तो वह सविनय क़ानून-भंग बचाव के लिए है। यदि वह (सभा) किसी साधारण कार्य के लिए न हो बल्कि केवल गिरफ़्तारी या क़ैद के आह्वान के लिए हो तो वह (क़ानून-भंग) आक्रमण के लिए है।"[1]

गांधीजी के अनुसार, "सामूहिक सविनय प्रतिरोध और व्यक्तिगत सविनय प्रतिरोध का प्रमुख भेद यह है कि दूसरे में प्रत्येक (व्यक्ति) पूर्ण रूप से स्वतन्त्र इकाई है और उसके पतन का दूसरों पर प्रभाव नहीं पड़ता; सामूहिक सविनय प्रतिरोध में एक का पतन साधारण रीति से शेष पर बुरा प्रभाव डालता है। फिर, सामूहिक सविनय प्रतिरोध में नेतृत्व आवश्यक है, व्यक्तिगत सविनय प्रतिरोध में प्रत्येक प्रतिरोध करने वाला अपना स्वयं नेता होता है। और भी, सामूहिक सविनय प्रतिरोध में असफलता की संभावना है; व्यक्तिगत सविनय प्रतिरोध में असफलता असंभव है। अन्त में, राज्य सामूहिक सविनय प्रतिरोध का सामना कर सकता है, लेकिन किसी भी राज्य में व्यक्तिगत सविनय प्रतिरोध का सामना करने की क्षमता नहीं।" गांधीजी का विश्वास था कि सविनय अवज्ञा का वास्तविक रूप व्यक्तिगत अवज्ञा ही है और जबतक एक भी सत्याग्रही प्रतिरोध करता रहता है, सविनय अवज्ञा

१. यं० इं०, भा० १, पृ० १००६।

आन्दोलन समाप्त नहीं हो सकता और अन्त मे अवश्य सफल होगा।[1]

गांधीजी के अनुसार "आक्रमणात्मक या हमला करने के लिए की गई सविनय अवज्ञा राज्य के उन क़ानूनों की इच्छापूर्वक अहिंसक रूप से अवज्ञा है जिनका भंग करना नैतिक भ्रष्टता नहीं है और यह अवज्ञा राज्य के विरुद्ध विद्रोह के चिन्हस्वरूप की जाती है। इस प्रकार ऐसे क़ानूनों की अवज्ञा— जिनका सम्बन्ध लगान से या राज्य की सुविधा के लिए व्यक्तिगत व्यवहार की व्यवस्था से है, यद्यपि इन क़ानूनों से कोई कठिनता नही होती और उनको बदलने की कोई आवश्यकता नहीं है- आक्रमणात्मक सविनय अवज्ञा होगी।"

"दूसरी ओर रक्षात्मक सविनय अवज्ञा ऐसे क़ानूनो की अनिच्छापूर्वक अहिंसक अवज्ञा है जो बुरे हैं और जिनको मानना आत्म-प्रतिष्ठा या मानवी सम्मान के प्रतिकूल है। इस प्रकार मनाही की आज्ञा होते हुए भी, शांतिपूर्ण आयोजनों के लिए स्वयंसेवकों का दल बनाना, ऐसे ही प्रयोजनों के लिए सार्वजनिक सभाएँ करना, ऐसे लेखो को प्रकाशित करना, जिनमें हिंसा करने की बात नहीं है या जो हिंसा के लिए नहीं भडकाते, बचाव की सविनय अवज्ञा है। और ऐसा (रक्षात्मक) ही शान्तिमय धरने का संचालन है जिसका उद्देश्य हो प्रतिकूल आज्ञा के होते हुए भी उन चीज़ों या संस्थाओं से लोगों को अलग करना जिन पर धरना दिया जा रहा हो।"[2]

आक्रमणात्मक सविनय अवज्ञा का अधिकार कठिनतम अनुशासन के बाद प्राप्त होता है। सन् १९३० में धरसाना और बडाला के सरकारी नमक गोदामों पर अहिंसक छापे आक्रमणात्मक सामूहिक सविनय अवज्ञा के दृष्टांत हैं। इनमे सत्याग्रहियों की अधिकतम संख्या १५ जून सन् १९३० को बडाला के सामूहिक छापे में थी जिसमें १५००० सत्याग्रहियो ने भाग लिया था।[3] गांधीजी धरसाना के छापे को इस प्रकार के अहिंसक छापे का पूर्ण दृष्टान्त मानते थे।[4]

गांधीजी आक्रमणात्मक सविनय अवज्ञा को 'अधिक-से-अधिक ख़तरनाक अस्त्र" कहते थे।[5] जब सत्याग्रही को साधारण शान्तिपूर्ण कार्य करने की मनाही हो जाती है या जब उसका तिरस्कार और अपमान होता है तो उसे

१. 'पूना स्टेटमेंट्स', पृ० ११।

२. यं० इं०, भा० १, पृ० ९८३।

३. 'महात्मा गांधी, दि मैन एण्ड हिज़ मिशन', पृ० १३४-३५; रवाय वाकर, 'सोर्ड ऑव गोल्ड', पृ० १११ और १३३।

४. ह०, २३-६-४६, पृ० १९९।

५. यं० इं०, भा० १, पृ० ९८७।

मजबूरन बचाव की सविनय अवज्ञा का उपयोग करना पड़ता है। इसलिए बचाव की सविनय अवज्ञा स्थगित नहीं की जा सकती; उसके लिए सदा प्रसन्नता से तैयार रहना पड़ता है। वास्तव में बचाव की सविनय अवज्ञा एक ऐसा कर्तव्य है जिसका पालन उस समय भी करना पड़ता है जब विरोधी कष्ट में हो; क्योंकि कष्टदायी स्थिति में विरोधी दूसरों से अन्यायपूर्ण या अपमानजनक आज्ञाओं या क़ानूनों को मानने की आशा नहीं कर सकता।[1] आक्रमणात्मक सविनय अवज्ञा का उद्देश्य चाहे जो हो, वह विरोधी को परेशान करती है और यदि विरोधी कष्ट में है तो सत्याग्रही को आक्रमणात्मक अवज्ञा से बचना चाहिए।

लेकिन प्रकट है कि आक्रमणात्मक सविनय अवज्ञा का यह अर्थ नहीं कि बिना किसी गंभीर शिकायत के आक्रमण कर दिया जाय। आक्रमणात्मक सविनय अवज्ञा का केवल यह अर्थ है कि किसी विशेष क़ानून की अवज्ञा करने का कारण यह नहीं है कि जनता उस क़ानून से असन्तुष्ट है बल्कि यह है कि सत्याग्रहियों ने अन्यायी सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया है। आक्रमणात्मक सविनय अवज्ञा का प्रयोग किसी महत्वपूर्ण शिकायत या अन्याय को दूर करने के लिए तभी होना चाहिए जब अन्य शान्तिपूर्ण उपाय निष्फल हो जायं।

समुदाय द्वारा प्रयुक्त व्यक्तिगत सत्याग्रह भी सामूहिक पद्धति है। दूसरी ओर सामूहिक सत्याग्रह को भी गांधीजी छोटे परिमाण में प्रारम्भ करते थे और क्रमशः आन्दोलन को बढ़ाते जाते थे। उन्होंने कई सामूहिक सत्याग्रह आन्दोलनों का परिचालन किया था किन्तु वह जानते थे कि सामूहिक व्यवहार का नैतिक तल अपेक्षाकृत नीचा होता है। वह तात्कालिक सामूहिक भावनाओं को—जिनके हिंसापूर्ण सुझावों से प्रभावित होने की बहुत गुंजाइश होती है—सन्देह की दृष्टि से देखते थे। इसलिए वह सामूहिक सत्याग्रह के लिए आवश्यक पर्याप्त अनुशासन पर बहुत ज़ोर देते थे। पर्याप्त अनुशासन के अभाव में इस बात का बड़ा ख़तरा रहता है कि सामूहिक संघर्ष की उत्तेजना प्रतिरोधकारियों को पथभ्रष्ट कर दे और अवज्ञा हिंसात्मक हो जाय। यह ख़तरा इस बात से और भी बढ़ जाता है कि व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा के प्रतिकूल जिसमें व्यक्ति जनता की किसी शिकायत को दूर करने के लिए कष्ट सहते हैं, सामूहिक सविनय अवज्ञा में भाग लेने वालों को अवज्ञा से व्यक्तिगत लाभ की आशा होती है और इस प्रकार वह प्रायः स्वार्थपूर्ण होता है।[2]

१. ह०, ६-१-१९४०, पृ० ४०४।

२. 'स्पीचेज़', पृ० ६३७।

सन् १६४०-४१ के युद्ध-विरोधी सत्याग्रह में गांधीजी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह की एक नई पद्धति का विकास किया। इस पद्धति का उद्देश्य था हिंसा को कम-से-कम कर देना और शुद्धतम अहिंसा का उपयोग करना। उन्होंने नैतिक शुद्धता पर पूरा ज़ोर दिया और सत्याग्रहियों की संख्या उसी सीमा तक बढ़ने दी जहांतक उसका शुद्धता पर हानिकर प्रभाव न पड़ा। संघर्ष का विषय था पिछले युद्ध में भाग लेने के विरुद्ध या युद्ध के ही विरुद्ध भाषण का अधिकार या दूसरे शब्दों में अहिंसक साधनों द्वारा अहिंसा की शिक्षा देने का अधिकार।[1]

उन्होंने आन्दोलन को अक्तूबर, १६४० में प्रतिनिधात्मक सविनय अवज्ञा के तौर पर शुरू किया। प्रारम्भिक धारणा के अनुसार आन्दोलन दो या तीन व्यक्तियों तक सीमित था।[2] तब नवम्बर के मध्य में आन्दोलन में वह भी शामिल कर लिए गए जो कुछ निर्वाचित पदों पर नियुक्त थे, जैसे कार्यसमिति के, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के और केन्द्रीय और प्रान्तीय व्यवस्थापक सभाओं के सदस्य। इसके बाद जनवरी १६४१ में प्रान्तीय और स्थानीय कांग्रेस कमेटियों के सदस्यों की बारी आई। अन्त में कांग्रेस का कोई भी सदस्य जिसने सत्याग्रह के प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर किया हो सविनय अवज्ञा में भाग ले सकता था। लेकिन किसी को भी जेल जाने को विवश न किया जाता था। यह आवश्यक था कि गांधीजी सत्याग्रही के नाम को और उसके सविनय अवज्ञा के तरीक़े को स्वीकृति दे दें।[3] इस प्रकार कांग्रेस के

१. ह०, २०-१०-१६४०, पृ० ३३०।

२. पट्टाभि सीतारमैय्या, 'गांधी ऐंड गांधीइज़्म', भा० १, पृ० १८६-८७; रॉय वाकर, 'सॉर्ड ऑफ़ गोल्ड', पृ० १८४-८६; राजेन्द्रप्रसाद, 'महात्मा गांधी एंड बिहार', पृ० ११२-१४।

३. गांधीजी के अनुसार सविनय अवज्ञा की सबसे अधिक सरल और श्रेष्ठ विधि यह थी कि सत्याग्रही किसी दिशा में चले और तबतक नीचे दिया नारा रास्ता चलने वालों से दोहराता जाय जबतक वह गिरफ्तार न कर लिया जाय। नारा यह था, "अंगरेजों के युद्ध-प्रयास को जन या धन से सहायता करना अनुचित है। केवलमात्र उचित प्रयास है सब प्रकार के युद्ध का अहिंसात्मक प्रतिरोध द्वारा विरोध करना।" नारे का सत्याग्रही के सूबे की भाषा में अनुवाद कर लिया जाता था। गांधीजी को यह विधि इसलिए पसन्द थी कि वह हानि रहित और कारगर थी और युद्ध के एकमात्र प्रश्न पर ध्यान एकाग्र करती थी। इसके अतिरिक्त इस विधि ने आन्दोलन के रूप को बहुत सरल बनाया और उसको सामूहिक बन जाने से बचाया। गांधीजी की राय थी कि प्रतिरोध-

सभी सदस्य आन्दोलन में भाग ले सकते थे, यद्यपि सविनय अवज्ञा सामूहिक रूप में नहीं विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा अलग-अलग होता था।

सत्याग्रह में भाग लेने के लिए गांधीजी ने केवल ऐसे व्यक्तियों को मंजूरी दी जो अहिंसा को केवल देश की स्वतन्त्रता प्राप्त करने और देश के अन्दर धार्मिक और सामाजिक समुदायों के आपसी झगड़ों को निपटाने के साधन के तौर पर ही नहीं स्वीकार करते थे बल्कि यह भी मानते थे कि यथासम्भव स्वतन्त्र भारत में भी उसका उपयोग हो और जो अहिंसा के अविभाज्य अङ्ग रचनात्मक कार्यक्रम में लगे हुए थे। सत्याग्रही के लिए यह आवश्यक था कि वह आदतन खादी पहनता हो और नियमित रूप से सूत कातता हो। उसे अपनी कताई का ब्यौरा देना होता था। यह ज़रूरी था कि वह अपना सब समय रचनात्मक कार्यक्रम में व्यय करता रहा हो और प्रतिदिन के कार्य का दैनिक विवरण लिखता हो। गांधीजी उम्मेदवारों को सविनय अवज्ञा के लिए उनकी डायरी देखकर चुनते थे। सविनय अवज्ञा के कुछ दिन चलने के बाद चुनाव अपने आप होने लगा; जेल से मुक्त सत्याग्रही फिर से सविनय अवज्ञा में भाग लेते थे, लेकिन जो किसी कारण से आन्दोलन में भाग न ले सकते थे वह अलग हो जाते थे। सरकार को परेशान न करने के उद्देश्य से गांधीजी ने इस आन्दोलन में सामूहिक अवज्ञा और असहयोग के साधारण साधनों के प्रयोग को स्थान न दिया। इस सीमित प्रतिनिधात्मक अवज्ञा से भी सरकार को परेशानी हुई, लेकिन गांधीजी का मत था कि इस अवसर पर इस युद्ध या सभी युद्धों में भाग लेने के विरुद्ध भाषण देने के अधिकार की रक्षा के लिए सविनय अवज्ञा आवश्यक थी। उस अवसर पर युद्ध का विरोध इस प्रकार भी न करना अहिंसा को छोड़ देने के समान होता। इस प्रकार सविनय अवज्ञा ऐसे अधिकार के लिए दावा था जो नागरिकों को राज्य की ओर से मिलना चाहिए था; लेकिन जो राज्य को मान्य न था।

कार्य इस बात को अपने कार्य और भाषण द्वारा स्पष्ट कर दे कि वह न तो फासिज्म के तरफदार थे न नात्सीइज्म के। वह या तो सब युद्धों के विरोधी थे या कम-से-कम ब्रिटिश साम्राज्यवाद के द्वारा लड़ी जाने वाली इस लड़ाई के। उनको अंगरेज़ों के जीवन रक्षा के प्रयास के साथ सहानुभूति थी, लेकिन वह स्वयं भी एक स्वतन्त्र राष्ट्र के सदस्य की तरह रहने के इच्छुक थे और उनसे इस बात की आशा करना अनुचित था कि वह अपनी आज़ादी की उपेक्षा करके अंगरेज़ों की सहायता करें। सन् १९४०-४१ के आन्दोलन में सविनय अवज्ञा करनेवालों को दी हुई गांधीजी की हिदायतों के लिए देखिए सीतारमैय्या, 'गांधी एंड गांधीइज़्म', भा० १, पृ० १८२-८४।

यदि नागरिक के कर्तव्य पालन से सरकार को परेशानी भी होती तो उसे टाला नहीं जा सकता था।[1]

इस आन्दोलन में गांधीजी का यह उद्देश्य न था कि सरकार के युद्ध-प्रयास में रुकावट पड़े। भारत ने स्वेच्छा से युद्ध मे भाग लेने का निश्चय न किया था। यह आन्दोलन भारत को युद्ध से अलग रखने का नैतिक प्रयत्न था और अहिंसक साधनों द्वारा देश को स्वतन्त्र करने की कांग्रेस की इच्छा का प्रतीक था। अवज्ञा की इस नई पद्धति की विशेषता यह थी कि इसमें साधारण जनता के भी व्यक्तिगत रूप से भाग लेने की गुञ्जाइश थी और हिंसा का ख़तरा कम-से-कम था।

आन्दोलन में २३,२२३ सत्याग्रहियों ने भाग लिया। दिसम्बर १९४१ में सरकार ने सत्याग्रहियों को शान्ति-स्थापना की इच्छा के चिन्हस्वरूप छोड़ दिया। आन्दोलन फिर से नहीं चलाया गया क्योंकि जापानी भारतवर्ष की सीमा पर पहुंच गए थे और कांग्रेस देश की रक्षा और स्वावलम्बन के प्रश्नों को हल करने में लग गई।

इसके अतिरिक्त सन् १९४१ के अन्तिम भाग में कांग्रेस के कुछ सदस्य व्यक्तिगत सत्याग्रह से असन्तुष्ट थे और ब्रिटिश सरकार के अधिक सक्रिय विरोध के पक्ष में थे। कुछ जेल से मुक्त सत्याग्रहियों में फिर जेल जाने की इच्छा न थी।

जैसा कि गांधीजी के जीवन से ज्ञात होता है सविनय प्रतिरोध को अहिंसा की उच्चतम भूमि पर रखने का उपाय यह है कि वह केवल उस व्यक्ति तक ही सीमित रखा जाय जिसको सत्याग्रह-विज्ञान का अधिकतम ज्ञान हो। इसी कारण सन् १९३४ ई० में गांधीजी ने सविनय अवज्ञा को कांग्रेस के अन्य सदस्यों के लिए स्थगित कर दिया था। उनका विचार था कि इससे सविनय अवज्ञा के आन्दोलन में नैतिक पतन की सम्भावना कम-से-कम हो जायगी, आन्दोलन को शक्ति मिलेगी और जनता और सरकार दोनों सुगमता से आन्दोलन के प्रति ठीक व्यवहार कर सकेंगे।[2] गांधीजी के जीवन के अंतिम भाग में नोआखाली, कलकत्ता और दिल्ली में उनके वीरों की अहिंसा के प्रयोग जो इतने सफल और कारगर सिद्ध हुए सत्याग्रह में अधिकतम दस एक व्यक्ति तक सीमित अहिंसक प्रतिरोध के दृष्टान्त हैं।

---

१. गांधीजी का २१-४-१९४१ का वक्तव्य।

२. चन्द्रशंकर शुक्ल 'कन्वर्सेशन्स ऑव गांधीजी' पृ० ६७।

हिजरत

व्यक्तिगत और सामूहिक सत्याग्रह का एक दूसरा साधन हिजरत है। हिजरत का अर्थ है स्वेच्छा से देश-त्याग। हिजरत के कुछ ऐतिहासिक दृष्टांत हैं रोम के पैट्रीशियन्स से अधिकार प्राप्त करने के लिए प्लेबियन्स का नगर-त्याग, इज़राईल निवासियों की हिजरत, मोहम्मद साहब का मक्का से मदीना को भागना, इंगलैंड के प्योरिटन्स का और रूस के डूखोबार्स का विदेश-गमन। लेकिन यह सभी दृष्टान्त अहिंसक हिजरत के नहीं हैं। सन् १९३० में गुजरात मे बारडोली, बोरसद और जम्बूसर की जनता ने सामूहिक हिजरत की पद्धति का प्रयोग टैक्सबन्दी के आन्दोलन को दबाने के लिए किये गए सरकार के अमानुषिक अत्याचार के विरोध में किया था। यह सत्याग्रही किसान बम्बई के प्रान्त को छोड़कर पड़ोस के बड़ोदा राज्य में बस गए थे।[1]

गांधीजी हिजरत के साधन के उपयोग की शिफ़ारिश उनसे करते हैं जो यह महसूस करते हैं कि उनके ऊपर अत्याचार हो रहा है, जो किसी स्थान-विशेष में बिना आत्मसम्मान की हानि के नहीं रह सकते और जिनमे न तो सच्ची अहिंसा की शक्ति है और न हिंसा द्वारा अपनी रक्षा करने की क्षमता।[2]

इस प्रकार यदि सविनय अवज्ञा अत्याचारी को जनता के खून का प्यासा बना दे और उसका आतङ्क और दमन असह्य हो जायं और इस बात की आशंका हो कि इस परिस्थिति में सत्याग्रही क्रोधित और कमज़ोर हो जायंगे, तो गांधीजी की राय है कि सत्याग्रहियों को घरबार और दूसरी सम्पत्ति की परवाह न करके स्वेच्छा से अत्याचारी की अमलदारी से बाहर चले जाना चाहिए। लेकिन इस साधन का प्रयोग बिना सोचे विचारे नाटकीय प्रभावोत्पादन के उद्देश्य से नहीं करना चाहिए। इसका प्रयोग तभी करना चाहिए जब अत्याचारी के अन्याय को सह लेना सत्याग्रही की नैतिकता की भावना को और उसकी आत्मा को इतनी चोट पहुंचाए कि वह आत्मसम्मान खो देने की अपेक्षा मर जाना अधिक पसन्द करे।[3]

हिजरत के साधन के उपयोग की सलाह उन्होंने सन् १९२८ ई० में बारडोली के सत्याग्रहियों को और सन् १९३९ में जूनागढ़, लिम्बड़ी और विट्ठलगढ़ के सत्याग्रहियों को दी थी।[4] सन् १९३५ में उन्होंने कैथा के

१. 'हिस्ट्री ऑव दि कांग्रेस' पृ० ७०१ और ७०६।

२. ह०, ३-२-१९४०, पृ० ४३५।

३. ह०, २०-५-३९, पृ० १३३-४।

४. ह०, २०-५-३९, पृ० १३३ और यं० इं०, भा० ३, पृ० १०३५-३६।

हरिजनों को उस स्थान के त्याग देने की राय दी थी, क्योंकि सवर्ण हिन्दुओं के आतङ्कपूर्ण बर्ताव के कारण हरिजनों को अपनी स्थिति बड़ी भयावह और निराशापूर्ण मालूम पड़ती थी।[1]

गांधीजी १५ अगस्त, १६४७ से पहले और बाद की साम्प्रदायिक हिंसा से पीड़ित अल्पमत वालों के देश-त्याग के पक्ष में न थे। इस प्रकार के देश-त्याग से साम्प्रदायिक पागलपन, दुर्भावना और हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है और वह जनतन्त्रवाद के विकास में—जिसके लिए धार्मिक सहिष्णुता आवश्यक है—बाधक है। साधारण रीति से अहिंसक देश-त्याग से इस प्रकार का हानिकर परिणाम नहीं होता। किन्तु आजकल के साम्प्रदायिक द्वेष का इलाज गांधीजी के अनुसार हिजरत नहीं है। इलाज है बहुमत द्वारा अल्पमत के जीवन और अधिकारों की रक्षा और अल्पमत द्वारा अन्याचार का वीरों की अहिंसा द्वारा प्रतिरोध। लेकिन यदि उच्चतम वीरता का अभाव हो और यदि हिजरत का विकल्प हो अन्याय के प्रति आत्म-समर्पण, तो हिजरत असह्य स्थिति से छुटकारा पाने का अहिंसक मार्ग है और उसमें कुछ भी अनैतिक या असम्मानपूर्ण नहीं है। किन्तु इस साधन का उपयोग पीड़ितों को व्यक्तिगत रीति से नहीं सामुदायिक रीति से करना चाहिए।

---

१. ह०, ५-१०-३५, पृ० २६८।

: १० :

सामूहिक सत्याग्रह (चालू)

अराजनैतिक संघर्ष और आलोचना

पिछले अध्याय में वर्णित सामूहिक पद्धति का प्रयोग केवल राजनैतिक झगड़ों में ही नहीं आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक अन्याय के विरुद्ध भी हो सकता है। सभी प्रकार के शोषण की जड़ है स्वार्थपूर्ण, पृथकताजनक विचार और मानसिकता और उसका अर्थ है अन्यायी और पीड़ित के बीच सहयोग। इसलिए अन्याय का उत्तरदायित्व अन्यायी और पीड़ित दोनों पर है। अन्याय और शोषण से छुटकारा पाने का उपाय यह है कि पीड़ित इस सहयोग से हाथ खींच ले और कष्ट-सहन द्वारा विरोधी के दिमाग़ और हृदय को प्रभावित करे और इस प्रकार उसे अपनी भूल जानने और उसे सुधारने में सहायता दे। गांधीजी को यह धारणा मान्य नहीं थी कि शोषक का सुधार नहीं हो सकता। उनके मत से शोषक — चाहे वह पूँजीपति हो, चाहे ज़मींदार, चाहे धर्मान्ध व्यक्ति — आवश्यक रूप से मनुष्य है, उसका केन्द्रीय तथ्य आत्मा है: उसकी इस विशेषता का कभी लोप नहीं होता। इसलिए उसका हृदय-परिवर्तन सदा सम्भव है। अन्याय से छुटकारा पाने के लिए हिंसक साधनों के प्रयोग से विरोध गहरा होता है, प्रतिहिंसा की भावना दृढ़ होती है और झगड़ा बढ़ता रहता है। इसके अतिरिक्त हिंसक साधन आज के संसार में शोषक का एकाधिकार हैं। शोषण और अन्याय का अन्त केवल तभी हो सकता है जब झगड़े का निपटारा नैतिकता के विधायक तल पर हो— ऐसे तल पर जहाँ जनमत और अन्यायी पर कष्ट-सहन और प्रेम का अचूक प्रभाव पड़ता है।

आधुनिक स्थिति में शोषक आर्थिक और धार्मिक समुदाय के विरुद्ध अहिंसक प्रतिरोध के फलस्वरूप सम्भवतः सत्याग्रहियों में और राज्य में भी झगड़ा हो जायगा और इस प्रकार झगड़े का स्वरूप राजनैतिक हो जायगा। व्यापक सामाजिक और आर्थिक अन्याय राज्य के अजनतंत्रवादी होने का निश्चित चिन्ह है। अजनतंत्रवादी राजनैतिक संगठन केवल समाज में दूसरे शोषकों के साथ सहयोग करके ही जीवित रह सकता है। किसी भी बुनियादी सामाजिक या आर्थिक प्रश्न पर अजनतंत्रवादी सरकार आत्म-रक्षा के उद्देश्य

से सत्याग्रहियों को दबाए रखने का प्रयत्न करेगी। इसलिए अहिंसक प्रतिरोध के मूलभूत सिद्धांत वही रहेंगे, झगड़े का कारण चाहे जो हो।

सामाजिक संघर्ष

गांधीजी ने स्वयं आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों पर कई अहिंसक लड़ाइयां लड़ी थीं। दक्षिण अफ्रीका की उनकी सर्वप्रथम अहिंसक लड़ाई का कारण भी आर्थिक-सामाजिक था। यह लड़ाई वहाँ के अल्पसंख्यक हिन्दोस्तानियों का—जिनमें अधिकतर मज़दूर थे—वहां के प्रमुख सामाजिक समुदाय, यूरोपनिवासियों के अत्याचार से रक्षा का सफल प्रयत्न था। इस प्रकार वाइकोम (ट्रावनकोर राज्य) का सत्याग्रह भी गांधीजी के पथ-प्रदर्शन में सफलतापूर्वक चला था और उसका उद्देश्य था सवर्ण हिन्दुओं के सामाजिक अत्याचार को दूर करना और अछूतों के नागरिकता के अधिकारों की रक्षा।

यदि समाज में किसी समुदाय के प्रति अन्यायपूर्ण बर्ताव हो तो किसी-न-किसी प्रकार का अहिंसक प्रतिरोध न्याय पाने का सबसे अधिक कारगर उपाय है। गांधीजी के जीवन-कार्य और बलिदान से यह ज्ञात होता है कि किस प्रकार साम्प्रदायिक दंगे और दूसरे ऐसे ही झगड़े अहिंसा द्वारा शांत किये जा सकते हैं। सन् १९३८ में उन्होंने इस कार्य के लिए शांति-सेना बनाने की सिफ़ारिश की। शान्ति-सेना के स्वयंसेवकों को मन, वचन और कर्म से अहिंसक रहने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए। यदि दंगा समझाने-बुझाने से शान्त न हो तो गांधीजी चाहते थे कि यह सेनाएँ साम्प्रदायिकता की अग्नि में अपनी आहुति देकर शान्ति-स्थापना का प्रयत्न करें। उन्हें चाहिए कि क्रोध से पागल दंगा करनेवालों के हिंसक आघात के सामने प्रसन्नता से अपना सर झुकावें और इस प्रकार स्थिति को संभालने का प्रयत्न करें। लेकिन यह सत्याग्रही सफल तभी हो सकते हैं जब वह उस स्थानविशेष के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की दीर्घकालीन निःस्वार्थ रचनात्मक सेवा द्वारा और उनमें शान्ति-प्रचार द्वारा इस बलिदान के अधिकारी बन गए हों। इस सेवा में अपने और दूसरे धर्मों के माननेवालों में भेद नहीं करना चाहिए।[1]

भारतवर्ष में अपने दीर्घकालीन सार्वजनिक जीवन में गांधीजी ने साम्प्रदायिक एकता की स्थापना के लिए भरसक प्रयत्न किया। अनेक अवसरों पर उन्होंने साम्प्रदायिक हिंसा के निराकरण के लिए उपवास किये। नोआखाली में इसी उद्देश्य से उन्होंने गाँव-गाँव यात्रा की और जनता को सद्भावना,

---

१. ह०, १३-७-४०, पृ० २००; २१-७-४०, पृ० २१५ और २६-३-३८, पृ० ५४।

शांति और निर्भयता का संदेश दिया। किंतु उनके उपवासों और अन्य प्रयत्नों की सफलता को उनकी पूर्ण रूप से निःस्वार्थ सेवा के दीर्घकालीन जीवन के संदर्भ में ही समझा जा सकता है।

अनेक अवसरों पर उन्होंने यहूदियों और नीग्रो लोगों को अन्याय, अत्याचार और जातीय पक्षपात के विरुद्ध अहिंसक प्रतिरोध की राय दी थी।

धार्मिक संघर्ष

गांधीजी का मत है कि सत्याग्रह के आध्यात्मिक शस्त्र के उपयोग के लिए और कोई झगड़े इतने उपयुक्त नहीं जितने कि धार्मिक झगड़े।[1]

किन्तु धार्मिक उद्देश्य से किए गए सत्याग्रह में साधारण सत्याग्रह की अपेक्षा अधिक अनुशासन और सतर्कता की आवश्यकता है। धार्मिक सत्याग्रह का प्रयोग किसी अन्य सांसारिक या राजनैतिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए तो कभी करना ही नहीं चाहिए। इस सत्याग्रह का नेतृत्व किसी ऐसे मनुष्य के हाथ में होना चाहिए जो सच्चा ईश्वर-परायण हो और भी अच्छा हो यदि ब्रह्मचारी हो और जिसके दृष्टिकोण की व्यापकता, जीवनोद्देश्य की नितांत निःस्वार्थता, और जीवन की शुद्धता के कारण विरोधी भी उसका आदर और उससे प्रेम करने को विवश हो।[1] आंदोलन में भाग लेनेवाला प्रत्येक व्यक्ति उसी धर्म का अनुयायी होना चाहिए जिसकी अन्याय से रक्षा के लिए आन्दोलन चलाया गया है। सत्याग्रहियों को अहिंसा और ईश्वर में पूर्ण विश्वास होना चाहिए और अन्य धर्मों के माननेवालों के धार्मिक विश्वासों और भावनाओं के लिए समान आदर होना चाहिए। धार्मिक सत्याग्रह में संख्या पर और बाह्य सहायता पर ज़ोर नहीं देना चाहिए और उसे आक्रमणात्मक नहीं होना चाहिए और प्रदर्शनों और दिखावट से बचना चाहिए। अधिकतम आवश्यक बात यह है कि आंदोलन आत्म-शुद्धि की प्रक्रिया हो।

हमारे देश में अति आधुनिक काल में धार्मिक सत्याग्रह के दो दृष्टांत हैं, पंजाब में अकाली सिक्खों का सत्याग्रह (१६२१-२४) और हैदराबाद रियासत में आर्य्य सत्याग्रह (१६३६)। इनमें से किसी को भी गांधीजी के नेतृत्व का लाभ प्राप्त न था। गांधीजी ने आर्य्य सत्याग्रह के उद्देश्य को तो नहीं किंतु उसके साधनों को नापसंद किया था।[2] यह सत्याग्रह अधिकतर बाह्य सहायता पर अवलम्बित था और वास्तव में निष्क्रिय प्रतिरोध था।

अकाली सिखों के सत्याग्रह को गांधीजी का प्रोत्साहन प्राप्त था। आरम्भ

१. ह०, २७-४-३६, पृ० १४३-४४।
२. ह०, १६-८-३६, पृ० २४१।

में यह गुरुद्वारों के—जिनके पास दान में प्राप्त बहुत सम्पत्ति थी—सुधार का आन्दोलन था। इस सम्पत्ति पर महन्तों का अधिकार था। सरकार ने महन्तों को सहायता दी और अकालियों का सरकार से संघर्ष हो गया। एक कठोर अहिंसक संघर्ष के बाद सरकार को हार माननी पड़ी और सिखों द्वारा चुनी हुई शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी का ऐतिहासिक गुरुद्वारों पर अधिकार स्वीकार करना पड़ा।

आर्थिक संघर्ष

जहाँ तक आर्थिक जीवन का सम्बन्ध है, पूँजीवाद और ज़मींदारी की प्रथाएँ अहिंसा से और उससे सम्बन्धित अपरिग्रह के सिद्धांत से मेल नहीं खाती। ज़मीन खेती करनेवालों की होनी चाहिए और किसी भी किसान के पास केवल उतनी ही ज़मीन होनी चाहिए जितनी उसके परिवार के ठीक प्रकार से भरण-पोषण के लिये आवश्यक है।[1]

उत्पादन घरेलू धंधों द्वारा होना चाहिए और यह धंधे व्यक्तियों या सहयोगी समितियों द्वारा सबके समान हित के लिए चलना चाहिए।[1] अनिवार्य केन्द्रीकृत उत्पादन का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए और उसका प्रबन्ध राज्य और मज़दूरों के प्रतिनिधियों के संयुक्त अधिकार में होना चाहिए। किन्तु कपड़े और खाने जैसी प्राथमिक आवश्यकता की वस्तुओं के उत्पादन का केन्द्रीकरण नहीं होना चाहिए। उनके उत्पादन के साधनों को जन-साधारण को हवा और पानी की तरह सुप्राप्य होना चाहिए और उनके नियंत्रण में होना चाहिए। धनिकों को अपनी वर्तमान व्यक्तिगत आवश्यकताओं से अधिक सम्पत्ति का उपयोग संरक्षक (ट्रस्टी) की भाँति समाज के हित के लिए करना चाहिए। किंतु यह लक्ष्य एक दिन में नहीं सिद्ध हो सकता और शोषण, पूँजीवाद और ज़मींदारी आधुनिक आर्थिक जीवन की कठोर वास्तविकताएँ है।

जमींदार और किसान

आर्थिक झगड़ों को निपटाने का गांधीजी का मार्ग वर्गयुद्ध और धनिकों का निर्धनों द्वारा विनाश नहीं किन्तु वर्ग-सहयोग है और यह सहयोग उस वर्गहीन जनतन्त्र की ओर पहला क़दम है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी प्रकार का उत्पादक शरीर-श्रम करेगा और शोषकों का लोप हो जायगा। गांधीजी पूंजीपति और ज़मींदार के विनाश के विरोधी थे, क्योंकि ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं जो सुधार से परे हो और न कोई मनुष्य ऐसा पूर्ण ही है

---

१. ह०, २०-४-४०, पृ० ६६।

जिसको उनके विनाश का अधिकार हो जिनको वह भ्रम से पूरी तरह बुरा समझता हो। यदि ज़मींदारों की मनोवृत्ति बदल जाय और यदि वह किसानों के ट्रस्टी की भांति रहें, और अपने और किसानों के बीच की आर्थिक असमता को दूर कर दें तो ज़मींदारी ज़ब्त करने की आवश्यकता न रहेगी।[१] ट्रस्टीशिप निजी सम्पत्ति का निषेध है और उसकी स्थापना के लिए गांधीजी के अनुसार किसानों को अहिंसक प्रतिरोध की पद्धति का प्रयोग करना चाहिए; यह पद्धति या तो इस प्रथा का सुधार कर देगी या बिना ज़मींदारों को हानि पहुंचाए प्रथा का अन्त कर देगी।[२] "उसको (किसान को) इस प्रकार कार्य करना चाहिए कि ज़मींदार के लिए उसका शोषण करना असम्भव हो जाय।"[३] जून १९४२ में गांधीजी ने इस बात को मान लिया था कि ज़मींदारी को बिना मुआविज़ा दिए ज़ब्त कर लेना होगा क्योंकि ज़मींदारों को मुआविज़ा देना आर्थिक दृष्टिकोण से असम्भव होगा। उनकी यह भी राय थी कि स्वतन्त्र भारत में किसान ज़मीन पर अधिकार कर लेंगे और इस प्रक्रिया में कुछ हिंसा भी हो सकती है।[४] इसके पहले सन् १९३५ में भी उन्होंने कहा था कि यदि अनिवार्य हुआ तो वह इस बात का समर्थन करेंगे कि राज्य कम-से-कम हिंसा द्वारा सम्पत्ति ज़ब्त कर ले।[५] आदर्शवादी दृष्टिकोण से अहिंसा में किसानों द्वारा बलपूर्वक ज़मींदारों के बेदखल किए जाने की गुंजाइश नहीं।[६] किन्तु गांधीजी कोरे सिद्धान्तवादी नहीं थे और उनके लिए सबसे पहली विचारणीय बात थी मनुष्य और उसका सुख। सन्तोष की बात है कि स्वतन्त्र भारत के राज्यों में मुआविज़ा देकर ज़मींदारी प्रथा का अन्त करने के लिए क़ानून बनाए जा रहे हैं और आशा है कि शोषण के इस साधन का शीघ्र अन्त हो जायगा।

हमारे देश की राजनैतिक पराधीनता के दिनों में किसानों की महत्त्वपूर्ण शिकायतों को दूर करने के लिए गांधीजी के मत से अहिंसक प्रतिरोध अचूक साधन था। इस क्षेत्र में अहिंसक प्रतिरोध के सफल प्रयोग के कुछ दृष्टांत हैं—चम्पारन (१९१७), खेड़ा (१९१८) और बारडोली (१९२८)।

१. ह०, २३-४-३८, पृ० ८५।
२. य० इ०, २६-११-१९३१।
३. गांधीजी का २७-१० ४४ का वक्तव्य।
४. लुई फिशर, 'ए वीक विथ गांधी', पृ० ५४, ६०-६१।
५. एन० के० बोस, 'एन इन्टरव्यू विथ महात्मा गांधी', 'माडर्न रिव्यू', अक्तूबर १९३५।
६. गांधीजी का २७-१०-४४ का वक्तव्य।

चम्पारन के सत्याग्रह का—जिसको गांधीजी अहिंसा का पूर्णतम प्रदर्शन समझते थे[1]—कारण था निलहे गोरों के अत्याचार के कारण किसानों की असह्य कठिनाइयां। अन्त में सरकार को किसानों की उन शिकायतों को दूर करना पड़ा जिसकी सुनवाई सौ साल से नहीं हुई थी। खेड़ा का सत्याग्रह गांधीजी ने वहां फ़स्ल ख़राब हो जाने के कारण उस साल के लगाए हुए लगान को स्थगित कराने के लिए किया था। बारडोली का सत्याग्रह— जो कि संगठन और सुव्यवस्था की योजना का नमूना था ८०००० किसानों ने सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में सरकार द्वारा लगान के बिना किसी कारण के अनुचित रूप से बढ़ाने के विरोध में किया था। शक्तिशाली साधन और आतंकपूर्ण अत्याचार भी सरकार को लगानबन्दी के आन्दोलन को दबाने में सफल न बना सके और उसे सत्याग्रहियों की लगभग सभी माँगें स्वीकार करनी पड़ीं। सरकार को सत्याग्रहियों की ज़ब्त की हुई उन ज़मीनों को भी वापस करना पड़ा जो उसने बेच दी थीं और गांवों के उन सरकारी नौकरों को, जिन्होंने सरकारी नीति के विरोध में इस्तीफ़ा दे दिया था, फिर से उनके पदों पर नियुक्त करना पड़ा।

पूंजीपति और मज़दूर

इसी प्रकार गांधीजी का विश्वास था कि यदि पूंजीपतियों की मज़दूरों के प्रति मनोवृत्ति माता-पिता की सी या भाई की सी हो जाय और वह उनको अपनी सम्पत्ति का साझेदार बना लें तो वह समाज की लाभपूर्ण सेवा कर सकते हैं।[2] वास्तव में मज़दूर और पूंजीपति दोनों को एक दूसरे के ट्रस्टी की तरह और उपभोक्ताओं के ट्रस्टी की तरह कार्य करना चाहिए।[3] यदि पूंजीपति और मज़दूर दोनों ट्रस्टी की तरह कार्य करें और अपने हित को समाज के बृहत् हित के संदर्भ में देखें, तो औद्योगिक संघर्षों की संख्या और कटुता बहुत कम हो जायगी।

मज़दूरों को उद्योगों के नियन्त्रण और प्रबन्ध में भाग लेने का अधिकार होना चाहिए और उन्हें काफ़ी फ़ुरसत, ठीक प्रकार के जीवन-यापन के लिए आवश्यक मज़दूरी, जीवन की स्वास्थ्यपूर्ण परिस्थिति और नागरिकता के पूर्ण अधिकार मिलना चाहिए। उचित शिकायतों को दूर करने के लिए मज़दूरों को चाहिए कि पूंजीपतियों को पंचायत द्वारा झगड़े का निपटारा कर लेने को

१. ह०, ४-४-३६, पृ० ३३२।
२. यं० इं०, भा० ३, पृ० ७३६।
३. ह०, २५-६-३८, पृ० १६२।

विवश करने के लिए अहिंसक हड़ताल का उपयोग करें। लेकिन अहिंसक हड़ताल का उसकी पश्चिमीय नामराशि के साथ समीकरण करना *भ्रम होगा। पश्चिमीय ढंग की हड़ताल अहिंसक मालूम होती है; किन्तु* वास्तव में नहीं होती। घृणा और विरोधी को हराने की इच्छा इस हड़ताल को निष्क्रिय प्रतिरोध का एक प्रकार बना देती हैं। यह हड़ताली उपलब्ध मज़दूरों पर अपने नियन्त्रण का प्रयोग पूंजीपतियों को हार मानने पर विवश करने के लिए करते हैं। हड़ताल के कुछ पश्चिमीय आलोचक, जो उसके नैतिक औचित्य को अस्वीकार करते हैं, उसको समझाने-बुझाने और, हृदय-परिवर्तन का नहीं, बल-प्रयोग का साधन मानते हैं। उदाहरण के लिए डा० जान एच० होम्स के अनुसार हड़ताल "हृदय-परिवर्तन के शब्दों में नहीं विजय के शब्दों में विद्रोह है", और उसका विकास "युद्ध की भावना और उसके उद्देश्य से प्रयुक्त हिंसा के शस्त्र" के रूप में हो रहा है।[1]

दूसरी ओर सत्याग्रही हड़ताल में इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि उसकी आंतरिक भावना और पद्धति दोनों अहिंसक रहें। वह विरोधी के हृदय-परिवर्तन के उद्देश्य से स्वेच्छा से स्वीकृत शुद्धकारी कष्ट-सहन है। सफल अहिंसक हड़ताल की महत्वपूर्ण शर्तें निम्नलिखित हैं[2] :—

(१) हड़ताल का कारण न्यायसंगत होना चाहिए।

(२) हड़तालियों को कभी हिंसा का उपयोग नहीं करना चाहिए।[3]

(३) उन्हें हड़ताल में भाग न लेनेवाले मज़दूरों के साथ बल-प्रयोग कभी न करना चाहिए।

(४) हड़ताल के समय उन्हें बिना मजदूर-संघ के धन का उपयोग किये अपना भरण-पोषण करने के योग्य होना चाहिए और इसलिए कोई लाभप्रद, उत्पादक धंधा अपनाना चाहिए। उन्हें दान पर कभी निर्भर न रहना चाहिए।

(५) हड़ताल चाहे जितने समय तक चलती रहे, उन्हें दृढ़ रहना चाहिए। जबतक मज़दूर मज़दूर-संघ के साधन पर बिना निर्भर रहे स्वयं अपना भरण-पोषण नहीं कर सकते, हड़ताल अनिश्चित काल तक चलाई नहीं जा सकती और

१. सी० एम० केस, 'नान्वायोलेन्ट कोअरशन', में पृ० २६७।

२. इन शर्तों के लिए देखिए यं० इं०, भा० १, पृ० ७३०-४१ और 'आत्म-कथा', भा० ५, अ० २०।

३. गांधीजी हड़ताल में (पिछले अध्याय में वर्णित) अहिंसक पिकेटिंग (धरने) के प्रयोग की आज्ञा देते थे।

"कोई भी हड़ताल जो अनिश्चित काल तक चलाई नहीं जा सकती पूरी तरह सफल नहीं हो सकती।"[1]

(६) हड़तालियों को व्यावहारिक रूप से एकमत होना चाहिए।

(७) यदि हड़तालियों के स्थान पर काम करने को दूसरे मज़दूर उपलब्ध हों तो हड़ताल शिकायत दूर करने का ठीक उपाय नहीं है। उस हालत में यदि मज़दूरी अपर्याप्त या अनुचित हो या ऐसी ही अन्य कोई बात हो तो ठीक उपाय है इस्तीफ़ा।

(८) बिना अपने संघ की अनुमति के मज़दूरों को किसी भी कारण से हड़ताल नहीं करना चाहिए।

(९) कम-से-कम माँग के आधार पर, जो बदली नहीं जा सकती, मिल-मालिकों से पहले निपटारे की बातचीत किए बिना हड़ताल करने की जोखिम नहीं उठानी चाहिए।

गांधीजी सहानुभूति के लिए की गई हड़तालों के विरुद्ध थे। उनका विश्वास था कि अहिंसक हड़ताल उन तक ही सीमित रहना चाहिए जो उन शिकायतों से, जिनको दूर करना हड़ताल का उद्देश्य है, कष्ट पा रहे हैं। इस बात का अर्थ है सत्याग्रह के बाह्य सहायता पर अनाश्रित रहने के सिद्धान्त को आर्थिक झगड़ों में लागू करना। यदि उद्देश्य हृदय-परिवर्तन है न कि बल-प्रयोग या परेशान करना, तो पीड़ित का स्वयं कष्ट सहना ही फलप्रद हो सकता है। लेकिन कुछ थोड़े से अवसरों पर सहानुभूति के लिए हड़ताल करना मज़दूरों का कर्तव्य भी हो सकता है। उदाहरण के लिए यदि एक मिल के मालिक ऐसी दूसरी मिल के मालिकों के साथ मिल जायं जहां मज़दूर न्यायोचित शिकायत के कारण हड़ताल कर रहे हैं, तो पहली मिल के मज़दूरों का कर्तव्य है कि हड़ताल करने वालों का साथ दें।[2]

गांधीजी का मत था कि जबतक मज़दूर देश की राजनैतिक स्थिति को समझने न लगें और देशहित के लिए काम करने को तैयार न हो जायं, तब तक उनको राजनैतिक उद्देश्यों से हड़ताल न करना चाहिए। जबतक वह स्वयं अपनी दशा सुधार न लें और अपनी न्यायोचित शिकायतों को दूर करना न सीख जायं तब-तक उनसे राजनैतिक उद्देश्यों से हड़ताल करने की आशा नहीं करनी चाहिए। जबतक मज़दूरों में राजनैतिक अज्ञान है, तबतक राजनैतिक उद्देश्य से हड़तालें करवाना मज़दूरों का शोषण और एक प्रकार की हिंसा है। मज़दूरों की राजनीति उनके ही स्वतन्त्र फैसले की बात होना

१. 'स्पीचेज़', पृ० ७८६-८७।

२. यं० इं०, भा० २, पृ० ९५३।

चाहिए और उनका राजनैतिक कार्य यह होना चाहिए ऐसे उद्देश्य को आगे बढ़ाने के लिए कार्य करें जिसे उन्होंने स्पष्ट रूप से समझा है और जान-बूझ कर अपनाया है।[1]

साधारण रीति से हड़ताल मज़दूरों की स्थिति में सुधार के लिए होनी चाहिए। जब मज़दूर देश-प्रेम की भावना को अपना लें तो हड़तालें पूंजीपतियों को बेजा मुनाफ़ा लेने से रोकने के लिए, मूल्य के निर्धारण के लिए और मूल्य मुनाफे, और मज़दूरी में ठीक अनुपात रखने के लिए भी की जा सकती है।[2] हड़तालें कम और कभी-कभी ही होनी चाहिए और जब मज़दूरों का संगठन अधिक दृढ़ हो जाय, तब हड़तालों का स्थान पंचायती फैसलों को ले लेना चाहिए। अहमदाबाद में गांधीजी के प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप यह बात सिद्ध हो चुकी है कि पंचायती फैसलों का सिद्धान्त मज़दूरों और पूंजीपतियों दोनों के लिए हितकर है।

हड़ताल और पंचायती फैसले की पद्धतियों के सफल प्रयोग के लिए सुसंगठित मज़दूर-संघ, जिनसे मज़दूरों में उनकी शक्ति की चेतना आए, आवश्यक हैं। लेकिन संगठन अहिंसा के सिद्धान्तों के अनुसार होना चाहिए। इस संगठन को मज़दूर और पूँजीपतियों में सहयोग की सम्भावना में दृढ़ विश्वास पर आधारित होना चाहिए। अहमदाबाद के मजूर महाजन का संगठन अहिंसा के सिद्धान्तों के अनुसार है। कुछ वर्ष पूर्व महाजन के ५०,००० सदस्य थे। वह देश का अधिकतम शक्तिशाली मज़दूर-संघ था और गांधीजी के पथ-प्रदर्शन में कार्य करता था। महाजन का एक उद्देश्य है ठीक समय पर बुनाई-सम्बन्धी केन्द्रित उद्योगों का राष्ट्रीयकरण। यह उद्देश्य गांधीजी की प्रेरणा से सन् १९२६ में महाजन ने अपनाया था। हैरोल्ड बटलर, ब्रेल्सफोर्ड, टाम शा, गिल्बर्ट स्लेटर आदि बहुत से पश्चिम के विचारकों ने महाजन के देशी स्वरूप की और गांधीजी के प्रभाव से विकसित पंचायती फैसले और समझौते के संयुक्त तरीक़े की बहुत प्रशंसा की है।

पंचायती फैसले के सफल न होने पर महाजन के विधान में हड़ताल की गुंजाइश है। महाजन ने बहुत सी हड़तालें भी करवाई हैं और इनमें से अधिकतम का परिणाम सन्तोषप्रद हुआ है। वास्तविक सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में आन्तरिक सुधार के महत्त्व पर गांधीजी का ज़ोर मज़दूरों की भलाई के लिए किए गए महाजन के व्यापक कार्य में प्रकट होता है। महाजन

१. अमृत बाज़ार पत्रिका (२४-९-४४) में जी० एल० नन्दा का 'गांधियन वे इन दि लेबर मूवमेंट' शीर्षक लेख।

२. य० इ०, भा० १, पृ० ७३७-४१।

के इस प्रकार के कार्य में सन् १९४३-४४ में ८६००० रु० और सन् १९४४ से पिछले २५ वर्षों में लगभग १४ लाख रु० खर्च हुआ था।[1] मज़दूरों की अहिंसक शक्ति को विकसित करने के उद्देश्य से महाजन उनके सुधार के सभी साधनों के उपयोग करने का प्रयत्न करता है और उनके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सम्पर्क रखता है। सन् १९३७ से महाजन मज़दूरों को मिल में उनके प्रधान कार्य के अतिरिक्त किसी दूसरे धन्धे में शिक्षा देता रहा है जिसमें मिल के बन्द हो जाने, हड़ताल या बेकारी की हालत में वह अपना भरण-पोषण कर सकें और भूखों मरने के खतरे से बच सके।[2] गांधीजी का मत था कि देश के सभी मज़दूर-संघों का संचालन उसी प्रकार होना चाहिए जिस प्रकार अहमदाबाद के मजूर महाजन का होता रहा है।[3]

अहिंसक प्रतिरोध और समाज-व्यवस्था

सामूहिक प्रतिरोध-पद्धति के रूप में सत्याग्रह की कड़ी आलोचना हुई है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि वह क़ानून और व्यवस्था की विनाशक अप्रगतिशील और अवैधानिक है।

यदि सत्याग्रही प्रतिरोध अपराधपूर्ण रीति से क़ानून की अवज्ञा होता तो वह अवश्य सामाजिक व्यवस्था का विनाशक और अप्रगतिशील होता। किन्तु अहिंसक प्रतिरोध और अपराधपूर्ण अवज्ञा में आकाश पाताल का अन्तर है। अपराधी या साधारण रीति से क़ानून की अवज्ञा करनेवाला छिपकर क़ानून तोड़ता है और दंड से बचने का प्रयत्न करता है। अहिंसक प्रतिरोधकारी क़ानून को मानता है, इसलिए नहीं कि वह सज़ा से डरता है बल्कि इसलिए कि वह क़ानून को समाज के लिए लाभकारी समझता है। किन्तु यदि क़ानून इतना अन्यायपूर्ण हो कि उसकी नैतिकता की भावना को चोट पहुँचाए और यदि क़ानून में परिवर्तन कराने का उसका प्रयत्न निष्फल हो जाय तो वह उस क़ानून की खुले तौर से और विनय के साथ अवज्ञा करता है और चुपचाप सज़ा को स्वीकार करता है। वास्तव में उसकी अवज्ञा का कारण होता है उसका क़ानून मानने का स्वभाव जो उसे सर्वोच्च क़ानून—अर्थात् अन्तरात्मा की आवाज़ जो दूसरे अन्य क़ानूनों का अतिक्रमण करती है—के पूरी तरह से मानने पर विवश करता है।[4] निस्संदेह अपराधपूर्ण अवज्ञा अराजकता उत्पन्न

१. जी० एल० नन्दा का 'गांधीजी, हिज़ लाइफ एंड वर्क' में लेख, पृ० १८९।
२. ह०, ३-७-३७, पृ० १६१।
३. गांधीजी, 'कन्स्ट्रक्टिव प्रोग्राम', पृ० २१।
४. 'स्पीचेज़', पृ० ४५७ और ५०४-५।

करती है। लेकिन सविनय अवज्ञा न तो अराजकता की उत्पादक है और न अप्रगतिशील है, यद्यपि उसका उद्देश्य है अनैतिक क़ानूनों और अन्यायपूर्ण व्यवस्था का विनाश।

जब सविनय अवज्ञा, अशान्ति और संघर्ष को उत्पन्न करने वाले अन्याय, असत्य और शोषण के विरुद्ध युद्ध करती है, तब वह सत्य और अहिंसा पर आधारित उच्चकोटि की न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था का भी विकास करती है।

इसके अतिरिक्त यदि सविनय अवज्ञा सामाजिक व्यवस्था को थोड़ा ढीला भी कर दे तो भी यह याद रखना चाहिए कि द्वन्द्व-युद्ध, अपराध, क़ानून के विरुद्ध छिपाकर वस्तुओं का देश में आयात, मुक़दमेबाज़ी, अप्रिय टैक्सों को टालना आदि ऐसी सामाजिक वास्तविकताएँ हैं जिनके विरुद्ध क़ानून केवल हैं और जो क़ानून के शासन के एकमात्र अपवाद नहीं बल्कि उसके क्षेत्र में बिखरे हुए महत्वपूर्ण रिक्त स्थान हैं।[1] सामाजिक एकता का थोड़ा ढीलापन उस काल की एक आवश्यक विशेषता है जब सामाजिक जीवन को नवीन और अधिक परिपूर्ण बनाने का प्रयत्न हो रहा हो। संधिकालीन समाज के इस थोड़े ढीलेपन को सामाजिक अव्यवस्था और अराजकता समझ लेना नितान्त भ्रमपूर्ण है।

अहिंसक प्रतिरोध की वैधानिकता

अहिंसक प्रतिरोध के वैधानिक या अवैधानिक होने के सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि पश्चिम के कुछ राजनैतिक विचारकों का मत है कि राज्य को सर्वोच्च सत्ता (प्रभुता) प्राप्त है। इस सत्ता के प्राप्त होने के कारण राज्य के क़ानून ही, वह समाज के सामान्य हित के अनुकूल हों या प्रतिकूल, व्यक्ति के व्यवहार के औचित्य के उच्चतम निर्णायक हैं। इन विचारकों के अनुसार नागरिक का निरपेक्ष कर्तव्य है राज्य के प्रति आज्ञाकारिता। यह राज्य के क़ानूनों के विरुद्ध नैतिकता के किसी दावे को अवैधानिक बताते हैं। लेकिन यह चरमवादी सिद्धान्त पश्चिम के बहुत से विचारकों को मान्य नहीं है। इनके अनुसार राज्य के प्रति आज्ञाकारिता का प्रश्न वास्तव में नीतिशास्त्र का प्रश्न है, राज्य के कार्य में, राज्य के कार्य होने के ही कारण, कोई विशेष नैतिकता नहीं होती और नागरिक की वफ़ादारी पर राज्य का अधिकार राज्य के क़ानूनों की नीतिमत्ता पर अवलम्बित है। लैस्की के शब्दों में "हमारा

१. कार्ल ब्रिन्कमेन, 'रीसेन्ट थियरीज़ आफ़ सिटीज़नशिप', और सी० ई० मेरियम, 'पोलिटिकल पावर', अ० ६।

पहला कर्तव्य है अपनी अन्तरात्मा के प्रति सच्चे होना।"[1]

गांधीजी के अनुसार भी, राजनैतिक कर्तव्यों का प्रश्न आवश्यक रूप से नैतिक है और "राज्य के क़ानून की अवज्ञा निश्चित कर्तव्य हो जाता है जब इसका (राज्य के कानून का) ईश्वरीय क़ानून से संघर्ष होता है।"[2] उनका मत था कि, "ऐसे क़ानूनों को मानना जिनको हमारी अन्तरात्मा स्वीकार न करे हमारी मर्दानगी के विरुद्ध है...... जबतक यह भ्रम दूर नहीं होगा कि मनुष्यों को अन्यायपूर्ण क़ानून का पालन करना चाहिए तबतक उनकी गुलामी भी नहीं मिटेगी।"[3] उनका कहना था कि सत्याग्रह तभी अवैधानिक होगा जब "सत्य और उसका सहचर आत्म-बलिदान ग़ैरक़ानूनी हो जायंगे।"[4]

यदि सरकार का सङ्गठन अजनतन्त्रवादी है और अन्याय और शोषण पर आश्रित है, तो गांधीजी के मत से सरकार ही अवैधानिक है। इस प्रकार की सरकार का अहिंसक प्रतिरोध जनता का पवित्रतम और अधिकतम वैधानिक कर्तव्य है।[5]

चरमवादियों के दृष्टिकोण से भी, जो राज्य को अपरिमित सत्ता (प्रभुता) का अधिकारी मानते हैं, जनमत को शिक्षा देने के लिए समझाना-बुझाना वैधानिक ही है। अहिंसक प्रतिरोध समझाने-बुझाने का सबसे अधिक कारगर तरीका है, क्योंकि कष्ट सहन करनेवाला सत्याग्रही प्रतिपक्षी के हृदय और बुद्धि को प्रभावित करने का प्रयत्न करता है। यदि सत्याग्रही भूल भी करता है तो भी उसका प्रतिरोध उसके अतिरिक्त किसी दूसरे को हानि नहीं पहुँचाता, क्योंकि उसके प्रतिरोध की पद्धति है स्वयं कष्ट सहना। उसका प्रतिरोध नैतिक है न कि शरीर-शक्ति पर आश्रित। अहिंसक प्रतिरोध विरोधी के विनाश का नहीं उसके मतपरिवर्तन का प्रयत्न है। गांधीजी के शब्दों में, "सत्याग्रह जनता को शिक्षित करने और जाग्रत करने का महानतम साधन है।"[6]

इसके अतिरिक्त, प्रत्येक क़ानून व्यक्ति को इस चुनाव का अधिकार देता है कि या तो वह क़ानून माने या उसकी अवज्ञा के लिए प्राप्त दंड सहे।

१. लैस्की, 'दि ग्रामर ऑव पालिटिक्स' पृ० २८६।
२. गांधीजी, 'नीतिधर्म', पृ० ४७।
३. 'हिन्द-स्वराज्य', पृ० ७०-७१।
४. यं० इ०, भा० ३, पृ० १०४३।
५. 'स्पीचेज़', पृ० ५३२, यं० इ०, भा० १, पृ० ६३८, सुशीला नैयर, 'बापू की कारावास कहानी', पृ० २३३।
६. ह०, ३०-१२-४६, पृ० २६३।

यदि क़ानून अनैतिक है, या यदि सरकार नीति-भ्रष्ट है, तो सत्याग्रही इनमें से दूसरा विकल्प चुनता है और स्वेच्छा से सरकार द्वारा दी हुई सज़ा को स्वीकार करता है।[१]

गांधीजी के विरोधी फील्ड मार्शल स्मट्स ने दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह को वैधानिक आन्दोलन माना था।[२] हिन्दोस्तान के तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिंज ने भी गांधीजी के दक्षिण अफ्रीका के आन्दोलन को उचित समझा था। अमेरिका के विचारक चार्ल्स ई० मेरियम गांधीजी की सविनय अवज्ञा-पद्धति को क़ानून की सीमा के अन्तर्गत बताते हैं।[३] सर स्टैफर्ड क्रिप्स जनतन्त्रवादी राज्य में मज़दूरों की आम हड़ताल को कुछ परिस्थितियों में न्यायोचित समझते हैं। इस प्रकार इंगलैंड के राजनीतिज्ञ सी० आर० ऐटली का मत है कि न्याय प्राप्त करने के जनतन्त्रवादी साधनों के अभाव में समाज में बुनियादी परिवर्तन के लिए अवैधानिक साधनों का, हिंसात्मक साधनों का, भी प्रयोग अनिवार्य है।[४]

जैसा कि इतिहास के विद्यार्थियों को अच्छी तरह मालूम है, इंगलैंड के मैगना कार्टा (महान अधिकार-पत्र) और फ्रांस के डिक्लेरेशन ऑव दि राइट्स ऑव मैन (मनुष्य के अधिकारों की घोषणा) ने कुछ परिस्थितियों में राज्य का प्रतिरोध करने का अधिकार क़ानूनी मान लिया है। मैगना कार्टा आज भी हैलम के अनुसार इंग्लैंड की स्वतन्त्रता की आधारशिला है। मैगना कार्टा के ६१ वें अध्याय में २५ बड़े ज़मींदारों की एक कमेटी की नियुक्ति का वर्णन है। इस कमेटी का राजा के विरुद्ध प्रतिरोध करने का अधिकार मैगना कार्टा की व्यवस्था को कार्यान्वित करने के साधन के रूप में मान लिया गया था।[५]

---

१. 'हिन्दस्वराज्य', पृ० ७०-७१।

२. 'स्पीचेज़', पृ० ४८०।

३. मेरियम, 'पोलिटिकल पावर', पृ० १७४।

४. रिचर्ड आक्लैंड (संपादक), 'व्हाई आइ ऐम ए डेमोक्रैट', ऐटली और क्रिप्स के लेख।

५. इतिहासकार नीस्ट का मत है कि मैगना कार्टा के ६१ वें अध्याय में माना हुआ विद्रोह का अधिकार इकरारनामे पर आधारित मध्यकालीन जागीरदारी (फ्यूडल) राज्य की कानूनी धारणाओं के विरुद्ध नहीं है (रुडोल्फ नीस्ट, 'हिस्ट्री ऑव दि इंग्लिश कान्स्टीट्यूशन', दूसरा संस्करण, भा० १, पृ० ३०६-७)। ६१ वें अध्याय पर टीका करता हुआ ऐडम्स लिखता है,

यदि हम इस चरमवादी दृष्टिकोण को सत्य मान लें जो शासन-विधान को पवित्रतम समझता है और इस बात का विचार भी नहीं करता कि विधान किस प्रकार का है, जनतन्त्रवादी है या नहीं, और शासन के कार्य का जनहित पर क्या प्रभाव पड़ता है, तो सरकार इस बात की एकमात्र निर्णायक हो जायगी कि जनता के विचार क्या होने चाहिए, अजनतन्त्रवादी देशों में जनतन्त्रवादी आन्दोलन असम्भव हो जायंगे और राजनैतिक उन्नति न हो सकेगी। वास्तव में प्रतिरोध करने का अधिकार अत्याचार-पीड़ित जनता के हाथ में अन्यायी शासकों के अत्याचार का अन्त करने का और वैधानिक शासन की स्थापना का सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसी कारण इतिहास कभी सफल हिंसक विद्रोहों को भी अवैधानिक बताकर उनकी निन्दा नहीं करता। किन्तु गांधीजी न्याय प्राप्त करने के लिए हिंसक साधनों के प्रयोग को वैधानिक नहीं मानते थे। उनका मत था कि हिंसा द्वारा अन्याय का निराकरण और न्याय की स्थापना सम्भव ही नहीं।

सविनय प्रतिरोध निस्संदेह निरंकुश अजनतन्त्रीय राज्य के लिए खतरनाक है, लेकिन जनतन्त्रवादी राज्य के लिए जो सदा जनमत का सम्मान करता हो वह हानिरहित है। सविनय प्रतिरोध जनमत को शिक्षित और दृढ़ बनाता है और बुराइयों को दूर करता है। गांधीजी लिखते हैं, "मेरा यह दृढ़ मत है कि सविनय अवज्ञा वैधानिक आंदोलन का शुद्धतम रूप है।" "सविनय अवज्ञा नागरिक का स्वभावसिद्ध अधिकार है.. .. सविनय अवज्ञा

"पश्चिमीय यूरोप के जागीरदारी कानून को आश्रित ज़मींदारों का, अन्याय से अपनी रक्षा के उद्देश्य से, प्रभु-भक्ति त्याग करने का और बड़े ज़मींदार के विरुद्ध युद्ध करने का अधिकार मान्य था। इस प्रकार की किसी स्थिति में उसके ऊपर राजद्रोह के अपराध का आरोप नहीं हो सकता था। इस समय बड़े ज़मींदार इसी अधिकार के अनुसार कार्य कर रहे थे।" ऐडम्स के अनुसार मैगना कार्टा के दो बुनियादी सिद्धान्त हैं जो आज भी इंगलैंड के शासन-विधान के, और सभी शासन-विधानों के, उसी स्पष्ट रीति से आधार हैं जैसे कि सन् १६१५ ई० में थे। पहिला यह है कि राज्य में शासितों के, या समाज के, अधिकारों का कानून है जिसको मानना राजा (या शासक) के लिए अनिवार्य है, और दूसरा यह है कि यदि राजा (या शासक) इन अधिकारों की उपेक्षा करेगा तो उसे बल-प्रयोग द्वारा, या उसके विरुद्ध विद्रोह द्वारा, इन अधिकारों को मानने को विवश किया जा सकता है। जी० बी० ऐडम्स, 'कान्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑव इंग्लैंड', पृ० १२६-३० और १३७-३६।

को दबाना अन्तरात्मा को क़ैद करने का प्रयत्न है।"[1]

आज के अधिकतर राज्य या तो अजनतन्त्रवादी हैं या केवल बाह्य रूप से जनतन्त्रवादी है, पर वास्तव में जनतन्त्रवाद के मूलभूत सिद्धांतों की उपेक्षा करते हैं। निस्संदेह सच्चे जनतन्त्र मे अहिंसक प्रतिरोध के प्रयोग के अवसर कम होंगे, विशेष रूप से यदि जनतन्त्रवादी सरकार किसी संकट में हो।[2] किन्तु प्रमुख रीति से जनतन्त्रवादी राज्य में भी अहिंसक प्रतिरोध नैतिक दृष्टिकोण से उचित होगा। ऐसे राज्य में भी सामाजिक संस्थाओं और सम्बन्धों मे अपूर्णता होगी और इसलिए उसमें मानव जीवन की परिपूर्णता के श्रेष्ठतम साधन की तरह कष्ट-सहन करने वाले प्रेम के प्रयोग के लिए सदा स्थान रहेगा। सन् १९३० मे गांधीजी ने लिखा था, "मैं जानता हूं कि यदि मैं स्वतन्त्रता के संघर्ष के बाद जीवित रहा तो सम्भव है कि मुझे अपने देशवासियों के विरुद्ध अहिंसक लड़ाइयाँ लड़नी पड़ें।"[3] स्वतन्त्र भारत का हवाला देते हुए सन् १९४५ के एक वक्तव्य में उन्होने कहा था, "यदि विधान मंडल किसानो के हितों की रक्षा करने के अयोग्य साबित हो तो उनके पास सदा असहयोग और सविनय अवज्ञा का श्रेष्ठ साधन रहेगा।"[4] हिंद स्वराज्य में वह लिखते हैं, "जहां सत्याग्रह ही प्रजा का खास सहारा हो वहीं सच्चा स्वराज्य सम्भव है। जहां ऐसा न हो वहां स्वराज्य नहीं, विदेशी राज्य ही है।"[5]

अहिंसक प्रतिरोध और बल-प्रयोग

अहिंसक प्रतिरोध अक्सर भ्रम से अवैधानिक समझ लिया जाता है, क्योंकि यह विचार किया जाता है कि वैधानिक साधन समझाने-बुझाने पर आश्रित होते हैं, जबकि अहिंसक प्रतिरोध मे विरोधी पर बल-प्रयोग होता है। अहिंसक प्रतिरोध के आलोचकों के अनुसार विरोधी पर हिंसक और अहिंसक प्रतिरोध के प्रभाव मे कोई वास्तविक अन्तर नही है। उनके अनुसार अहिंसा भी बल-प्रयोग का एक प्रकार है। अहिंसक प्रतिरोध के कुछ समर्थकों का भी कहना है कि क्योंकि अहिंसा एक प्रकार का बल-प्रयोग ही है इसलिए अन्याय का सामना जहां तक हो सके अहिंसा से किन्तु जब आवश्यक हो हिंसा से भी करना चाहिए।

१. यं० इं०, भा० १, पृ० ६४३।
२. ह०, ७-९-४७, पृ० ३१६।
३. यं० इं०, ३०-१-१९३०, पृ० ३७।
४. १२ १-४५ का वक्तव्य।
५. 'हिन्द-स्वराज्य' पृ० ७४।

उदाहरण के लिए आर्थर मूर का मत है कि सत्याग्रह 'मानसिक हिंसा' है; "एक युद्ध-पद्धति है जिसका निशस्त्र जनता उपयोग कर सकती है" और जो सशस्त्र विद्रोह या युद्ध के विपरीत विशेष रूप से आध्यात्मिक शस्त्र किसी प्रकार नहीं है। वह इस दावे को नहीं मानते कि सत्याग्रह उच्च नैतिक भूमि पर है, या वह ईसाइयत का प्रयोग है।[1] सी० एम० केस समझाने-बुझाने के लिए कष्ट-सहन और बल-प्रयोग के लिए कष्ट-सहन में भेद करते हैं। पहिला प्राचीन प्रकार का निष्क्रिय प्रतिरोध है जो बिना बल-प्रयोग के विरोधी की मनोवृत्ति को बदलने का प्रयत्न करता है। केस के अनुसार असहयोग, हड़ताल और बहिष्कार बल-प्रयोग के लिए कष्ट-सहन के प्रकार हैं। उसका कहना है कि बल-प्रयोग मानसिक हो सकता है या शारीरिक। असहयोग, हड़ताल और बहिष्कार बल-प्रयोग के दृष्टान्त हैं क्योंकि उनमें प्रतिरोधकारी इस स्पष्ट उद्देश्य से अपने आपको कष्ट देता है कि वह विरोधी के मन में दुविधा की स्थिति पैदा करदे। विपक्षी के सामने दो विकल्प होते हैं, प्रतिरोधकारी को कष्ट सहने देना या उसकी बात मान लेना। इन विकल्पों में से एक भी विरोधी की इच्छा या निर्णय के अनुकूल नहीं होता, लेकिन परिस्थिति उसको उन दो में से एक को स्वीकार करने पर विवश कर देती है। एक ओर तो उसके ऊपर शरीर-शक्ति या हिंसा का प्रयोग नहीं होता और न उसके प्रयोग की धमकी ही दी जाती है, पर दूसरी ओर दोनों विकल्पों में एक की भी अच्छाई में उसको विश्वास नहीं होता। वह दोनों विकल्पों में से किसी को भी मान ले उसकी बुद्धि उनको श्रेयस्कर या उचित नहीं बताती। इस प्रकार उस पर बल-प्रयोग होता है, यद्यपि अहिंसक रूप से बल-प्रयोग होता है।[2] जवाहरलाल नेहरू का भी विश्वास है कि अहिंसा में भी वैसे ही बल-प्रयोग होता है जैसे हिंसा में, कभी-कभी तो हिंसा की अपेक्षा भी अधिक।[3]

आर्थर मूर अपनी इस भ्रमपूर्ण धारणा के कारण सत्याग्रह की नैतिक उच्चता को अस्वीकार करते हैं कि सत्याग्रह मानसिक हिंसा है। गांधीजी के अनुसार मानसिक हिंसा प्रत्यक्ष रूप से अहिंसक मालूम होने वाले कार्य को दुराग्रह या निष्क्रिय प्रतिरोध में परिवर्तित कर देगी।

केस का समझाने-बुझाने के उद्देश्य से और बल-प्रयोग के उद्देश्य से स्वीकृत कष्ट-सहन का अन्तर गांधीजी मान लेते, किन्तु वह सत्याग्रह को

१. राधाकृष्णन, 'महात्मा गांधी', पृ० १६२-६३।
२. सी० एम० केस, 'नान्वायोलेन्ट कोअर्शन', पृ० ४०२।
३. उनकी आत्म-कथा (अंग्रेज़ी), पृ० ५३६।

बल-प्रयोग की कोटि में न रखते। केस अपनी पुस्तक में अहिंसक असहयोग और पश्चिम में प्रयुक्त हड़ताल और बहिष्कार को समकक्ष बताते हैं। उनके (केस के) हड़ताल और बहिष्कार के वर्णन से यह स्पष्ट है कि यह दोनों साधन गांधीजी के अर्थ में नहीं, केवल दिखावट मे अहिंसक हैं।[1] गांधीजी पश्चिम मे प्रयुक्त बहिष्कार और हड़ताल को सत्याग्रह के नहीं निष्क्रिय प्रतिरोध के दृष्टान्त समझते थे। दोनों मे अर्थात् एक ओर तो सत्याग्रह मे और दूसरी ओर निष्क्रिय प्रतिरोध के रूप मे हड़ताल और बहिष्कार में, यह सादृश्य है कि वह शारीरिक हिंसा से बचते हैं, किन्तु समाज में दूसरों को प्रभावित करने के इन दोनों साधनों में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। इनके प्रभाव मे इतना अन्तर है कि उनके (प्रभाव के) वर्णन के लिए पृथक् शब्दों का प्रयोग विचारों की स्पष्टता के लिए लाभप्रद होगा।

दोनों का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि सत्याग्रह नैतिक दृष्टिकोण से शारीरिक ही नहीं मानसिक हिंसा से भी बचने का प्रयत्न करता है, जबकि निष्क्रिय प्रतिरोध के रूप मे हड़ताल और बहिष्कार कार्य सिद्ध करने के अवसरवादी दृष्टिकोण से शारीरिक हिंसा से अलग रहते हैं। इस प्रकार सत्याग्रह में यह आवश्यक है कि प्रेरक हेतु हिंसक न हो, जबकि (पश्चिमीय ढंग के) बहिष्कार और हड़ताल बाह्य कार्य पर ज़ोर देते हैं, प्रेरक-हेतु की उपेक्षा करते हैं और खुले तौर से शारीरिक हिंसा या उसकी धमकी के प्रयोग को छोड़कर, समाज मे दूसरों पर प्रभाव डालने के प्रत्येक अन्य साधन का प्रयोग करते हैं।[2] इस अन्तर के परिणामस्वरूप सत्याग्रह मे कष्ट सहन का प्रमुख भार सत्याग्रही सहता है, हड़ताल और बहिष्कार मे प्रतिरोधकारी और उसके विरोधी के बीच कष्ट-सहन के भार का अनुपात उल्टा होता है। हड़ताल और बहिष्कार में दोनों विकल्पों मे से (अर्थात् प्रतिरोधकारियों की माँग और उनके प्रतिरोध से पड़े दबाव मे से) एक भी विरोधी को वाँछनीय नहीं जंचता और उसको दो बुराइयों मे से एक को चुनना पड़ता है।[3] सत्याग्रह में माँग इतनी स्पष्ट, इतनी निर्संदिग्ध रूप से न्यायसंगत और नैतिक दृष्टिकोण से दोनों पक्षों के लिए हितकारी होती है कि जब विपक्षी स्वार्थ के कारण माँग का विरोध भी करता है तब भी उसमें सत्याग्रही की मांग और उसके व्यवहार के औचित्य की चेतना होती है। इस प्रकार सत्याग्रही विरोधी के नैतिक रक्षा-साधनों को बेकार बना देता है और उसके प्रतिरोध का प्रभाव विरोधी को विवश अवश्य

१. सी० एम० केस, 'नान्वायोलेन्ट कोअर्शन', पृ० २६५-३४६।
२. सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध मे भेद के लिए ऊपर आठवा अध्याय देखिए।
३. केस, 'नान्वायोलेन्ट कोअर्शन', पृ० ३१८।

करता है पर वह प्रभाव उसी प्रकार का होता है जैसे समझाना-बुझाना। दूसरी ओर बहिष्कार और हड़ताल विरोधी में आने वाले कष्ट और हानि का डर उत्पन्न करते हैं और उसपर बल-प्रयोग करते हैं। सत्याग्रह का प्रभाव होता है अहिंसक नैतिक दबाव जो एकता और नैतिकता को दृढ़ता देता है, जबकि हड़ताल और बहिष्कार का प्रभाव होता है मानसिक हिंसा जो विभाजक और नैतिकता को दुर्बल बनाने वाली होती है।

जब हड़ताल और बहिष्कार सब प्रकार की हिंसा से न बचें तो उनके प्रभाव को अशारीरिक या मानसिक हिंसा कहना उचित होगा। किन्तु इन स्पष्ट रूप से विभिन्न सामाजिक शक्तियों को, सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध (हड़ताल और बहिष्कार) को, एक ही वर्ग में रखना स्पष्ट चिन्तन के दृष्टिकोण से भ्रममूलक और अवैज्ञानिक है।

साधारण बातचीत में और राजनीति में भी बल-प्रयोग (अंग्रेज़ी में 'कोअर्शन') शब्द का अर्थ होता है शरीर-शक्ति का प्रयोग या उसके प्रयोग की धमकी। बल प्रयोग के साथ हिंसा का अनुषंग है और हिंसा का अर्थ है मनुष्यों का शोषण और उनका केवल साधन की तरह प्रयोग और यह अहिंसा से मेल नहीं खाता। हिंसा के साथ अनुषंग होने के कारण अहिंसक प्रतिरोध के प्रभाव का वर्णन करने के लिए 'नैतिक' या 'अहिंसक' विशेषणों के साथ भी 'बल-प्रयोग' शब्द का प्रयोग यह भ्रमपूर्ण धारणा उत्पन्न करता है कि हिंसक और अहिंसक प्रतिरोध में कोई वास्तविक अन्तर नहीं है और यह स्पष्ट चिन्तन में बाधक है।

ऊपर अहिंसा के नैतिक दबाव और निष्क्रिय प्रतिरोध के अशारीरिक (मानसिक) बल-प्रयोग के अन्तर का वर्णन हो चुका है। अहिंसक दबाव और शारीरिक बल-प्रयोग में और भी अधिक अन्तर है। गांधीजी ने एक बार दोनों शक्तियों और उनकी प्रक्रियाओं के अन्तर का वर्णन इन शब्दों में किया था, "हिंसात्मक दबाव आदमी के जिस्म पर पड़ता है। जो इस दबाव से काम लेता है वह खुद नीचे गिर जाता है और जिस पर दबाव डाला जाता उसे हतोत्साह कर देता है। लेकिन स्वयं कष्ट सहकर—जैसे उपवास आदि करके जो अहिंसात्मक दबाव डाला जाता है, वह बिल्कुल दूसरे तरीके से असर पैदा करता है। जिन लोगों के ख़िलाफ़ उसका प्रयोग किया जाता है उनके शरीर को न छूकर वह उनकी आत्मा पर असर डालता है और उसे मज़बूत बनाता है।"[1]

अपने भाषणों और लेखों में गांधीजी सदा इस बात पर ज़ोर देते थे कि

१. जवाहरलाल नेहरू, 'मेरी कहानी', में पृ० ६२७ पर उद्धृत।

ज़बरदस्ती और बल-प्रयोग सत्याग्रह के भाग नहीं हैं। उनके लेखों से कुछ सम्बन्धित उद्धरण नीचे दिए गए हैं:—

"हम जनमत का संगठन हिंसात्मक वातावरण में नहीं कर सकते .... जो अपने को फ़ैशन या ज़बरदस्ती के कारण असहयोगी कहते हैं वह (सच्चे) असहयोगी नहीं हैं .. । इसलिए हमें अपने संघर्ष से प्रत्येक प्रकार की ज़बरदस्ती दूर कर देना चाहिए।"[1]

"हमें अपने विरोधियों का सामाजिक बहिष्कार नहीं करना चाहिए। वह बल-प्रयोग के बराबर है .. ..। बहुमत का शासन, जब उसमें बल-प्रयोग होता है, वैसा ही असह्य हो जाता है जैसा नौकरशाही के अल्पमत का (शासन)।"[2]

"किन्तु खादी पहनने में उसी प्रकार बल-प्रयोग नहीं होना चाहिए जैसे किसी दूसरी बात में।"[3]

सन् १९३० के सविनय-अवज्ञा के आन्दोलन में उन्होंने लिखा था, "अच्छी बात करने के बारे में भी हम ज़बरदस्ती का प्रयोग न करें। ज़रा भी ज़बरदस्ती आन्दोलन का विनाश कर देगी। यह हृदय परिवर्तन का आन्दोलन है, अत्याचारी के साथ भी ज़बरदस्ती करने का नहीं।"[4]

"अहिंसा की योजना में ज़बरदस्ती की-सी कोई बात नहीं। बुद्धि और हृदय तक पहुंचने की योग्यता पर भरोसा करना चाहिए।"[5]

"अहिंसा कभी भी बल-प्रयोग की विधि नहीं है, वह हृदय-परिवर्तन की (विधि) है।"[6]

"सत्याग्रही का उद्देश्य है अन्यायी का हृदय-परिवर्तन, न कि उसके साथ बल-प्रयोग।"[7]

लेकिन यद्यपि वह 'बल-प्रयोग' और ज़बरदस्ती' (अंग्रेज़ी में 'कोअर्शन' और 'कम्पलशन') शब्दों का प्रयोग नहीं करते थे, वह सत्याग्रह का प्रभाव वर्णन करने के लिए 'मजबूर करने' या 'विवश करने' (अंग्रेज़ी में 'टु कम्पेल') शब्द का प्रयोग अवश्य करते थे। प्रसंग से स्पष्ट मालूम होता है कि इस

१. 'सत्याग्रह', पृ० २४-२५।
२. यं० इं०, भा० १, पृ० ९६१।
३. यं० इं०, भा० २, पृ० ५०७।
४. यं० इं०, १७-४-१९३०।
५. ह०, २३-७-३८, पृ० १९२।
६. ह०, ८-७-३९, पृ० १९३।
७. ह०, २५-३-३९, पृ० ६४।

शब्द का प्रयोग वह विपक्षी के उच्चतम अंश को जाग्रत करने के उद्देश्य से नैतिक दबाव या प्रभाव डालने के अर्थ में करते थे।

उदाहरण के लिए सन् १९२० में व्यवस्थापक सभा में वाइसराय के भाषण का हवाला देते हुए उन्होंने लिखा था, "पंजाब के सम्बन्ध में उन्होंने जो कहा उसका अर्थ है शिकायत दूर करने से साफ़ इन्कार......। निकट भविष्य (का कार्य) है पंजाब के मामले में सरकार को पश्चात्ताप करने के लिए मजबूर कर देना।"[1]

इसलिए मैंने असहयोग के उपाय का सुझाव देने का साहस किया है... अगर उसके साथ-साथ हिंसा न हो और वह उचित रीति से किया जाय, तो वह उसको (सरकार को) अपने क़दम वापस लौटाने और किया हुआ अन्याय दूर करने पर विवश करेगा।"[2]

"... प्रत्येक दल के दूसरे को मदद करने से, हम सरकार को सब दलों की न्यूनतम संयुक्त मांग मानने पर मजबूर करेंगे।"[3]

शब्द 'विवश करना' या 'मजबूर करना' भी संदिग्ध है। गांधीजी कभी-कभी अहिंसा के प्रभाव के वर्णन के लिए 'नैतिक दबाव' शब्द का प्रयोग करते थे और यह शब्द 'मजबूर करने' की अपेक्षा कहीं अधिक सुनिश्चित और असंदिग्ध है। इस प्रकार राजकोट के उपवास का हवाला देते हुए उन्होंने कहा था, "यदि मेरे उपवास...का अर्थ दबाव किया जाता है, तो मैं केवल यह कह सकता हूं कि ऐसे नैतिक दबाव का सभी सम्बन्धित (व्यक्तियों) द्वारा स्वागत होना चाहिए।"[4]

निस्संदेह परिधिवर्ती उदाहरणों में समाज को प्रभावित करने के यह तीन साधन—अहिंसा, अशारीरिक (मानसिक) हिंसा और शारीरिक हिंसा—एक दूसरे में मिल जाते हैं, उनकी सीमारेखा अस्पष्ट हो जाती है और उसके जानने में बड़ी कठिनता होती है। लेकिन जैसा कि ऊपर दिखाया गया है अहिंसा के प्रभाव का 'बल-प्रयोग' शब्द के द्वारा वर्णन करना, इस शब्द के साथ हिंसा का अनुषंग होने के कारण, अवैज्ञानिक और भ्रमोत्पादक है। उदाहरण के लिए कभी-कभी यह कहा जाता है कि हिंसा और अहिंसा बल-प्रयोग के प्रकार हैं और जब एक असफल हो तो दूसरे का प्रयोग हो सकता है। यह सुझाव शायद अनुपयुक्त न होगा कि तीनों प्रकार के प्रतिरोध के

१. यं० इं०, भा० १, पृ० ११३।
२. यं० इं०, भा० १, पृ० २२०।
३. यं० इं०, भा० २, पृ० २६०।
४. ह०, ११-३-३६, पृ० ४६।

प्रभाव के वर्णन के लिए हम तीन पृथक शब्दों का प्रयोग करें। अहिंसा के प्रभाव को नैतिक दबाव, निष्क्रिय प्रतिरोध के प्रभाव को अशारीरिक (मानसिक) बल-प्रयोग और हिंसा के प्रभाव को बल-प्रयोग कहना उचित होगा।

सार्वभौम व्यवहारिकता

आलोचकों को प्रायः यह बात भी मान्य नहीं कि अहिंसक प्रतिरोध का प्रयोग सभी सामूहिक संघर्षों में हो सकता है। उनका कहना है कि समुदायों, विशेष रूप से बड़े समुदायों, का आचरण नैतिक दृष्टिकोण से बहुत नीचे दर्जे का होता है। भावनाओं के आवेश में जनता सभी प्रकार का नियंत्रण खो बैठती है और शोषकों के विरुद्ध अहिंसक प्रतिरोध का प्रयोग बिना बदले की भावना से प्रभावित हुए नहीं कर सकती। इस प्रकार सामूहिक अहिंसक प्रतिरोध असम्भव है।[1]

गांधीजी इस बात को मानते थे कि हो सकता है कि व्यक्तियों की अपेक्षा समुदाय नैतिक विचारों से कम प्रभावित हों और अहिंसक अनुशासन का विकास व्यक्तियों की अपेक्षा समुदायों के लिए अधिक कठिन हो। लेकिन वह यह नहीं मानते थे कि समुदायों को अहिंसक पद्धति की शिक्षा देना असम्भव है। वह इस बात में विश्वास करने से इन्कार करते थे कि अहिंसा केवल व्यक्ति के लिए है और सामूहिक पैमाने पर अहिंसा मनुष्य-स्वभाव के विपरीत है।[2] उनका मत था कि अहिंसा का प्रयोग व्यक्ति भी कर सकते हैं, समुदाय भी; उसका प्रयोग लाखों मनुष्य साथ-साथ कर सकते हैं।[3]

बड़े समुदायों की हिंसा के प्रति दुर्बलता इन समुदायों के सदस्यों में अनुशासन और आत्मनियन्त्रण के और उनके नेताओं में वीरों की अहिंसा के अभाव के कारण है। यदि यह समुदाय दीर्घकाल तक सत्याग्रही अनुशासन के अनुसार रहें और उनके नेताओं में सच्ची अहिंसा हो तो यह हिंसा संबंधी दुर्बलता दूर हो सकती है। बड़े समुदायों को युद्ध के लिए सफलता से शिक्षा देने से प्रकट होता है कि समुदायों को सामूहिक अहिंसक प्रतिरोध के लिए भी शिक्षा दी जा सकती है। सैनिक शिक्षा का उद्देश्य होता है भय की भावना और उससे सम्बन्धित भागने की प्रवृत्ति पर नियन्त्रण और अनुशासन। इसी भावना और प्रवृत्ति से संबंधित और उनके समानान्तर है क्रोध की भावना और लड़ने की प्रवृत्ति। दोनों भावनाएं और प्रवृत्तियाँ विभाजक या पृथककारी हैं। अपेक्षाकृत शक्तिशाली विरोधी भय को उत्तेजना देता है, दुर्बल विरोधी

१. एम०, रत्नस्वामी, 'दि पॉलिटिकल फिलासफी ऑव मिस्टर गांधी,' पृ० ५७-८।

२. य० इं०, २-१-१९३०; ह०, १२-१०-३५, पृ० २७७।

३. ह०, ६-१-४०, पृ० ४०१।

क्रोध को। अहिंसा की शिक्षा में इन दोनों विभाजक भावनाओं और प्रवृत्तियों पर पूर्ण नियन्त्रण की स्थापना का प्रयत्न होता है।

मानवजाति के अस्तित्व और विकास से प्रकट है कि प्रेम, सहयोग और इनसे मिलती-जुलती अहिंसक भावनाओं और प्रवृत्तियों का क्रोध, डर और दूसरी हिंसक भावनाओं और प्रवृत्तियों पर प्राधान्य है। इसलिए सैनिक अनुशासन की अपेक्षा अहिंसक अनुशासन को मनुष्य स्वभाव के अधिक अनुकूल होना चाहिए और उससे अधिक सुगम, स्थायी और व्यवहार्य होना चाहिए।[1]

धरसाना, बारदोली, सीमाप्रांत और दक्षिण अफ्रीका के सामूहिक अहिंसक प्रतिरोध के सफल दृष्टान्त यह सिद्ध करते हैं कि बड़े समुदायों को अधिकतम उत्तेजना में अहिंसक व्यवहार के लिए तैयार किया जा सकता है।

गांधीजी के अनुसार सामूहिक सत्याग्रह के लिए आवश्यक अनुशासन प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त कर सकता है। उसके लिए उच्चकोटि की शिक्षा या संस्कृति या कोई दूसरी असाधारण योग्यता अनिवार्य नहीं होती। गांधीजी के इस दावे की सत्यता का यह अकाट्य प्रमाण है कि दक्षिण अफ्रीका के अशिक्षित भारतीय 'कुली', बारडोली के किसान और सीमाप्रांत के पठान— यह सभी सत्याग्रही सेना के अच्छे सैनिक बने और इन्होंने उच्चकोटि की अहिंसा का विकास किया।

क्लॅरेंस मार्श केस ने, जो अमेरिका के एक विख्यात समाज-शास्त्री हैं, अपनी 'नान्वायोलेन्ट कोअर्शन' नाम की पुस्तक में अहिंसक व्यवहार और मानसिक तथा शारीरिक योग्यता के संबंध का विवेचन किया है। आपने निष्क्रिय प्रतिरोधकारियों के संबंध में उपलब्ध ऐतिहासिक घटनाओं और जीवन-कथाओं का वैज्ञानिक अध्ययन किया है। इसके अतिरिक्त पहले महायुद्ध में अमेरिका में हज़ारों की संख्या उन युद्ध-विरोधियों की थी जिन्होंने नैतिक या धार्मिक कारणों से युद्ध में किसी प्रकार का हिस्सा लेने से इन्कार कर दिया था। इन

१. सामूहिक व्यवहार साम्प्रदायिक चेतना से भी प्रभावित होता है। यह सामूहिक चेतना समुदाय विशेष की नैतिक स्थिति के अनुसार व्यक्तियों की उच्च या निकृष्ट भावनाओं को सजीव और सुदृढ़ बना सकती है। व्यक्ति उस समुदाय के सदस्य की हैसियत से जिसके साथ उसकी भावनाओं का सादृश्य है, अकेले की अपेक्षा, केवल दूसरों को अधिक कष्ट दे ही नहीं सकता स्वयं भी अधिक कष्ट सह सकता है। इस प्रकार अहिंसा को सामूहिक संक्रामकता अर्थात् समूह के प्रभाव की सक्रामक विशेषता से लाभ भी हो सकता है।

युद्ध-विरोधियों की मानसिक और शारीरिक जांच के परिणाम का भी आपने विश्लेषण और अध्ययन किया है। इस अध्ययन के बाद आप इस नतीजे पर पहुँचे कि निष्क्रिय प्रतिरोधकारी और युद्ध विरोधी साधारण जन्मजात मानसिक और शारीरिक योग्यता के व्यक्ति थे और अहिंसक व्यवहार जन्मजात विशेषताओं का नहीं व्यक्ति के जीवनकाल में अर्जित विशेषताओं का परिणाम है।[1] यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि भारतवर्ष के सत्याग्रहियों की इसी प्रकार की जांच से अहिंसकों की साधारण; शारीरिक और मानसिक योग्यता के संबंध में केस साहब के अध्ययन के परिणाम में कोई परिवर्तन न होगा।

आलोचकों का यह भी कहना है कि अहिंसा अंग्रेजो के से सौम्य और सदय विपक्षी के विरुद्ध—जिनमें उदारतावाद और मानवता की भावनाएं हैं और जो यह मानते हैं कि विद्रोह और उसके दमन में भी औचित्य की सीमा का उल्लंघन नहीं होना चाहिए--सफल हो सकती है। किन्तु सत्तावादी अधिनायकों की पाशविकता, निर्दयता और आतंक के विरुद्ध उसके सफल होने की कोई संभावना नहीं।[2]

निसंदेह जनता के व्यवहार को प्रभावित करने की पद्धतियों के महान् विकास ने---विशेषकर युद्ध-पद्धति और प्रचार पद्धति के विकास ने नियंत्रण-समुदायों की (जिनका सरकार पर प्रभुत्व रहता है) जनता की अनुमति प्राप्त करने की शक्ति में बहुत वृद्धि की है। लेकिन जैसा कि बर्ट्रेण्डरसेल का कहना है यह अब भी संदिग्ध प्रश्न है कि राज्य का प्रचार कहां तक और कब तक बहुमत के हित के विरुद्ध कारगर हो सकता है।[3] आधुनिक काल में यह प्रचार राष्ट्रीयता की भावना के विरुद्ध शक्तिहीन सिद्ध हो चुका है, उसे दृढ़ धार्मिक भावना के विरुद्ध कारगर होने में भी कठिनता पड़ती है। विरोध के दमन का एकमात्र निश्चित मार्ग है विरोधियों को समाप्त कर देना। किन्तु विरोधियों के विनाश के प्रयत्न की सफलता संभव नहीं है क्योंकि दमन पीड़ितों के सिद्धान्तों को जनप्रिय बनाता है। इसके अतिरिक्त, कोई भी सरकार एकमात्र शारीरिक शक्ति के आधार पर दीर्घकाल तक नहीं टिक सकती। जीवित रहने के लिए उसे जनता की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है, यह अनुमति चाहे राज्य के राजनैतिक जीवन में जनता के

१. केस, 'नान्वायोलेन्ट कोअर्शन' अ० १० और ११।

२. राधाकृष्णन, 'महात्मा गांधी' रोमांरोलां, एडवर्ड टाम्सन, अर्नोल्ड ज्वीग के लेख।

३. बर्ट्रेन्ड रसेल, 'पावर', पृ० १०२।

सक्रिय भाग के रूप में हो, चाहे इस विश्वास से उत्पन्न निष्क्रिय मौन सम्मति के रूप में हो कि सरकार का उद्देश्य शासितों का हित है। इस प्रकार अनुमति प्राप्त करने के लिए सरकार को मानवतावाद को अपनाना पड़ता है और इसीलिए विरोधियों का पूर्ण विनाश असंभव हो जाता है। फिर, बलप्रयोग की पद्धति अपनी विनाशक स्वतन्त्रता की पद्धति को जीवन और दृढ़ता देती है।[1] इसलिए अमेरिकन विचारक मेरियम के शब्दों में "जब शक्ति हिंसा का उपयोग करती है तो वह अधिकतम दृढ़ नहीं अधिकतम दुर्बल होती है।"[2]

गांधीजी निरंकुश सत्ता के सर्वशक्तिवान या स्थायी होने में विश्वास नहीं करते थे। उनके अनुसार सत्याग्रह स्वावलंबी है और अपनी सफलता के लिए विपक्षी की सहायता पर आश्रित नहीं है। सातवें अध्याय में हम संघर्षों में सत्याग्रह की नैतिक और मनोवैज्ञानिक प्रभाव-प्रक्रिया का वर्णन कर चुके हैं। गांधीजी के नेतृत्व में दक्षिण अफ्रीका और हिन्दोस्तान के विभिन्न अहिंसक प्रतिरोध के आन्दोलन इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि सत्याग्रह में अनुगामियों को आकर्षित करने, उनके अनुशासन का विकास करने और कष्ट-सहन के लिए प्रेरित करने, जनमत को जाग्रत करने और अन्यायपूर्ण विपक्षी को दुर्बल बनाने की अपूर्व क्षमता है।[3] गांधीजी का यह भी विश्वास था कि

---

१. ई० ए० रास, 'सोशल कन्ट्रोल', पृ० ३८७; चार्ल्स ई० मेरियम ने अपनी 'पोलिटिकल पावर' नाम की पुस्तक के छठे अध्याय में स्वतन्त्रता की पद्धति के साधारण हिंसक और अहिंसक रूपों का संक्षिप्त वर्णन किया है।

२. ऊपर उद्धृत 'पोलिटिकल पावर', पृ० १७६-८०।

३. अमेरिका के प्रसिद्ध विचारक निब्यूर ने इस बात का एक महत्वपूर्ण कारण बताया है कि क्यों अहिंसक प्रतिरोध विपक्षी को दुर्बल बना देता है। उनके अनुसार सामाजिक संघर्ष में सब से अधिक महत्वपूर्ण बात होती है प्रमुख सत्तावान समुदाय की यह नैतिक धारणा कि इस समुदाय के हित में और समाज की सुरक्षा और शान्ति में कोई अन्तर नहीं है। यह धारणा वर्तमान सामाजिक स्थिति पर आक्रमण करनेवालों के विरुद्ध समाज के प्रमुख-समुदाय को—जिसका राज्यसत्ता पर नियन्त्रण है—स्पष्ट लाभ देती है, किन्तु इस लाभ का कोई औचित्य नहीं है। सामाजिक स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तनों के लिए प्रयत्नशील समुदाय का सामाजिक शान्ति के शत्रुओं की, अपराधियों की और हिंसा के लिए उत्तेजित करने वालों की श्रेणी में रख दिया जाता है और समाज का मध्यम भाग उनके विरुद्ध हो जाता है। सामाजिक संघर्ष में अहिंसा की पद्धति का एक महान् लाभ यह है कि रक्षित हितों की उपरोक्त नैतिक धारणा के दिखावटी औचित्य का

सत्याग्रह की प्रक्रिया को वृद्धि का नियम लागू है। यह नियम प्रत्येक शुद्ध लड़ाई में लागू होता है परन्तु सत्याग्रह के विषय में तो गांधीजी उसे सिद्धान्त-रूप से मानते थे। वह सत्याग्रह की इस विशेषता को सत्याग्रह के मूलभूत सिद्धान्तों के कारण अनिवार्य मानते थे। "क्योंकि सत्याग्रह में तो कम-से-कम ही ज्यादा-से-ज्यादा है। अर्थात् जो कम-से-कम है, उसमें से और छोड़ा भी क्या जा सकता है? शुद्ध म-र से कम क्या होगा? इसलिए उसमें मनुष्य पीछे तो हट ही नहीं सकता। स्वाभाविक क्रिया वृद्धि ही है।"[1]

सन् १९१९ में गांधीजी ने अपने एक भाषण में कहा था: "सत्याग्रह के अपने अनुभव से मुझे यह विश्वास होता है कि वह इतनी दृढ़ शक्ति है कि एक बार गतिशील हो जाने पर वह फैलती रहती है यहां तक कि अन्त में वह उस समाज में, जहां उसका प्रयोग किया जाता है, प्रधान शक्ति बन जाती है, और यदि वह इस प्रकार फैल जाती है तो कोई भी सरकार उसकी उपेक्षा नहीं कर सकती।"[2]

यह कहना कि सत्याग्रह अंग्रेज़ों के से सौम्य, सदय, विपक्षी के विरुद्ध सफल हो सकता है पर उसका आधुनिक अधिनायकों के युद्धवाद और पाशविकता के विरुद्ध असफल होना अनिवार्य है, सत्याग्रह के बुनियादी सिद्धांतों से अनभिज्ञता का परिचायक है। यदि सत्याग्रह की क्षमता न्यायी और सौम्य विरोधी तक ही सीमित होती और यदि वह अत्याचारी के विरुद्ध निष्फल सिद्ध होता तो वह एक मूल्यरहित और अनावश्यक साधन होता। किन्तु गांधीजी के शब्दों में, "अहिंसा का सार है शरीर-शक्ति से उत्कृष्टता—शरीर-शक्ति चाहे जितना महान हो।"[3] आत्म-शक्ति द्वारा प्रज्वलित अग्नि के सामने पत्थर का हृदय भी पिघल जाता है। नीरो भी, जब वह प्रेम का सामना करता है, मेमना बन जाता है।"[4] इसका कारण यह है कि मनुष्य अपने कार्यों की अपेक्षा अधिक महान है और अधिक-से-अधिक भ्रष्ट हो जाने पर भी, उसमें आत्मा के अस्तित्व के कारण

विनाश हो जाता है। देखिए, निब्यूर, 'मॉरल मैन ऐंड इम्मारल सोसाइटी', पृ० २५०। ब्रिटेन और अमरीका के जनमत पर गांधीजी के अहिंसक प्रतिरोध के प्रभाव के वर्णन के लिए देखिए पोलक आदि, 'महात्मा गांधी', पृ० १८४।

१. 'दक्षिण अफ्रीका', उत्तरार्द्ध, पृ० ३१।

२. 'स्पीचेज़', पृ० ४४९–५०।

३. ह०, ६–१–४०, पृ० ४०३।

४. 'स्पीचेज़', पृ० ३६३। नीरो प्राचीनकाल में यूरोप में एक अत्याचारी शासक था।

सुधार और पुनर्रचना की असीम क्षमता होती है। विरोधी के उच्चतम अंश को जाग्रत करने के लिए कष्ट-सहन सत्याग्रही का अमोघ साधन है। सत्याग्रही को कष्ट देकर विरोधी अपनी पराजय में सहायक होता है। इस प्रकार सत्याग्रही दमन और अत्याचार पर फलता-फूलता है और किसी परिमाण में भी हिंसा उसको दबा नहीं सकती। गांधीजी का मत है कि हिंसा और अहिंसा के द्वन्द्व में अन्त में सदा अहिंसा की ही विजय होगी। सत्याग्रह में विफलता या पराजय की-सी कोई बात नहीं, क्योंकि यहां कष्ट-सहन का अर्थ है सफलता। हो सकता है कि अहिंसक संघर्ष एक धीमी दीर्घकालीन प्रक्रिया मालूम हो लेकिन वह सबसे अधिक शीघ्रगामी है क्योंकि सबसे अधिक निश्चित है। सत्याग्रही की दिखावटी हारें भी हो सकती हैं। लेकिन यह क्षणिक रुकावटें हैं जिनमें सत्याग्रही को ध्येय-सिद्धि के लिए बहुमूल्य शिक्षा मिलती है।

पिछली चार दशाब्दियों में कुछ अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सत्याग्रह के फलप्रद होने की प्रशंसा की है। दक्षिण अफ्रीका, बारडोली, चम्पारन और दूसरे स्थानों में उन्हें सत्याग्रहियों की मांग के सामने झुकना पड़ा। अमरीका के पत्रकार ड्रयू पियर्सन के साथ मुलाक़ात में स्वर्गीय लार्ड लायड ने, जो उस समय बम्बई के गवर्नर थे, गांधीजी के सन् १९१९-२१ के आंदोलन को संसार के इतिहास का महानतम आन्दोलन कहा था। उनके मत से यह आन्दोलन सफलता के बहुत ही निकट था। गांधी-अर्विन संधि और भारत की स्वतन्त्रता सत्याग्रह की शक्ति के प्रमाण हैं। किन्तु सत्याग्रह की सफलता या आंशिक सफलता का श्रेय अंग्रेज़ों की न्यायप्रियता या सौम्यता को देना उचित नहीं। गांधीजी के अनुसार फ़ासिस्ट और नात्सी लोग (पश्चिम के) जनतन्त्रवादियों के संशोधित संस्करण थे और उन्होंने उस हिंसा को, जिसको जनतन्त्रवादियों ने तथाकथित पिछड़ी जातियों के शोषण के लिए विकसित किया था, विज्ञान का रूप दिया था। पश्चिम के जनतन्त्रवादियों और फ़ासिस्टों में केवल परिमाण का अन्तर था। इसलिए यदि यह मान लिया जाय कि अहिंसा के एक निश्चित परिमाण से जनतंत्रवादी पिघल सकते हैं तो अनुपात के नियम से यह ज्ञात हो सकता है कि फ़ासिस्ट और नात्सी लोगों के अधिक कठोर हृदयों को पिघलाने के लिए किस परिमाण में अहिंसा की आवश्यकता होगी।[1]

सत्याग्रह की सफलता विपक्षी की सदयता और सौम्यता पर नहीं सत्याग्रहियों के उद्देश्य के औचित्य पर, उनमें विपक्षी के प्रति दुर्भावना के

१. ह०, १५-८-३६, पृ० ८६।

अभाव पर और उनकी कष्ट-सहन की क्षमता पर निर्भर है। सत्याग्रही के कष्ट-सहन से मित्रों, विरोधियों और मध्यस्थों—सब में सहानुभूति की प्रतिक्रिया होती है। "इस प्रकार सत्याग्रह जनमत को शिक्षित करने की ऐसी प्रक्रिया है जो समाज के सब अंशों को प्रभावित करती है और अन्त में अजेय बन जाती है।[1]

भारत का अहिंसक प्रतिरोध

आलोचक कहते हैं कि भारतवर्ष में लगभग ३० वर्ष तक सत्याग्रह का प्रयोग गांधीजी के नेतृत्व में हुआ। भारत को स्वतन्त्रता अवश्य मिल गई किन्तु यह स्वतन्त्रता राजनैतिक है, न कि सामाजिक और आर्थिक। सत्याग्रह के द्वारा देश की राजनैतिक एकता की रक्षा न हो सकी। इसके अतिरिक्त, अंग्रेज़ों के कठोर अत्याचार ने सन् १९२२ और १९३३ में सत्याग्रह आंदोलन को दबा दिया था। इन आलोचकों के अनुसार सत्याग्रह आधुनिक संसार की जटिल परिस्थिति में बेकार हो गया है, वह एक ऐतिहासिक वस्तु बन गया है, किन्तु व्यवहारिक संसार में उसका कोई उपयोग नहीं।

किन्तु किसी देश में क्रान्ति की पूर्ण सफलता के लिए और शोषकों के हृदय-परिवर्तन के लिए ३० वर्ष अपर्याप्त समय है। फिर क्रान्ति के पथ में बहुत प्रारम्भिक अड़चनें भी थीं—भयावह निर्धनता, व्यापक निरक्षरता, राजनैतिक उदासीनता और दीर्घकालीन राजनैतिक दासता से उत्पन्न घोर नैतिक अधःपतन। रियासती शासकों, पूंजीपतियों और ज़मींदारों को सदा विदेशी शासकों की सहायता प्राप्त थी। जनता में भेद-भावनाएं उत्पन्न करने की काफ़ी गुंजाइश थी और विदेशियों ने उसका पूरा दुरुपयोग किया।

इसके अतिरिक्त, राष्ट्रीय पैमाने पर अहिंसक प्रतिरोध का प्रयोग इसी देश ने सबसे पहले किया। कांग्रेस ने अहिंसा को काम चलाऊ नीति की ही तरह अपनाया, न कि जीवन-सिद्धान्त की तरह। कांग्रेस की अहिंसा वीरता और साधनशीलता की नहीं बेबसी और दुर्बलता की अहिंसा थी। गांधीजी का विश्वास था कि इस अधकचरी अहिंसा के प्रयोग के फलस्वरूप देश वीरता की अहिंसा को अपना लेगा। किन्तु उनकी आशा पूरी न हुई। सत्याग्रहियों ने विरोधी के प्रति दुर्भावना को अपने हृदय में स्थान दिया और अहिंसा को बाह्य आचरण तक सीमित रक्खा। जब गांधीजी जेल में होते थे तो अहिंसा की शुद्धता, उसकी उच्च नैतिकता की अपेक्षा संख्या और परिमाण पर अधिक ज़ोर दिया जाता था। शीघ्र सफल होने की उत्सुकता में गुप्त साधनों का भी

---

१. ह०, २१-३-४६, पृ० ६४।

प्रयोग होता था। यह साधन अनुशासन और नैतिकता को नीचे गिराते हैं और गांधीजी सदा इनके विरुद्ध थे और उन्होंने कभी इनको प्रोत्साहन नहीं दिया। इस अधकचरी अहिंसा को अंग्रेज़ों की संगठित हिंसा के सामने अक्सर झुकना पड़ा। इस प्रकार सत्याग्रह आन्दोलनों की सबसे अधिक कमज़ोरी यह थी कि वह वीरता की शुद्ध अहिंसा पर नहीं बल्कि दुर्बलता की अहिंसा के बाह्य आचरण पर आधारित थे।

निस्सन्देह सत्याग्रहियों की अहिंसा नैतिक उच्चता के आवश्यक तल तक न पहुँच सकी, किन्तु जहाँ तक कार्य का सम्बन्ध था प्रतिरोध-आंदोलन अहिंसक थे। इसके पहले इस पैमाने के जन-आन्दोलनों में इतनी कम हिंसा कभी नहीं हुई थी।

जनता और विरोधियों पर आन्दोलन के प्रभाव की महत्ता ठीक आंकना कठिन है। गांधीजी के शब्दों में: "इसके (सत्याग्रह के) कारण जनता में इतनी जाग्रति हुई है जो शायद पीढ़ियों में हो पाती।"[१] सत्याग्रह ने सदियों की पराधीनता के नैतिक और मनोवैज्ञानिक प्रभाव को बहुत कुछ दूर कर दिया और जनता में सामूहिक कार्य करने और अन्याय का सामना करने की क्षमता की चेतना उत्पन्न की। भारतवासियों में आत्म-विश्वास और स्वावलम्बन की वृद्धि हुई। उनको विश्वास हुआ कि उनकी शिकायतों और कष्टों का दूर होना उनके कष्ट-सहन और नैतिक शक्ति पर निर्भर है। सत्याग्रह ने बहुत कुछ उनकी परम्परागत राजनैतिक निष्क्रियता को दूर किया और वह राष्ट्रीय राजनीति में दिलचस्पी लेने लगे। इस व्यापक राजनैतिक चेतना का एक चिन्ह था प्रतिरोध के आन्दोलनों में भाग लेने वालों की लगातार संख्या-वृद्धि। सन् १६२०-२२ के असहयोग आन्दोलन में जेल जाने वालों की संख्या लगभग ३०००० थी। सन् १६३०-३१ में यह संख्या बढ़कर लगभग ६०००० हो गई थी। सन् १६३३ के प्रारम्भ तक, मिस विल्किंसन की जांच के अनुसार ४१७००० व्यक्ति जेल जा चुके थे।[२] संख्या-वृद्धि के अतिरिक्त, अनुशासन में

१. ह०, १८-५-१६४०, पृ० १३२।

२. ऊपर के आंकड़े डा० सीतारमैय्या के कांग्रेस के इतिहास के और मिस विल्किन्सन के जनवरी १६३२ में मैंचेस्टर गार्जियन और स्वराज्य में प्रकाशित एक लेख के आधार पर हैं। पूरा लेख डा० भारतनकुमारप्पा की की पुस्तक 'इण्डियन स्ट्रगिल थ्रू फारेन आइज' में उद्धृत है। स्वर्गीया मिस विल्किन्सन सन १६३२ में इण्डिया लीग डेलीगेशन के साथ उस समय की राजनैतिक परिस्थिति की जाँच के लिए भारत आई थीं।

दृढ़ता आई और कष्ट-सहन की शक्ति बढ़ी। इसीलिए सन् १६२०-२२, १६३०-३४ और १६४२-४४ के दमन का उद्देश्य असफल हुआ और कांग्रेस अग्नि-परीक्षा के फलस्वरूप अधिक लोकप्रिय और शक्तिशाली हो गई।

सत्याग्रह के परिणामस्वरूप राजनैतिक जाग्रति ने दूसरे क्षेत्रों में भी राष्ट्रीय जीवन को प्रभावित किया। स्त्रियां कुटुम्ब के जीवन के संकीर्ण क्षेत्र से बाहर आईं और उन्होंने पराधीनता की शृङ्खला हटाकर राष्ट्रीय जीवन में उचित भाग लेना प्रारम्भ किया। आज अस्पृश्यता अपने लम्बे जीवन की अन्तिम मंज़िल में है और जाति की रूढ़िग्रस्त रुकावटें ढीली पड़ चुकी हैं। आर्थिक जीवन की और ग्रामों की पुनर्रचना हो रही है और इस बात का प्रयत्न हो रहा है कि ग्राम सुधर कर हमारे राष्ट्रीय जीवन के स्नायु-केन्द्र बन जांय।

विदेशी सरकार पर प्रभाव के सम्बन्ध में ऊपर कुछ ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के सत्याग्रह के कारगर होने के बारे में प्रशंसासूचक मतों का उल्लेख हो चुका है। *अहिंसक प्रतिरोध ने संसार के सबसे महान साम्राज्य की जड़ उखाड़ दी।* उसने सरकार की प्रतिष्ठा को गहरा धक्का पहुंचाया, सरकारी नौकरों के अनुशासन को दुर्बल बनाया और सरकार के प्रयोजन के औचित्य में उनके विश्वास का विनाश किया। सरकारी कर्मचारी—विशेष रूप से पुलिस और फौज—प्रायः उन सत्याग्रहियों के साथ अमानुषिक बर्ताव करते-करते उकता गए जो उनकी हिंसा सह तो लेते थे पर प्रतिहिंसा न करते थे। इनमें से कुछ ने प्रत्यक्ष और बहुतों ने छिपे-छिपे सत्याग्रहियों के और राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति सहानुभूति का प्रदर्शन किया।[१] सीमाप्रान्त में गढ़वाली सिपाहियों ने एक अहिंसक भीड़ पर गोली चलाने की आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया। उनके ऊपर फौजी अदालत में मुकदमा चला और उनको लम्बी सज़ा हुई। सन् १६३०-३४ के आर्थिक बहिष्कार से भारत के साथ अंग्रेज़ी व्यापार को गहरा धक्का लगा।[२]

---

१. कुछ दृष्टांतों के लिए देखिए राजेन्द्रप्रसाद, 'महात्मा गांधी ऐंड बिहार' अ० १७।

२. भारत में सूती माल का आयात १६२७-२८ में ७१.६ करोड़ रुपए से घटकर १६३३-३४ में २१.३ करोड़ रुपए हो गया। बाहर से आए हुए कपड़े में ब्रिटेन का भाग इसी समय में ७८.२ प्रतिशत से गिरकर ५३.५ प्रतिशत हो गया। किन्तु सूती माल के आयात में ब्रिटेन के भाग की कमी का एक महत्त्वपूर्ण कारण जापान की प्रतियोगिता थी।

निस्संदेह भारत की राजनैतिक स्वतन्त्रता समग्र आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का परिणाम थी। ब्रिटेन की युद्धोत्तर समस्याओं की जटिलता, कांग्रेस की शक्ति और प्रभाव, युद्ध के फलस्वरूप भारत में राजनैतिक असंतोष की उग्रता और व्यापकता, आज़ाद हिन्द फौज की लोकप्रियता, यातायात के साधनों में काम करने वालों की हड़ताल के संकटपूर्ण परिणाम का डर—इन सबका अंग्रेज़ों के फैसले पर प्रभाव पड़ा। परन्तु महात्मा गांधी के आन्दोलनों ने भारत की स्वतन्त्रता की इच्छा को जाग्रत और शक्तिशाली बनाया और उसके संघर्ष का मार्ग और पुनर्रचना की रूपरेखा निश्चित की। इन आन्दोलनों ने देश की स्वतन्त्रता सम्बन्धी प्रवृत्तियों में एक-सूत्रता स्थापित की और देश के जीवन की केन्द्रीय वास्तविकता बन गए।

इसके अतिरिक्त इन आन्दोलनों ने भारत की राजनीति को आदर्शवाद के उच्चतम तल पर पहुँचाया और भारत की राष्ट्रीयता को संकीर्णता और अवसरवादिता से बचाया। इस प्रकार अहिंसात्मक आन्दोलनों से संसार की दृष्टि में देश की प्रतिष्ठा बढ़ी।

क्रान्ति—हिंसा और अहिंसा

कुछ अराजकतावादी (उदाहरण के लिए, बकुनिन, क्रोपाटकिन और रूस के नाहिलिस्ट), क्रान्तिकारी सिन्डिकलिस्ट विचारक और मार्क्सवादी अहिंसा को क्रान्ति का समुचित और पर्याप्त साधन नहीं मानते। उनके अनुसार हिंसा वर्तमान समाज को युद्ध, पूंजीवाद और शोषण से बचाने और उसका पुनर्निर्माण करने का अनिवार्य साधन है। ८ सितम्बर, सन् १८७२ को एम्स्टर्डम में दिये गए भाषण में मार्क्स ने यह मान लिया था कि इंगलैंड सरीखे देशों में मज़दूर शान्तिपूर्ण उपायों से अपना ध्येय प्राप्त कर सकते थे, यद्यपि यूरोप के अन्य देशों में मज़दूरों के प्राधान्य की स्थापना के लिए शक्ति का प्रयोग अनिवार्य था। सन् १८८१ में उसने एक मित्र से बातचीत करते हुए कहा था, "इंगलैंड ही एक देश है जहां शान्तिमय क्रांति संभव है, किन्तु इतिहास हमें यह (शान्तिमय क्रान्ति की संभावना) नहीं बताता।" मार्क्सवादियों के अनुसार हिंसा का प्रयोग अनिवार्य है क्योंकि वह उस मध्यम वर्ग के हाथों से—जो समाज के विकास में रुकावट डालता है—सामाजिक उत्पादन के साधनों को ले लेने का एक मात्र मार्ग है। राज्य और सरकार सामाजिक उद्योग-धन्धों का अङ्ग हैं और उनका अस्तित्व वर्गभेदों की अनिवार्यता का द्योतक और परिणाम है। राज्य की शक्ति का स्रोत है सेना

और सेना निर्धन वर्ग का भाग नहीं, उससे अलग है। अत्याचार-पीड़ितों की स्वतन्त्रता बिना राज्य की संस्थाओं के विनाश के असंभव है। किन्तु अराजकतावादी और सिन्डिकलिस्ट विचारकों का व्यक्तिगत आतंकवादी कार्यों में और ऐसे कार्यों द्वारा प्रचार में विश्वास मार्क्स और उसके अनुगामियों को मान्य नहीं। मार्क्सवादियों के अनुसार व्यक्तिगत हिंसा कार्य सरकारी दमन-नीति को सुगम बना देते हैं। यह कार्य दमन नीति के औचित्य का कारण बन जाते हैं और इस प्रकार प्रतिक्रियावादी शक्तियां दृढ़ होती हैं। उन युद्धवादी, राष्ट्रीयतावादी और डार्विन के अतिआधुनिक अनुगामी विचारकों के विपरीत—जिनके अनुसार हिंसात्मक संघर्ष की समाज में सदा आवश्यकता रहेगी—मार्क्स और लेनिन हिंसा को एक तात्कालिक साधन मानते हैं। उनके अनुसार उसका एकमात्र औचित्य यह है कि उसका उपयोग नए शान्तिमय समाज के प्रजनन के लिए अनिवार्य है। मार्क्स और लेनिन का मत है कि हिंसा तभी सफल हो सकती है जब परिस्थिति क्रान्तिकारी हो अर्थात् नए समाज की स्थापना के लिए पूरी तरह अनुकूल हो। लेनिन के शब्दों में, "बिना शोषित और शोषक दोनों को प्रभावित करने वाली राष्ट्र-व्यापी संकटपूर्ण स्थिति के क्रान्ति असम्भव है।"[1]

किन्तु कम्यूनिस्ट ध्येय और हिंसक साधनों में आन्तरिक विरोध है। यदि उद्देश्य वर्गहीन और राज्यहीन समाज का विकास है तो आज के समाज के मूलभूत आदर्शों और मनोवृत्तियों को बदलना होगा। वर्गहीन और राज्यहीन समाज मार्क्सवादियों का भी ध्येय है और गांधीजी का भी। किंतु हिंसा का बड़े पैमाने पर प्रयोग उन आदर्शों और प्रवृत्तियों के विकास को रोक देगा जो कम्यूनिस्टों के आदर्श समाज की स्थापना के लिए आवश्यक है। लैस्की के शब्दों में, "कम्यूनिज्म की शर्त है ठीक उन्हीं प्रवृत्तियों का नियन्त्रण जिन्हें हिंसा मुक्त करती है... ।"[2]

पूंजीवाद की तरह हिंसा का भी अर्थ है मनुष्यों का केवल साधनों

१. बोरिस निकोलेव्स्की और आटो मेन्शेन्हेल्फेन, 'कार्लमार्क्स, मैन एण्ड फाइटर', (अंग्रेज़ी में अनुवादक डेविड और मोस्बेकर), पृ० २३३, ३६३-६४ और ३८०; सिडनी हुक, 'कार्लमार्क्स', अध्याय ८; इन्साइक्लोपीडिया ऑव सोशल साइंसेज', में सिडनी हुक का 'वायोलेन्स' पर लेख, लेनिन 'स्टेट एंड रिव्योल्यूशन', अ० १: क्विन्सी राइट, 'ए स्टडी ऑव वार', भा० २, पृ० १२-१६।

२. एच० जे० लैस्की, 'कम्यूनिज्म', पृ० १७४।

की तरह प्रयोग। हिंसा प्रयोग करनेवालों और पीड़ितों दोनों की पाशविकता बढ़ाती है, उनमें घृणा, भय और क्रोध को उकसाती है और उनका नैतिक पतन करती है। दूसरी ओर अहिंसा सत्याग्रही और विरोधी की नैतिकता को बढ़ाती है और इस प्रकार महान् सामाजिक शक्तियों को पुनर्रचना की ओर प्रेरित करती है।[1]

मार्क्सवादियों का यह विश्वास है कि वर्गों में अनिवार्य विरोध समाज की आवश्यक विशेषता है और पूंजीवादियों का सुधार असंभव है। किन्तु इस विश्वास का समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक आधार दुर्बल और भ्रमपूर्ण है। समाज शास्त्र के दृष्टिकोण से हितों का पूर्ण विरोध और संघर्ष सामाजिक जीवन की सामान्य नहीं परिधिवर्ती स्थिति है। एक सामाजिक स्थिति में विरोधी वर्ग दूसरी स्थिति में सहयोग करते हैं।[2] आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य में विकास की बेहद क्षमता है और इतिहास में हमको ऐसों के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं जिनकी समाज-विरोधी प्रवृत्तियों का पुनर्शिक्षण और सुधार हो गया और जो समाज के लाभप्रद सदस्य बन गए।

हिंसा अजनतन्त्रवादी भी है। जनतन्त्रवाद की मूलभूत मान्यता है प्रत्येक मनुष्य का असीम नैतिक मूल्य। हिंसा इस मान्यता का विरोध करती है। हिंसा के प्रयोग से सरकार की निरंकुशता और केन्द्रीकरण बढ़ता है, खुफिया पुलिस, फौज और विशेषज्ञों की महत्ता और उनकी शक्ति बढ़ती है और जनता के अधिकार संकुचित होते हैं। अमर्यादित शक्ति उसका उपयोग करने वालों का पतन करती है, उनकी जनतन्त्रवादी उत्तरदायित्व की आदत के लिए घातक है, उनमें निंद्यतम साधनों द्वारा शक्ति पर अधिकार रखने की इच्छा उत्पन्न करती है और उनके लिए स्वेच्छा से शक्ति-त्याग असम्भव हो जाता है। एक बार जब अधिनायकवादी तन्त्र की स्थापना हो जाती है तो उसे बदलना बहुत कठिन हो जाता है, क्योंकि आजकल जनता पर नियन्त्रण रखने की पद्धतियों में बहुत उन्नति हो गई है और इन पद्धतियों के प्रयोग का अधिकार उस समुदाय के हाथ में होता है जिसकी राज्य में प्रधानता होती है।[3] यह दोष हिंसा और शोषण को चालू रखेंगे और अन्त में

१. बार्ट० डि लाइट, ऊपर उद्धृत, पृ० १६५।
२. के० मैनहाइम, 'मैन ऐंड सोसाइटी', पृ० ३४२; ई० बार्कर, 'रिफ्लेक्शन्स आन गवर्नमेंट', पृ० ११६-२०।
३. मैनहाइम, ऊपर उद्धृत, पृ० ३४२; 'कम्यूनिज्म', ऊपर उद्धृत, पृ० १७४-

मार्क्सवादियों को उसी प्रकार उनका सामना करना पड़ेगा जिस प्रकार अहिंसावादी आज करना चाहते हैं। इस देश का हवाला देते हुए गांधीजी ने अक्सर कहा था, "युद्ध अंग्रेज़ी शासन के स्थान पर दूसरा शासन स्थापित कर सकता है किन्तु जनता का स्वराज्य नहीं।"[1] गांधीजी का मत था कि यदि हम विदेशी शासकों के साथ हिंसा करेंगे तो प्राकृतिक रीति से हमारा दूसरा क़दम होगा उन देशवासियों के साथ हिंसा करना जिनको हम देश की उन्नति में बाधा डालनेवाला समझेंगे।[2] इस प्रकार हिंसा शोषित और शोषक, शासित और शासक के अन्यायपूर्ण संबन्ध में कोई आमूल परिवर्तन नहीं कर सकती। इसी कारण बार्ट० डि लाइट का कहना है कि जितनी ही अधिक हिंसा होगी उतनी ही कम क्रान्ति। स्पष्ट है कि क्रान्ति से इस अहिंसावादी विचारक का अर्थ है ऐसी समाज-रचना जिसका उद्देश्य होगा उस सब का मूलोच्छेद जो अमानुषिक है और मानवता के लिए लांछन है।[3]

अहिंसक क्रान्ति में प्रत्येक व्यक्ति की, बच्चों को भी, सेवा के लिए स्थान है। गांधीजी के शब्दों में, "उसमें अधिक-से-अधिक दुर्बल भी बिना और अधिक दुर्बल हुए भाग ले सकते हैं। उसमें भाग लेने से वह अधिक बलवान ही हो सकते हैं।"[4] हिंसात्मक क्रांति में यह असम्भव है।

अहिंसा के विपरीत, हिंसा झगड़ों को निपटाने में असफल होती है, क्योंकि वह पारस्परिक भेदों में सामञ्जस्य स्थापित करने के स्थान में उनको दबा देती है। दूसरी ओर सामाजिक संघर्षों में अहिंसा क्रोध को कम-से-कम कर देती है, क्योंकि वह सामाजिक व्यवस्था और परिस्थिति की बुराइयों को और उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों को पृथक् रखती है। हिंसा प्रतिरोध के समय विरोधी-हितों के पारस्परिक नैतिक और बौद्धिक सामञ्जस्य की प्रक्रिया का विनाश करती है; इसके विपरीत अहिंसा इस ख़तरे को कम-से-कम कर देती

७६; 'ए स्टडी ऑव वार', ऊपर उद्धृत, भा० १, पृ० १६२; 'वायोलेन्स' शीर्षक लेख, ऊपर उद्धृत।

१. यं० इं०, भा० २, पृ० ६२८।

२. यं० इं०, २-१-३०, पृ० २।

३. ऊपर उद्धृत 'कान्क्वेस्ट ऑव वायोलेन्स', पृ० ७५-१६२; सारोकिन ने 'सोशियालोजी आव रिवोल्यूशन' नाम की अपनी पुस्तक में सामाजिक उन्नति पर हिंसात्मक क्रान्तियों के हानिकर प्रभाव का विस्तृत वर्णन किया है।

४. यं० इं०, भा० २, पृ० ६२८।

है और संघर्ष के क्षेत्र में नैतिक, बौद्धिक और सहयोगशील मनोवृत्तियों की रक्षा करनी है।[1] हिंसा बदले की भावना को उकसाती है, जबकि अहिंसा उसको दूर करती है; इसलिए हिंसक क्रान्ति की अपेक्षा अहिंसक क्रान्ति में जीवन और सम्पत्ति की बहुत कम हानि होती है।

अहिंसा में ऐसी रुकावटें हैं जिनके कारण सत्य और न्याय की—वह जिस पक्ष में भी अधिक अनुपात में हों—अपने आप जीत होती है; विजय सदा उसी पक्ष की होती है जिसकी ओर न्याय होता है।[2] दूसरी ओर हिंसात्मक संघर्ष में विजय का निर्णय दोनों पक्षों के उद्देश्य के आपेक्षिक न्याय से नहीं उनकी आपेक्षिक शक्ति से होता है।[3] युद्ध के साधनों पर, जिनकी विनाशकता आज पहिले से कहीं अधिक भयावह और संकटपूर्ण हो गई है, राज्य का एकाधिकार है और राज्य शोषकों के अधिकार में है। जैसा कि दूसरे महायुद्ध से स्पष्ट मालूम होता है युद्ध किसी राज्य के लिए भी तब तक सफल प्रतिरोध का साधक नहीं हो सकता जब तक उस राज्य की सैनिक शक्ति कम से-कम विपक्षी की शक्ति के बराबर न हो। प्रकट है कि सामान्य रीति से सशस्त्र देशों में भी निर्धन जनता को हिंसात्मक क्रान्ति में सफल होने का अवसर नहीं,[4] वास्तव में जनता को हिंसात्मक क्रान्ति के पहिले का संगठन करने का भी अवसर न मिलेगा, विरोधी सरकार प्रारम्भ में ही उसको निर्दयता से दबा देगी। अहिंसा में ऐसा कोई खतरा नहीं है।

हिंसात्मक क्रान्ति तभी सफल हो सकती है जब सरकार उसी प्रकार अव्यवस्थित हो जैसे कि रूसी सरकार कम्यूनिस्ट क्रान्ति के समय थी। किन्तु यह एक असाधारण स्थिति है। दूसरी ओर सत्याग्रह की सफलता बाह्य परिस्थितियों की अनुकूलता पर नहीं बल्कि प्रतिरोधियों की प्रेम से और बिना

१. रेनाल्ड निबूर, मारल मैन एंड इम्मॉरल सोसाइटी', पृ० २४८-५१ और २५४-५५।

२. य० इं०, भा० १, पृ० ५२।

३. ऊपर उद्धृत, 'दि कान्क्वेस्ट ऑव वायोलेन्स', पृ० ८१ और 'ए स्टडी ऑव वार', भा० १, पृ० १६२।

४ मैनहाइम का मत है कि "क्रान्ति की पद्धति शासन पद्धति से बहुत पिछड़ गई है। (सड़कों और गलियों की मोर्चाबन्दी, जो क्रान्ति का प्रतीक है, उस काल का अवशेष है जब उसका निर्माण घुड़सवार सेना के विरुद्ध होता था।" मैनहीम, ' डायग्नोसिस ऑव अवर टाइम्स', पृ० १०।

दुर्भावना के कष्ट सहने की क्षमता पर निर्भर है। सत्याग्रह अधिकतम शक्ति-शाली सरकार के विरुद्ध भी सफल हो सकता है।

इस प्रकार झगड़ों के निपटारे की ओर वैयक्तिक और सामूहिक संबंधों की व्यवस्था की पद्धति की तरह अहिंसा ठीक आदर्श भी है, और आज की परिस्थिति में उच्चतम व्यवहारिक नीति भी।

दूसरा महायुद्ध सामयिक चेतावनी है कि हिंसा बर्बरता के अन्धकारमय युग की ओर का निश्चित मार्ग है। संशयवादी संसार शायद अहिंसा के कारगर होने के विश्वासोत्पादक प्रदर्शन की बाट जोहता है। पूर्वऐतिहासिक काल से आज तक अहिंसा की लगातार परम्परा के कारण गांधीजी को आशा थी भारत मानवता को सामूहिक अहिंसा का संदेश दे सकेगा। यदि स्वतन्त्र भारत गांधीजी की शिक्षा के अनुसार देश के आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन की पुनर्रचना कर सके तो सम्भवतः पराधीन देश, शोषित वर्ग और अन्याय-पीड़ित अल्पसंख्यक समुदाय अहिंसक मार्ग को अपना लेंगे।

: ११ :

अहिंसक राज्य का संगठन

अहिंसक राज्य[1] की राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक संस्थाओं की विस्तृत विवेचना की आवश्यकता एक विवादग्रस्त प्रश्न है। गांधीजी आदर्श समाज की तफ़सीली बातों के बारे में चिन्ता नहीं करते थे। कार्डिनल न्यूमन का निम्न पद्यांश उन्हें प्रिय और मान्य था।

"मैं यह नहीं मांगता कि सुदूरवर्ती दृश्य देख सकूं : मेरे लिए पग भर पर्याप्त है।"

दूसरी ओर उनके आलोचकों का कहना था कि नेता को एक क़दम नहीं हज़ारों क़दम आगे देखना चाहिए जिसमें वह ख़तरनाक खड्डों और भारी रुकावटों से बच सके। उसे आज के लिए ही नहीं आने वाले कल के लिए भी योजनाएं बनानी चाहिए।[2] स्पष्ट, सुनिश्चित लक्ष्य संघर्ष के समय जनता को आशा और प्रोत्साहन देता है और लक्ष्य की ओर कष्टपूर्ण यात्रा में सहारा देता है।

बौद्धिक अपरिग्रह का औचित्य

गांधीजी ने जान-बूझकर इस निषेधात्मक मनोवृत्ति को, इस बौद्धिक अपरिग्रह को क्यों अपनाया था ?

सत्य के शोधक को विश्वास होना चाहिए कि अच्छा कार्य अच्छे

१. अहिंसक राज्य का अर्थ है वह राज्य जो प्रमुख रीति से अहिंसक है। राज्य थोड़े बहुत अंश मे हिंसा पर आश्रित है और इसलिए अहिंसा का निषेध करता है। पूर्ण रूप से अहिंसक राज्य के राज्यत्व का लोप हो जायगा। वह राज्यरहित समाज बन जायगा और समाज राज्यरहित तभी होगा जब वह पूर्ण रीति से अहिंसक हो जायगा। यह एक आदर्श है जो पूरी तरह कार्य में परिणत नहीं हो सकता। वास्तविक व्यवहार में ऐसे प्रमुख रीति से अहिंसक राज्य का विकास हो सकता है जो राज्यरहित स्थिति की ओर बढ़ने में प्रयत्नशील हो, किन्तु शायद वहां तक कभी पहुंच न पाए।

२. डा० भगवानदास, दि फिलासफ़ी ऑव नान्कोआपरेशन', पृ० ७०।

परिणाम का उत्पादक होगा। उसे अपना सब ध्यान आज की समस्याओं को देना चाहिए; उसी क्षण जो कर्तव्य सामने आए उसके पालन में उसे लग जाना चाहिए और उसके फल की ओर से अनासक्त रहना चाहिए। यदि वह कल्पना-शक्ति पर कोई रोक-थाम नहीं रखता और अनिश्चित भविष्य के आदर्श समाज का चित्र खींचने में अपनी शक्ति का अपव्यय करता है तो वह अपने दिमाग़ पर असम्बन्धित तफ़सीली बातों का अनावश्यक बोझ रखता है, विचार-नियन्त्रण, अनासक्ति और आज की कार्य-क्षमता को खो बैठता है। इसलिए जबतक देश परतन्त्र था, गांधीजी ने अपना सब ध्यान वर्तमान समाज की पुनर्रचना की अहिंसक क्रान्ति-पद्धति को परिपूर्णता देने में लगा दिया। इस कार्य से ध्यान हटाना लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए आवश्यक प्रयास में विघ्न डालता। इसलिए गांधीजी का मत था कि "सत्याग्रह का विज्ञान ही ऐसा है कि उसका विद्यार्थी अपने सामने पग भर से अधिक नहीं देख सकता।"[1] निस्सन्देह १५ अगस्त, १९४७ को भारत राजनैतिक दृष्टिकोण से स्वतन्त्र हो गया। किन्तु साम्प्रदायिक दंगों ने गांधीजी का ध्यान सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक पुनर्रचना के काम से हटा दिया। उनके अनुसार संस्थाओं के पुनर्निर्माण से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य था साम्प्रदायिक एकता और शांति की स्थापना। साम्प्रदायिकता नवजात स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता के लिए सबसे बड़ा संकट था। इसलिए गांधीजी सब तरफ से ध्यान हटाकर राष्ट्रीय जीवन के इस प्राथमिक महत्त्व की समस्या को हल करने में लगे हुए थे।

इसके अतिरिक्त सत्याग्रह विकासशील विज्ञान है। अहिंसा के प्रयोग गांधीजी के जीवन पर्यन्त चालू थे। वह अहिंसा के सिद्धांतों को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यवहार में लाने का प्रयत्न कर रहे थे और अहिंसक व्यवहार के परिणाम का अध्ययन कर रहे थे। वास्तव में वह महसूस करते थे कि अहिंसा का प्रयोग प्रारम्भिक अवस्था में था और बहुत आगे नहीं बढ़ा था। निस्संदेह अहिंसक राज्य का संगठन अहिंसा के सिद्धान्तों के अनुसार होता। लेकिन इस बात का निर्णय कि राज्य किस सीमा तक अहिंसा के सिद्धान्तों को अपनाएगा जनसाधारण अपनी नैतिक स्थिति के अनुसार करते। इसीलिए गांधीजी ने भविष्य के अहिंसक राज्य की संस्थाओं की विस्तृत विवेचना का प्रयत्न कभी नहीं किया। सन् १९३९ में उन्होंने लिखा था, "मैंने जान-बूझकर

---

१. 'कांग्रेस का इतिहास', पृ० ४५१।

२. ह० २७-५-३९, पृ० १३६; ११-२-३९, पृ० ८; और १३-४-४०, पृ. ९०।

अहिंसा पर आधारित समाज में सरकार की दशा का वर्णन नहीं किया है। जब जान-बूझकर समाज की रचना अहिंसा के नियमों के अनुसार होगी, तो उसका संगठन महत्त्वपूर्ण बातों में उससे भिन्न होगा जैसा आज है। किन्तु मैं पहिले से नहीं बता सकता कि अहिंसा पर पूरी तरह आधारित सरकार किस प्रकार की होगी।"[1]

गांधीजी के इस बौद्धिक अपरिग्रह के सिद्धान्त को उनके साध्य-साधन सम्बन्धी विचारों के संदर्भ में भी समझना चाहिए। यदि हमारे साधनों में हिंसा का अंश है तो अनिवार्य रूप से उन साधनों से विनिर्मित राज्य चाहे बाह्य स्वरूप में पश्चिम के राज्यों की तरह जनतन्त्रवादी ही हो, वास्तव में न तो जनतन्त्रात्मक होगा न अहिंसक, क्योंकि राज्य-सत्ता समाज के शक्तिशाली अंशों के हाथ में होगी और वह दुर्बलों का शोषण करेंगे। दूसरी ओर यदि जनता ने अहिंसा को काम चलाऊ नीति की तरह नहीं, सिद्धान्त की तरह अपना लिया, और अन्याय का प्रतिरोध करना और आपस में स्वेच्छा से सहयोग करना सीख लिया, तो अहिंसक व्यवहार के फलस्वरूप बिना प्रयास के अहिंसक जनतन्त्रवादी संस्थाओं का विकास होगा।[2] गांधीजी के अनुसार सत्याग्रही राज्य-व्यवस्था की स्थापना अहिंसा के विकास का प्रश्न था। इसीलिए उन्होंने अक्सर कहा था कि, "मेरे लिए अहिंसा स्वराज्य से पहिले आती है।"

इस प्रकार गांधीजी का बौद्धिक अपरिग्रह वैज्ञानिक और जनतंत्रवादी था और नैतिक दृष्टिकोण से उचित था।

लेकिन यद्यपि नवसमाज के विस्तृत विवेचन का प्रश्न नहीं उठता, सत्याग्रह में विरोधी के साथ असहयोग का भी आधार होता है सत्याग्रहियों में पारस्परिक सहयोग और उनका रचनात्मक कार्यक्रम को अपनाना। सत्याग्रह में नवनिर्माण और दोषपूर्ण सामाजिक व्यवस्था का निराकरण साथ ही साथ चलते हैं। अहिंसक प्रतिरोध के रचनात्मक अंश के विकास से हमें नवसमाज के रूप का कुछ-कुछ पता चलता है। इसके अतिरिक्त यद्यपि

१. ह०, ११-२-३६, पृ. ८।

२ साध्य-साधन के सम्बन्ध में गांधीजी के मत के लिए ऊपर अध्याय ४ देखिए।

३. "स्वराज्य यह है कि हम अपने ऊपर शासन करना सीख जाय...... किंतु ऐसे स्वराज्य का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को स्वय अपने लिए करना होगा।" "वास्तविक स्वराज्य का अर्थ है आत्म-शासन या आत्म-नियन्त्रण।" महात्मा गांधी, 'हिन्द स्वराज्य' (अ), पृ० ५३, ६५।

गांधीजी ने कभी अहिंसक समाज-व्यवस्था की विस्तृत योजना तैयार नहीं की थी, पर उन्होंने अक्सर उस समाज की रूपरेखा पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया था जो उनका लक्ष्य था। नए अहिंसक समाज पर उनके विचारों के अध्ययन के लिए हमें कुछ सामग्री 'हिन्द स्वराज्य'[1] में और उनके भाषणों, लेखों और वक्तव्यों में बिखरे वाक्यों में मिलती है।

राज्यरहित जनतन्त्र

गांधीजी अराजकतावादी थे। आदर्श जनतंत्रवादी समाज में वह किसी भी रूप में राज्य-संस्था के अस्तित्व के विरोधी थे। इस विरोध के कारण नैतिक, ऐतिहासिक और आर्थिक हैं। प्रत्येक राज्य में सरकार सज़ा का डर दिखाकर नागरिकों से थोड़े बहुत काम करवाती है और उनको क़ानून के अनुसार चलने पर मजबूर करती है। सरकारी सत्ता के कारण से नागरिक के काम नीतियुक्त नहीं रह जाते। गांधीजी के शब्दों में, "कोई भी कार्य जब तक वह स्वेच्छा से न किया गया हो नैतिक नहीं कहा जा सकता.... जब तक हम मशीनों की तरह व्यवहार करते हैं, नीति का सवाल ही नहीं उठता। यदि हम किसी कार्य को नैतिक कहना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि वह जान-बूझकर कर्तव्य समझकर किया गया हो।"[2] इसके अतिरिक्त शासन-व्यवस्था चाहे जितनी प्रजातन्त्रवादी हो, राज्य की बुनियाद सदा हिंसा पर ही होती है। हिंसा का अर्थ है शोषण और कार्ल मार्क्स की तरह गांधीजी का भी मत है कि राज्य ग़रीबों का शोषण करता है। "राज्य हिंसा का संगठित और केन्द्रित रूप है; व्यक्ति की आत्मा है, पर राज्य आत्मारहित मशीन है। उसे हिंसा से बचाया ही नहीं जा सकता क्योंकि उसकी उत्पत्ति ही हिंसा से है।"[3] एक बार निजी सम्पत्ति और संरक्षक के सम्बन्ध में अपने सिद्धांत का विवेचन करते हुए गांधीजी ने कहा था, "मैं राज्य-शक्ति की वृद्धि की ओर अधिकतम डर के साथ देखता हूँ; क्योंकि मालूम चाहे यह पड़ता हो कि राज्य शोषण को कम करके हमें लाभ पहुँचा रहा हो, पर वह व्यक्तित्व का, जो सम्पूर्ण प्रगति का आधार है, विनाश करता है और इस प्रकार मनुष्य-समाज को अधिकतम हानि पहुँचाता है। हमें बहुत से ऐसे उदाहरण मालूम

१. 'हिन्द-स्वराज्य' के बारे में सन् १९२४ में गांधीजी ने लिखा था, "उसमें जो लिखा है वह आदर्श राज्य के सम्बन्ध में है।" य० इ०, ३-४-२४, पृ० ११३।

२. गांधीजी, 'नीतिधर्म', पृ० ४०।

३. श्री० एन. के. बोस, 'स्टडीज इन गांधीइज्म', पृ० २०२-२०४।

है जिसमें मनुष्यों ने संरक्षक का-सा बर्ताव किया, लेकिन ऐसा कभी भी नहीं हुआ कि राज्य का जीवन वास्तव में निर्धनों के लिए हो।"

आदर्श समाज, गांधीजी के अनुसार, राज्य-रहित अहिंसक जनतंत्रवादी समाज है। यह समाज शुद्ध अराजकता की वह दशा है जिसमें सामाजिक जीवन उस पूर्णता को पहुँच गया हो जब वह स्वयं-संचालित बन जाय। "इस दशा में प्रत्येक स्वयं अपना शासक है। वह अपने ऊपर इस तरह शासन करता है कि वह अपने पड़ोसी के रास्ते में कभी रुकावट नहीं डालता। आदर्श समाज में कोई राजनैतिक सत्ता नहीं होती, क्योंकि कोई राज्य नहीं होता।"[1]

विकेन्द्रीकरण

आदर्श समाज विकेन्द्रित समाज होगा और समता उसके प्रत्येक क्षेत्र की विशेषता होगी। विकेन्द्रीकरण इस कारण आवश्यक है कि केन्द्रीकरण से थोड़े से मनुष्यों के हाथ में शक्ति एकत्रित हो जाती है और केन्द्रित शक्ति के दुरुपयोग की बहुत सम्भावना रहती है। केन्द्रीकरण जीवन की जटिलता को और विशेषज्ञों के महत्व को बढ़ा देता है और सृजनात्मक नैतिक प्रयास में विघ्न डालता है। वह उपक्रम, साधनशीलता और सृजनशीलता को हानि पहुँचाता है और स्वशासन के अवसर और अन्याय के प्रतिरोध की क्षमता कम करता है। केन्द्रीकरण से सामाजिक सम्बन्ध निर्व्यक्तिक हो जाते हैं और नैतिक संवेदनशीलता का ह्रास होता है। इसलिए कोई समाज जिस परिमाण में सत्ता का केन्द्रीकरण करेगा, उसी परिमाण में वह अजनतंत्रवादी हो जायगा। गांधीजी ने सन् १९४२ में लिखा था कि, "केन्द्रीकरण समाज की अहिंसक व्यवस्था से मेल नहीं खाता।"[2] सन् १९३९ में उन्होंने कहा था, "मेरा सुझाव है कि यदि भारत को अहिंसक रीति से विकास करना है तो उसे बहुत बातों का विकेन्द्रीकरण करना होगा। केन्द्रीकरण का संचालन और उसकी रक्षा बिना पर्याप्त शक्ति के नहीं हो सकती।"[3] "आप अहिंसा का निर्माण बड़ी मिलों (केन्द्रित उत्पादन) की सभ्यता पर नहीं कर सकते; किन्तु उसका निर्माण स्वावलम्बी गाँवों के आधार पर हो सकता है।"[4]

---

१. य० इं०, २-७-३१।

२. ह०, १९-१-४२, पृ० ५।

३. ह०, ३०-१२-३९, पृ० ३९१।

४. ह०, ४-११-३९, पृ० ३३१।

गांधीजी के अपरिग्रह और स्वदेशी के सिद्धांत विशेष रूप से उनकी विकेन्द्रीकरण की धारणा को समूर्ति बनाते हैं। अपरिग्रह का अर्थ है स्वेच्छा की निर्धनता। स्वदेशी के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को देश और काल के दृष्टिकोण से दूरवर्ती कर्तव्यों की अपेक्षा निकट के कर्तव्यों पर ध्यान देना चाहिए। स्वदेशी का सिद्धान्त मनुष्य की प्रत्यक्ष सेवा के क्षेत्र को उसकी जानने, प्रेम करने और सेवा करने की क्षमता से सम्बन्धित करता है। गांधीजी इस बात पर ज़ोर देते थे कि सत्याग्रही को अपने स्थान के निवासियों से व्यक्तिगत सम्पर्क रखना चाहिए। किन्तु इसका अर्थ यह है कि स्थान इतना छोटा होना चाहिए कि उपरोक्त व्यक्तिगत सम्पर्क सत्याग्रही के लिए सम्भव हो।

विकेन्द्रीकरण का यह अर्थ नहीं कि भारत के गाँवों में पारस्परिक सम्बन्ध न होगा। उसका अर्थ है कि यह सम्बन्ध स्वेच्छा पर आधारित होगा और केन्द्रीय सत्ता बल-प्रयोग के स्थान पर नैतिक और अहिंसक साधनों पर निर्भर रहेगी। विकेन्द्रीकरण का मूलभूत सिद्धांत पृथककारी निराकरणशील, समाज-विरोधी व्यक्तिवाद नहीं, स्वेच्छा पर आधारित सहयोग है। इस प्रकार विकेन्द्रीकरण केन्द्रीय सत्ता के नैतिक पथ-प्रदर्शन के विरुद्ध नहीं है।

सत्याग्रही ग्राम

आदर्श जनतंत्र ग्रामों में रहने वाले जनतंत्रवादी और लगभग स्वावलंबी सत्याग्रही समुदायों का संघ होगा। गांधीजी के शब्दों में, "अहिंसक समाज, ग्रामों में बसे हुए ऐसे समुदायों का ही हो सकता है जिनमें स्वेच्छा का सहयोग सम्मानपूर्ण और शांतिमय जीवन की शर्त है।"[1] संघ और समुदायों का संगठन स्वेच्छा से दिए गए इस सहयोग के आधार पर होगा।

गांधीजी के लेखों में हमको आदर्श ग्राम समुदायों का संक्षिप्त वर्णन मिलता है। "प्रत्येक गांव एक पूर्ण शक्तिवाली पंचायत या जनतन्त्र होगा। इसलिए निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक ग्राम स्वावलम्बी होगा और इस योग्य होगा कि वह अपने मामलों का प्रबन्ध यहाँ तक कर सके कि संपूर्ण संसार से अपनी रक्षा भी स्वयं कर ले। बाहर से आक्रमण के विरुद्ध अपनी रक्षा करने के प्रयत्न में उसे मरने की शिक्षा मिलेगी और वह इसके लिए तैयार रहेगा। इस प्रकार अन्त में व्यक्ति ही इकाई है। इससे पड़ोसियों या संसार की स्वेच्छा से दी हुई सहायता का और (उन पर) निर्भरता का निराकरण नहीं होता। (किन्तु) वह व्यक्तियों का स्वेच्छा का सम्बन्ध पारस्परिक होगा।

---

१. ह०, १३-१-४०, पृ० ४११।

इस प्रकार का समाज अवश्य ही उच्च रूप से विकसित होता है और उसमें प्रत्येक स्त्री और पुरुष जानता है कि उसे किस बात की आवश्यकता है और इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि कोई किसी ऐसी वस्तु को प्राप्त करना नहीं चाहता जिसे दूसरे उतना ही परिश्रम करके नहीं पा सकते।"[1] अगणित ग्रामों के इस संघ में सामुदायिक जीवन का केन्द्र व्यक्ति सदा ग्राम के लिए मरने को तैयार रहेगा, ग्राम, ग्राम-समुदायों के लिए मरने को तैयार रहेगा, इस प्रकार संघ व्यक्तियों से विनिर्मित एक समग्रता होगी। इस समग्रता की "बाह्य परिधि अपनी शक्ति का उपयोग आन्तरिक वृत्ति को दबाने के लिए नहीं करेगी, बल्कि वह (परिधि के) अन्दर सबको शक्ति देगी और स्वयं अपनी शक्ति केन्द्र से प्राप्त करेगी।" "यह वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर आधारित पूर्ण जनतन्त्र है। व्यक्ति अपने शासन का स्वयं निर्माता है। वह और उसके शासन का नियमन अहिंसा के सिद्धान्त से होता है। वह और उसका ग्राम संसार की शक्ति की अवज्ञा कर सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक ग्राम-वासी के जीवन का विनियमन इस क़ानून से होता है कि वह अपने और अपने ग्राम की सम्मान की रक्षा में मृत्यु सह लेगा।"[2]

सामाजिक-आर्थिक संगठन

आदर्श जनतन्त्र के सामाजिक जीवन को समता पर आधारित करने के लिए भारत की प्राचीन वर्ण-व्यवस्था में अपरिग्रह और शारीरिक श्रम के अहिंसात्मक आदर्शों के अनुसार कुछ हेर-फेर हो जायगा। गांधीजी के अनुसार वर्ण नियम ने "विशेष प्रकार की योग्यता वाले मनुष्यों के लिए कार्यक्षेत्र स्थापित कर दिया। इससे हानिकारक होड़ दूर हो गई। वर्ण नियम ने मनुष्यों की मर्यादा को तो माना किन्तु उच्च-नीच के भेदों को स्थान न दिया......। मेरा विश्वास है कि आदर्श समाज का विकास तभी होगा जब इस नियम का अर्थ पूरी तरह समझा जायगा और उसके अनुसार कार्य होगा।"[3] सामान्य रीति से लोग अपना पुश्तैनी पेशा अपनाएंगे। लेकिन गांधीजी के अनुसार इस क़ानून में अपवाद भी होंगे और मनुष्यों को अपने पुश्तैनी पेशे को छोड़ कर किसी दूसरे धन्धे को अपनाने की भी स्वतन्त्रता होगी। उनका मत था

१. ह०, २८-७-४६, पृ० २३६।

२. ह०, २६-७-४२, पृ० २३८। सन् १९४६ में गांधीजी ने लिखा था कि उनकी धारणा की स्वावलम्बी आदर्श ग्राम इकाई १००० व्यक्तियों की होगी। ह०, ४-८-४६, पृ० २५२।

३. एन० के० बोस, 'स्टडीज़ इन गांधीइज़्म', पृ० २०५।

कि प्रत्येक वर्ग के मनुष्यों को अपनी आवश्यकताओं के लिए खेती या उससे मिलता-जुलता शरीर-श्रम करना चाहिए। इन आवश्यकताओं के लिए श्रम कर चुकने पर मनुष्य जो कुछ काम अपने शरीर या दिमाग़ से करे वह समाज-सेवा के लिए हो और उसका कोई मूल्य न माँगा जाए।[1] सत्याग्रही की इन आवश्यकताओं में न तो विलासिता के लिए स्थान होगा और न वे इतनी कम होंगी कि जीवन ही दूभर हो जाय। दोनों दशाएं मनुष्य की नैतिक उन्नति में रुकावट डालती हैं। गांधीजी के इस आदर्श समाज में प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपनी योग्यता के अनुसार समाज-सेवा की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। शारीरिक श्रम का आदर्श अपरिग्रह में आर्थिक समता स्थापित कर देगा। अहिंसा और परिग्रह का मेल ही नहीं बैठता। गांधीजी के शब्दों में, "प्रेम और निजी सम्पत्ति साथ-साथ नहीं चल सकते। तात्विक दृष्टि से जब पूर्ण प्रेम हो तो पूर्ण अपरिग्रह भी होना चाहिए।"[2] इस प्रकार वर्ण नियम, शरीर-श्रम और अपरिग्रह के आदर्शों को अपनाने से पूर्ण आर्थिक और सामाजिक समता स्थापित हो जायेगी।

अपरिग्रह और शरीर-श्रम के आदर्शों पर प्रतिष्ठित समाज कृषि-प्रधान होगा और ग्रामीण सभ्यता को अपनाएगा। आर्थिक जीवन में शोषण और मालिक-नौकर के अप्राकृतिक सम्बन्ध का अन्त हो जायगा। उत्पादन ग्रामीण उद्योग-धन्धों के द्वारा होगा। गांधीजी सब तरह की मशीनों के विरुद्ध नहीं थे लेकिन मुनाफे के लिए चलाये गए बड़े-बड़े मिल-कारखानों के साथ-साथ सत्याग्रही सभ्यता का विकास नामुमकिन है। बड़े पैमाने पर उत्पादन आर्थिक शक्ति को केन्द्रित करता है और उसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि बड़े बाज़ारों और बहुत ज़्यादा कच्चे माल पर नियन्त्रण हो। दूसरे शब्दों में बड़े-बड़े कल-कारखानों का अर्थ है शोषण और हिंसा।[3] इसलिए अहिंसक सभ्यता का विकास स्वावलम्बी गाँवों के आधार पर ही हो सकता है। किन्तु गांधीजी ऐसे सादे औज़ारों और मशीनों का स्वागत करते थे जो बिना बेकारी बढ़ाए लाखों ग्रामीणों के बोझ को हलका करते हैं और जिनको गाँवों के निवासी स्वयं बना सकते और प्रयोग में ला सकते हैं।[4] गांधीजी का मत था

१. ह०, १-६-३५, पृ० १३५; और २९-६-३३, पृ० १५६।

२. एन० के० बोस, 'स्टडीज़ इन गाधीइज़्म', पृ० २००।

३. घरेलू धन्धों के लाभ के लिए ऊपर अध्याय ८ देखिए।

४. यं० इं०, भा० २, पृ० ७१३ और ७६७; और ह०, २९-८-३६, पृ० २२६; और १५-९-४६, पृ० ३१०।

कि खेती स्वेच्छा पर आधारित सहकारी पद्धति से होना चाहिए। "उनकी सहकारिता की धारणा यह थी कि ज़मीन किसानों के सहकारी स्वामित्व में हो और जोताई और खेती सहकारी रीति से हो। इससे श्रम, पूंजी और औज़ारों आदि की बचत होगी। (भूमि के) स्वामी सहकारिता से कार्य करेंगे और पूंजी, औज़ार, पशु, बीज इत्यादि के सहकारी स्वामी होंगे। उनकी धारणा की सहकारी कृषि देश का रूप परिवर्तित कर देगी और उनके बीच से निर्धनता और आलस्य दूर कर देगी।"[1]

सत्याग्रही, स्वावलम्बी गाँवों का यह जनतन्त्रवादी संघ स्वदेशी के आदर्श को अपनाएगा और शायद ही उसको दूसरे देशों से व्यापार करना पड़े। संघ के अन्दर हरएक गाँव भी स्वदेशी का आदर्श बरतेगा और दूसरे गांवों से उसका व्यापार केवल ऐसी आवश्यक वस्तुओं के लिए होगा जिनको वह स्वयं पैदा नहीं कर सकता।

आदर्श-समाज में न तो यातायात के भारी साधन होंगे, न वकील और कचहरियाँ, न आजकल के से डाक्टर और दवाइयाँ, और न बड़े नगर। गांधीजी की राय में "हिन्दुस्तान की मुक्ति इसी में है कि उसने जो कुछ पिछले पचास साल में सीखा है उसे भुला दे। रेल, तार, अस्पताल, वकील, डाक्टर आदि को जाना ही होगा।"[2]

जब केन्द्रित उत्पादन ही न होगा तो रेल आदि बनेंगी ही कैसे? इसके अतिरिक्त यह सब अधिकतर फौज की, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की और केन्द्रित उत्पादन की आवश्यकताओं का परिणाम है और आदर्श समाज इनसे ऊपर उठ चुका होगा। इसी तरह सत्याग्रही मनुष्यों में झगड़े बहुत ही कम होंगे। जो होंगे भी उनका निपटारा आपसी बातचीत, दूसरों के समझाने-बुझाने, कभी-कभी पंचायतों से, और जब यह साधन काफ़ी न होंगे, तब अहिंसक प्रतिरोध से हो जायगा। शरीर-श्रम और अपरिग्रह के आदर्शों के चालू होने के कारण न तो पैसा लेकर इलाज बेचने वाले डाक्टर, हकीम होंगे और न दवाइयों की भरमार। जब जीवन सरल और प्राकृतिक होगा; जब हरएक खेती और घरेलू धंधों में मेहनत करेगा और जब आजकल की जल्दबाज़ी, होड़ और अनिश्चित जीवन की चिन्ता दूर हो चुकी होगी, तब बहुत-सी बीमारियों का तो नाम भी न रहेगा। जो छोटी-छोटी बीमारियां रह भी जायेंगी उनके इलाज के लिए प्राकृतिक चिकित्सा के तरीक़े होंगे। गांधीजी

१. ह०, ६-३-४७, पृ० ५८-५६।

२. 'स्पीचेज़', पृ० ७७०।

की राय है कि योग की क्रियाएं भी नैतिक, मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभदायक हैं। इन डाक्टरों का न रहना, जो आसान इलाज के भुलावे में डालकर मनुष्य को आत्म-निरोध की जगह संयम-हीनता की स्वच्छन्दता का पाठ पढ़ाते हैं, समाज के लिए बहुत हितकर होगा।

राज्य-रहित समाज की एकता

लेकिन मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज ने ही मनुष्य को मनुष्य बनाया है। बिना समाज के उसकी उन्नति तो अलग, उसका अस्तित्व ही न रहेगा। गांधीजी के राज्यरहित, हिंसारहित आदर्श समाज में एकता की रक्षा कैसे होगी? व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और वह कर्तव्य, जो समाज की एकता के लिए आवश्यक है, साथ-साथ कैसे चलेंगे? आज तो सरकार क़ानून बनाकर सामाजिक एकता के लिए आवश्यक कर्तव्य निश्चित करती है और नागरिक को सज़ा के डर से इन कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है। क्या राज्य, सरकार और सज़ा से छुटकारा पाकर मनुष्य समाज का भी विनाश न कर बैठेगा?

गांधीजी की राय में समाज एक बड़े परिवार की तरह है। व्यक्ति और समाज में निकटतम सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही असम्भव है। गांधीजी ऐसे अमर्यादित व्यक्तिवाद के भी विरोधी हैं जो सामाजिक कर्तव्यों को भुला देता है और ऐसे समाजवाद के भी जो व्यक्ति को सामाजिक मशीन का एक पुर्जा ही समझता है। वह लिखते हैं, "मैं व्यक्ति की स्वतंत्रता की क़द्र करता हूँ, लेकिन आपको यह न भूलना चाहिए कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह अपने व्यक्तिवाद को सामाजिक प्रगति की आवश्यकताओं से निभाना सीखकर ही अपनी वर्तमान हालत तक पहुंच सका है। नियन्त्रणहीन व्यक्तिवाद जंगल के जानवरों का नियम है। मनुष्य ने तो सामाजिक प्रतिबंध और व्यक्तिगत स्वतन्त्रा के बीच संतुलन करना सीखा है। पूर्ण समाज के हित के लिए सामाजिक प्रतिबन्धों को अपने आप मान लेना व्यक्ति और समाज दोनों के लिए लाभदायक है"।[1]

यद्यपि गांधीजी समाज की उपेक्षा नहीं करते, पर सर्वोदय-तत्त्व-दर्शन में व्यक्ति का महत्त्व प्राथमिक है। समाज की हम कल्पना तो कर सकते हैं, लेकिन वह व्यक्ति की तरह प्रत्यक्ष मूर्त्तिवान् नहीं है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति वास्तव में आत्मा है और सामाजिक उन्नति की हरेक योजना में पहला क़दम व्यक्ति का ही होगा। अराजकतावादी समाज का विकास इस बात पर निर्भर

---

१. ह०, १७-५-३६, पृ० १४४।

है कि साधारण व्यक्ति सच्चा सत्याग्रही और संयमी बन जाय। समाज को चाहिए कि वह व्यक्ति को विकास के लिए पूरा अवसर दे। और विकास इसी में है कि व्यक्ति समाज की निःस्वार्थ सेवा करना या दूसरे शब्दों में समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को अपने आप पालन करना सीखे। यदि समाज या व्यक्ति में से कोई भूल करे तो दूसरा उसका अहिंसक प्रतिरोध करे। अराजकतावादी समाज में व्यक्ति की आन्तरिक नीति-भावना और अहिंसक प्रतिरोध का दबाव व्यक्ति को सामाजिक कर्तव्यों का पालन करने को प्रेरित करेगे। इनके अतिरिक्त व्यक्ति को उसके कर्तव्यों की याद दिलाने वाला एक और अहिंसक साधन भी होगा। इसको प्राचीन भारत के विचारकों ने 'धर्म' का नाम दिया है।

'धर्म' से इन विचारकों का अर्थ 'मज़हब', 'मत' या 'सम्प्रदाय' नहीं बल्कि संस्कृति और अनुशासन की एक पद्धति है। धर्म आचरण की वह नियमावली है जिसका संचालन जनमत या जनता की अंतरात्मा के द्वारा होता है। व्यक्ति की नीति-भावना आंतरिक होती है, क्योंकि वह व्यक्ति की अंतरात्मा पर आश्रित होती है। क़ानून बाहरी साधन होता है और सरकार सज़ा के डर से हमको क़ानून मानने के लिए मजबूर करती है। धर्म न तो व्यक्ति की नीति-भावना की तरह आत्म-पाती है, न क़ानून की तरह बाहरी साधन। धर्म इन दोनों के मध्य का मार्ग है। धर्म की संचालन-सत्ता व्यक्ति की अन्तरात्मा से कम आंतरिक और राज्य-सत्ता से कम बाह्य है। धर्म को हम सामाजिक नीति-भावना कह सकते हैं। धर्म या सामाजिक नीति-भावना सदा के लिए निश्चित कोई नपी-तुली नियमावली नहीं है। वह समाज की जीवन-स्फूर्ति, उसकी जीती-जागती आत्मा है, जिसका समाज की प्रगति के साथ विकास होता रहता है। सामाजिक नीति-भावना समाज में एकता रखती है, व्यक्ति की अंतरात्मा का पथ-प्रदर्शन करती है और उसके विकास में सहायता करती है।

अराजकतावादी समाज की एकता का महत्वपूर्ण साधन होगा धर्म या सामाजिक नीति-भावना। धर्म व्यक्ति की अंतरात्मा पर प्रभाव डालेगा और स्वतन्त्रता और सामाजिक एकता का सामंजस्य करेगा। जो बच्चे इस नये समाज में पैदा होंगे और शिक्षा पायेंगे वे इस अराजकतावादी नीति-भावना को सुगमता से अपना लेंगे।

आज भी तो हम अपने कर्तव्यों का पालन इतना क़ानून और सज़ा के डर से नहीं करते जितना दूसरे कारणों से—विशेष रूप से अपनी आदतों के कारण और अपनी आंतरिक नीति-भावना और जनमत के दबाव के कारण।

प्राचीन भारत के गाँवों के सामाजिक और आर्थिक जीवन का संचालन अधिकतर सामाजिक नीति-भावना के द्वारा ही होता था और वर्णाश्रम-धर्म इसका एक आवश्यक अङ्ग था। धर्म का दर्जा राज्य-सत्ता से ऊँचा था। राज्य-सत्ता को धर्म मे हेर-फेर करने का अधिकार नहीं था। आज सामाजिक अनुशासन की रक्षा का कार्य राज्य-सत्ता का है और उसके साधन हैं क़ानून और हिंसक उपाय। प्राचीन भारत मे यह कर्तव्य अधिकतर राज्य का नहीं दूसरे समुदायों का था, जो अहिंसात्मक उपायों का अर्थात् नैतिक दबाव का उपयोग करते थे। सामाजिक नियन्त्रण का सर्वथा अभाव न था किन्तु इस नियन्त्रण का साधन बल-प्रयोग के स्थान मे नैतिक दबाव था। इस दबाव का उग्र स्वरूप था अनुशासन को न माननेवाले व्यक्ति का सामाजिक और आर्थिक बहिष्कार। सम्भवतः इस बहिष्कार में अक्सर हिंसक भाव आ जाते थे। लेकिन इसमें अहिंसक रहने की क्षमता थी और एक स्वतन्त्र समाज में गांधीजी इसको राज्य-सत्ता की संगठित हिंसा से अधिक अच्छा समझते थे।[1]

प्राचीन भारत के गाँव जिनका जीवन अधिकतर स्वतः संचलित था, गांधीजी की धारणा के आदर्श अराजकतावादी समाज से कुछ-कुछ मिलते-जुलते थे। वह यह मानते थे कि इन गाँवों के जीवन मे अहिंसा बहुत अविकसित रूप मे थी। गांधीजी ने अहिंसा को अपनी निरन्तर साधना से जो व्यापक रूप दिया है उसका इन गाँवों में अभाव था। लेकिन अहिंसा की जड़ उनकी राय मे इन गाँवों के जीवन मे अवश्य थी।[2] सन् १९१६ में मद्रास मिशनरी कान्फ्रेंस मे उन्होने कहा था, "स्वदेशी भावना के अनुसार मैं हिन्दुस्तानी संस्थाओं को देखता हूँ तो ग्राम-पंचायतें मुझे आकृष्ट करती हैं। हिन्दुस्तान वस्तुतः एक जनतन्त्रवादी देश है ··· । राजाओं और शासकों का, चाहे वे हिन्दुस्तानी रहे हों या विदेशी, कर वसूल करने के अतिरिक्त, जनता पर शायद ही कोई प्रभाव पड़ा हो। जनता ने शासकों को उचित कर दिया और इसके बाद अधिकतर जो चाहा वही किया। जाति का विस्तृत संगठन समाज की धार्मिक आवश्यकताओं को ही नहीं बल्कि राजनैतिक आवश्यकताओं को भी पूरा करता था। जाति-संस्था के द्वारा गाँव आंतरिक

१. एक बार गांधीजी ने लिखा था, "सामाजिक बहिष्कार— जैसे नाई, धोबी इत्यादि को रोक देना— निस्सन्देह एक सजा है जो एक स्वतन्त्र समाज मे अच्छी हो सकती है।" य० इं०, भा० १, पृ० ६४१।

२. ह०, १३-२-४०, पृ० ४११।

व्यवस्था करते थे और उसके ही द्वारा वह शासक या शासकों के अत्याचार का सामना करते थे।"[1]

इस तरह अहिंसक समाज में अहिंसा ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता और और सामाजिक अनुशासन का सामंजस्य करेगी। अहिंसा का अर्थ यह है कि सामाजिक एकता की रक्षा आन्तरिक साधनों द्वारा और बल-प्रयोग के अतिरिक्त अन्य बाह्य साधनों द्वारा होगी।[2]

---

१. 'स्पीचेज़', पृ० २७६।

२. सामाजिक एकता की स्थापना के आन्तरिक साधनों के उदाहरण हैं—लज्जित होने का डर, पाप-भावना, आदत की शक्ति इत्यादि। कुछ बाह्य साधन हैं, जनमत का दबाव, बदले का डर, दैवी शक्ति का डर इत्यादि। समाज के मानदंड शिक्षा के विभिन्न साधनों द्वारा आन्तरिक बनते हैं। नृशास्त्र के आधार पर मीड का विश्वास है कि "बच्चे से बाह्य साधनों के द्वारा व्यवहार कराने में उतनी ही विशिष्ट शिक्षा की आवश्यकता है जितनी आन्तरिक साधनों द्वारा।" पहिले अध्याय में हम यह बता आए हैं कि यहूदियों की सामाजिक एकता के साधन अहिंसक थे। आदिम निवासियों की कुछ जातियों में राज्य की-सी कोई संस्था नहीं है। उदाहरण के लिए एस्किमो और ओजिबवा नाम की जातियों में सामूहिक कार्य के लिए आवश्यक राजनैतिक संस्थाओं का अभाव है। इसी प्रकार अरापश और बचीगा जातियाँ राजनैतिक समूह नहीं है और उनमें कारगर शासन सम्बन्धी संस्थाओं का अभाव है। इन जातियों में सम्पत्ति को बहुत कम महत्व दिया जाता है। देखिए मार्गरेट मीड, 'कोआपरेशन ऐंड कम्पटीशन एमन्ग प्रिमिटिव ट्राइब्स', विशेष रूप से अन्तिम अध्याय।

समाज-शास्त्री रास का मत है कि समाज में उसी अनुपात में भयपूर्ण या पक्षपातपूर्ण राजनैतिक नियन्त्रण उचित माने जाते हैं जिस अनुपात में उस समाज में परस्पर विरोधी अंश होते हैं; समाज व्यवस्था में व्यक्ति की इच्छा और हित को दबाने की आवश्यकता पड़ती है, समाज-व्यवस्था पद-मर्यादा की भिन्नता के ढाचे को स्थायित्व देती है; आर्थिक स्थिति और अवसर की भिन्नता जिनका समाज-व्यवस्था पवित्रीकरण करती है महान और संचित होते हैं, और जातियों, वर्गों और स्त्रियों और पुरुषों में परोपजीवी सम्बन्ध होते हैं। दूसरी ओर नियन्त्रण के नैतिक साधन—जिनके दृष्टांत हैं जनमत, सुझाव, व्यक्तिगत आदर्श, सामाजिक मूल्य, धर्म, कला—उसी अनुपात में समाज में उचित माने जाते हैं जिस अनुपात में आबादी एक ही प्रकार की

समाज व्यक्ति को विकास का अधिक-से-अधिक अवसर देगा और व्यक्ति इस अवसर का उपयोग सबके अधिकतम हित के लिए करेगा। यदि समाज या व्यक्ति में से कोई अन्याय करेगा तो दूसरा उसका अहिंसक विरोध करेगा।

राज्यरहित समाज की सम्भावना

लेकिन अराजकतावादी समाज—जिसमें न तो पुलिस और न फौज होगी, न कचहरियाँ, डाक्टर, यातायात के भारी साधन, और न बड़े-बड़े कल-कारखाने— एक ऐसा प्रेरणापूर्ण आदर्श है जिसको जीवन में उतारना निकट भविष्य की बात नहीं है।[1] समाज राज्य-रहित तभी बन सकता है जब मनुष्य पूरी तरह आत्म-संयमी बन जाय और समाज के प्रति कर्तव्यों का पालन बिना क़ानून के दबाव के करने लगे। इतना आत्म-संयम अभी मनुष्य के बस की बात नहीं है। इसीलिए गांधीजी अपने सामूहिक कार्यक्रम में अस्पतालों, और कचहरियों, रेलों और मिलों के विनाश का समावेश नहीं करते थे, यद्यपि वह इन सबको बुरा समझते थे, वह इनके स्वाभाविक विनाश का स्वागत करते और व्यक्तिगत रूप से उसी आदर्श समाज की स्थापना में प्रयत्नशील थे जिसमें इन सबके लिए कोई स्थान न होगा।[2]

होती है, समाज की संस्कृति में एकरूपता और व्यापकता होती है, समाज के अंशो मे अनेक और प्रेमपूर्ण सम्पर्क होते है, व्यक्ति के सामाजिक कर्तव्यो का समग्र भार हल्का होता है और समाज-व्यवस्था पद-मर्यादा की भिन्नता के ढाँचे का और परोपजीवी सम्बन्धो का पवित्रीकरण नही करती किन्तु न्याय की साधारण प्राथमिक धारणाओ के अनुकूल होती है। देखिए ई० ए० रॉस, 'सोशल कन्ट्रोल' पृ० ४११-१३।

१. पश्चिम के अराजकतावादी विचारको में से गाडविन और टामस हाजस्किन को यह आशा नहीं थी कि पूर्ण रूप से राज्यहीन समाज की स्थापना कभी सम्भव हो सकेगी। दूसरी ओर बाकुनिन, क्रोपाटकिन, जोशिया वारेन, बेंजमिन टकर और दूसरे अनेक अराजकतावादी विचारको का यह मत था कि इस प्रकार के समाज का विकास संभव है। मार्क्स और लेनिन का भी विश्वास था कि मज़दूरों के राज्य का आवश्यकता न रहने पर लोप हो जायगा और बिना बल-प्रयोग के भी मनुष्य सामाजिक जीवन की ज़िम्मेदारियो को पूरा करने के आदी हो जायंगे।

२. यं० इ०, भा० १, पृ० ८८५-६; 'हिन्द स्वराज्य', पृ० ७; यं० इ०, भा० १, पृ० ११२६-३०।

सच तो यह है कि गांधीजी का मत था कि राज्य-रहित समाज एक ऐसा आदर्श है जिसे मनुष्य अपने जीवन में कभी भी पूरी तरह कार्यान्वित न कर सकेगा। सन् १९४० में शांतिनिकेतन में गांधीजी से पूछा गया कि "क्या कोई राज्य अहिंसा के सिद्धान्त के अनुसार चल सकता है ?" गांधीजी ने जवाब दिया, "सरकार पूरी तरह अहिंसक होने में कभी सफल नहीं हो सकती, क्योंकि वह (राज्य में रहनेवाले) सब मनुष्यों की प्रतिनिधि है। आज मैं ऐसे स्वर्ण काल की बात नहीं सोच पाता। लेकिन मैं ऐसे समाज के अस्तित्व की सम्भावना में विश्वास करता हूँ जो प्रमुख रीति से अहिंसक हो और मैं उसके लिए ही काम कर रहा हूँ।"[1]

पूछा जा सकता है कि ऐसे आदर्श समाज की कल्पना का मूल्य ही क्या है जो अपूर्ण मनुष्य की पहुंच के परे है ? लेकिन यह प्रश्न तो नीति-शास्त्र की उपयोगिता और उसके अस्तित्व का है। मनुष्य के लिए किसी भी शाश्वत आदर्श की पूर्ण सिद्धि सम्भव नहीं है।[2] आदर्शों की उपयोगिता यही है कि वह नैतिक प्रगति के पथ-प्रदर्शक हैं और मनुष्य की वर्तमान स्थिति के माप-दंड हैं। गांधीजी के इस आदर्श जनतन्त्रवादी समाज की धारणा की भी यही उपयोगिता है। वर्तमान समाज की कमी को समझने में और उसके जनतंत्रवादी पुनर्निर्माण में वह हमारा सहायक है।

अहिंसक मार्ग से स्वतन्त्र हो जाने पर किसी देश का संविधान आदर्श अराजकतावादी समाज और मनुष्य स्वभाव के बीच का समझौता, मध्यम मार्ग, होगा।[3] यह मध्यम मार्ग आदर्श की ओर पहिला क़दम होगा और राजनैतिक व्यवस्था साधारण व्यक्ति को अहिंसा के अनुकूल होगी। अहिंसा और जनतन्त्रवाद दोनों का बुनियादी सिद्धांत है सब मनुष्यों की नैतिक और आध्यात्मिक समता। वास्तविक जनतन्त्र को दुर्बल और बलवान सबको विकास का पर्याप्त सुयोग देना चाहिए और यह अहिंसा के बिना नहीं हो सकता। यदि स्वतन्त्रता ऐसी अहिंसा से मिली है जिसे लोगों ने विवशता के कारण काम चलाऊ नीति की तरह अपनाया है तो राज्य का बाह्य स्वरूप,

१. ह०, ९-३-१९४०, पृ० ३१।

२. गांधीजी, 'आत्म-शुद्धि', पृ० ५।

३. एक बार गाधीजी ने कहा था, "हमे चाहिए कि जीवन के नियम को जानकर उसको अपनी शक्ति के अनुसार, उससे अधिक नहीं, अपने आचरण मे उतारने का प्रयत्न करें। यह मध्यम मार्ग है।" यं० इ०, भा० २, पृ० ६५९।

उसका शासन-विधान, जनतन्त्रवादी होने पर भी शोषण चलता रहेगा; क्योंकि विवशता की अहिंसा का अर्थ है हिंसा मे विश्वास। लेकिन अगर क्रान्ति में सच्ची वीरता की अहिंसा का विकास हुआ है तो राज्य सच्चा जनतन्त्रवादी होगा, जिसमें हिंसा और शोषण बहुत कुछ दूर हो जायंगे। इसीलिए गांधीजी की जनतन्त्र की परिभाषा है, "शुद्ध अहिंसा का शासन।" एक पत्र के उत्तर में गांधीजी ने लार्ड लोथियन को लिखा था, "वैधानिक या जनतन्त्रवादी सरकार तब तक दूर का स्वप्न है जबतक अहिंसा केवल एक व्यावहारिक नीति की तरह नहीं बल्कि एक अटल सिद्धांत की तरह, एक जीवित शक्ति की तरह नहीं मान ली जाती।[1]

अहिंसक राज्य

सत्याग्रही राज्य की स्थिति दूसरे राज्यों के साथ समता की होगी और उसको अपनी जीवन-व्यवस्था में पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। भूलें करने के अधिकार के बिना अर्थात् प्रयोगों की स्वतन्त्रता के बिना उन्नति असम्भव है और इसीलिए गांधीजी की स्वराज्य की परिभाषा है, "भूलें करने की स्वतन्त्रता और भूलों को ठीक करने का कर्तव्य।"[2] स्वतन्त्रता सत्य का अंश है और जबतक कोई राष्ट्र स्वतन्त्र न हो वह सत्य की पूजा नहीं कर सकता।[3] प्रत्येक देश की स्वतन्त्रता उसकी उन्नति के ही लिए नहीं, संसार की उन्नति के लिए भी आवश्यक है। एक देश का दूसरे पर आधिपत्य साम्राज्यवादी देश में जनतन्त्र का विनाशक है और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों और लड़ाइयों की जड़ है; इसीलिए गांधीजी की राय है कि सत्याग्रही देश को ही नहीं प्रत्येक देश को अपने शासन-प्रबन्ध में आज़ादी होनी चाहिए।[4] जैसा कि आगे चलकर इसी अध्याय में बताया गया है, गांधीजी ऐसी स्वतन्त्रता के पक्ष में नहीं थे जो दूसरे राष्ट्रों का निराकरण करे या जिसका उद्देश्य हो किसी व्यक्ति या राष्ट्र को हानि पहुंचाना।

सत्याग्रही राज्य की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की तरह उसके आंतरिक जीवन का आधार भी स्वतन्त्रता और समता होगी। राज्य जनतन्त्रवादी होगा, क्योंकि अहिंसक क्रान्ति में भाग लेने वाली जनता का राज्य-शक्ति पर अधिकार होगा। गांधीजी के लिए स्वराज्य का अर्थ है, "हमारे छोटे-से-छोटे देशवासी

---

१. ह०, ११-२-३६, पृ० ८।

२ 'स्पीचेज़', पृ० ३८८।

३. यं० इं०, भा० २, पृ० २।

४. यं० इं०, भा०, पृ० २।

के लिए स्वतन्त्रता।"[1] भारत के स्वराज्य का अर्थ उनके लिए केवल नौकरशाही का गोरी से काली हो जाना नहीं बल्कि अन्तिम शक्ति का किसानों और मज़दूरों के हाथ में होना है। अहिंसा और जनतन्त्र के लिए आत्म-शुद्धि या व्यक्ति का नैतिक विकास भी आवश्यक है। गांधीजी लिखते हैं, "स्वराज्य पवित्र, वैदिक शब्द है। इसका अर्थ है स्वशासन और आत्म-नियन्त्रण न कि सब नियन्त्रणों से स्वतन्त्रता।" "राजनैतिक स्वशासन या बहुत से स्त्री-पुरुषों का स्वशासन वैयक्तिक स्वशासन की अपेक्षा अधिक अच्छा नहीं हो सकता।"[2]

राज्य—एक साधन

गांधीजी के लिए राजनैतिक सत्ता या राज्य ध्येय नहीं, वह उन साधनों में से एक है जिनसे मनुष्यों को जीवन के प्रत्येक विभाग में अपनी दशा सुधारने में सहायता मिल सकती है।[3] गांधीजी न तो जर्मन विचारक हेगेल की यह बात मानते हैं कि राज्य मानव-व्यवस्था का अन्तिम लक्ष्य है, वह स्वयं नैतिकता से परे है और उसको व्यक्ति के विरुद्ध अधिक-से-अधिक अधिकार हैं, और न मुसोलिनी का यह कहना कि राज्य के बाहर कुछ है ही नहीं। गांधीजी को ग्रीन और बोसांके सरीखे आदर्शवादी विचारकों का यह मत भी मान्य नहीं है कि राज्यसमुदायों का समुदाय और और समाजों का समाज अर्थात् सर्वश्रेष्ठ समुदाय है। उनके लिए राज्य सब के अधिकतम हित का केवल एक साधन है। राज्य का कोई विशेष महत्त्व नहीं। वह मनुष्य की दुर्बलता के साथ समझौता है और जितना शीघ्र उसका लोप हो जाय उतना ही अच्छा। जितना अधिक मनुष्य बिना राज्य के अपना काम चला सके उतनी ही वास्तविक उसकी स्वतन्त्रता है। गांधीजी को राज्य में अविश्वास है और वह सत्याग्रह के द्वारा जनता में राज्य-सत्ता का दुरुपयोग होने पर राज्य का विरोध करने की शक्ति उत्पन्न करना चाहते हैं। वह लिखते हैं, "सच्चा स्वराज्य कुछ मनुष्यों के राज्य-सत्ता प्राप्त करने से नहीं आएगा, बल्कि सबके राज्य-सत्ता का दुरुपयोग होने पर उसका विरोध करने की क्षमता प्राप्त करने से आएगा। दूसरे शब्दों में, स्वराज्य जनता को इस प्रकार शिक्षित करने से आएगा कि उसमें सत्ता पर नियन्त्रण रखने और उसका विनियमन करने की

१. 'स्पीचेज़', पृ० ३७८ और ३८०।

२. य० इ०, १३-३-३१, पृ० ३८, महादेव देसाई, 'विथ गांधीजी इन सीलोन', पृ० ६३।

३. य० इं०, २-७-३१।

क्षमता की चेतना आए।"[1] "स्वराज्य का सच्चा अर्थ यह है कि राज्य का प्रत्येक सदस्य सम्पूर्ण संसार के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकता है।"[2] "सच्चा स्वराज्य केवल वहीं सम्भव है जहाँ सत्याग्रह ही प्रजा का खास सहारा हो। जहाँ ऐसा न हो वहाँ तो स्वराज्य नहीं, परराज्य ही है।"[3]

राज्य-प्रभुता

अराजकतावादियों और उन विचारकों की तरह जो राज्य की प्रभुता के विरुद्ध समुदायों के अधिकारों के पक्षपाती हैं गांधी जी भी इस मत को नहीं मानते थे कि राज्य की प्रभुता पूर्ण और निरपेक्ष है और व्यक्ति का राज्य के क़ानूनों के प्रति निरपेक्ष आज्ञाकारिता का कर्तव्य है। वह "शुद्ध नैतिक अधिकार पर आधारित जनता की प्रभुता" में विश्वास करते थे।[4] उनके अनुसार दूसरे समुदायों की भाँति राज्य के प्रति भी व्यक्ति की वफ़ादारी सीमित और आपेक्षिक होनी चाहिये। इस वफ़ादारी की शर्त यह है कि राज्य या किसी दूसरे समुदाय का निर्णय व्यक्ति की अन्तरात्मा को ठीक जँचे। निस्सन्देह इसमें अशांति का निरंतर ख़तरा है, किन्तु राजनैतिक शक्ति के दुरुपयोग से बचाव के लिए यह आवश्यक है। यद्यपि गाँधीजी अनैतिक क़ानूनों की अवज्ञा नागरिकों का अधिकार और कर्तव्य मानते हैं और ऐसी अवज्ञा को जनतन्त्र की कुंजी बताते हैं,[5] वह इस अवज्ञा को सविनय और अहिंसक बनाकर अशांति से पूरा बचाव कर देते हैं।

पार्लमेंटरी जनतन्त्र

सत्याग्रही राज्य के शासन-विधान के बारे में याद रखना चाहिए कि

---

१ यं० इं०, भा० २, पृ० ४६१।

२. यं० इं०, १-८-१६२६।

३. 'हिन्द-स्वराज्य', पृ० ७४।

४. ह०, २-१-३७, पृ० ३७४। उपरोक्त शब्दों में गांधीजी "राम-राज्य" की परिभाषा करते थे। गांधीजी राम-राज्य की धारणा का उपयोग भारत-वासियों को जनतन्त्रवादी राज्य का अर्थ समझाने के लिए करते थे। "राम-राज्य से मेरा अर्थ हिन्दू-राज्य से नहीं है। राम-राज्य से मेरा अर्थ है ईश्वरीय राज्य।"... निस्सन्देह राम-राज्य का प्राचीन आदर्श सच्चे जनतन्त्र का है" देखिये यं० इं०, १६-६-१६, पृ० ३०५; २८-५-३१, पृ० १२६।

५. 'हिन्द-स्वराज्य', पृ० १४६।

सन् १६०८ से गाँधीजी इंगलैंड में प्रचलित पार्लमेंटरी सरकार की कड़े शब्दों में आलोचना करते रहे थे। लेकिन सन् १६१७ में पहिली गुजरात राजनैतिक कान्फ्रेंस के सभापति की हैसियत से उन्होंने पार्लमेंटरी सरकार को इस देश के लिए आवश्यक बताया था। सन् १६२० में उन्होंने कहा था, "इस समय तो मेरा स्वराज्य भारत की पार्लमेंटरी सरकार है।"[1] सन् १६४२ में उन्होंने लुई फिशर से कहा था कि उनको जनतन्त्र का पश्चिम में स्वीकृत वह रूप —जिसमें पार्लमेंट में बैठने के लिए सभी बलिगों के वोट द्वारा प्रतिनिधि चुने जाते हैं—मान्य नहीं है।[2] यह बातें परस्पर विरुद्ध मालूम पड़ती हैं, लेकिन गाँधीजी विधान के बाह्य स्वरूप को इतना महत्व नहीं देते थे जितना विधान के मूलभूत सिद्धान्तों को। पार्लमेंटरी जनतन्त्र को उनकी आलोचना का कारण इतना संविधान का रूप नहीं है जितना उसके प्रयोग का ढंग। उनकी राय मे प्रतिनिधि-प्रथा के अनुसार बनी संस्थाएं हिन्दुस्तान के लिए नई या अनुपयुक्त नहीं हैं; लेकिन वह पश्चिम की अन्धाधुन्ध नकल करने के विरोधी थे।[3] यदि सत्याग्रही राज्य ने पार्लमेंटरी प्रणाली को अपनाया, तो वह अहिंसा और सत्य के वातावरण के कारण, जो तब देश भर में फैल चुका होगा, पश्चिम के पार्लमेन्टरी जनतन्त्र के दोषों से बच सकेगा।

पश्चिम के राज्य नाममात्र के जनतंत्र हैं, क्योंकि वे जनतंत्रवाद के मूलभूत सिद्धान्तों की उपेक्षा करते हैं। शस्त्रीकरण की होड़ का, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद और शोषण का, राजनैतिक अस्थिरता और अनैतिकता का और दुर्बल नेतृत्व का यही कारण है। गांधीजी के अनुसार पूंजीवाद ने आर्थिक प्रश्नों में राज्य के हस्तक्षेप को अनिवार्य बनाकर उस चरम शक्तिशाली राज्य के विकास में सहायता की है जिसके कारण व्यक्ति की स्वतंत्रता असंभव हो गई है और जो विश्व-शांति के लिये अधिकतम भयावह है। आज वास्तविक समस्या है इस राज्य की शक्ति को नियंत्रित करना और उसकी वृद्धि को रोकना।[4]

'हिन्द स्वराज्य' में गांधीजी ने पार्लमेन्टों की माँ (इंगलैंड की पार्लमेन्ट) की कड़े शब्दों में निन्दा की है और उसको बाँझ कहा है—बाँझ इसलिये कि उसने कभी कोई अच्छा काम अपने आप नहीं किया। अगर समझदार वोटर

१. यं० इं० भा० १, पृ० ८७३; ८८५; 'हिन्द-स्वराज्य', भूमिका, पृ० ६।
२. लुई फिशर, 'ए वीक विद गांधी', पृ० ५५।
३. यं० इं०, भा० ३, पृ० २८५।
४. लुई फिशर, ऊपर उद्धृत, पृ० ८१-८३।

अच्छे-से-अच्छे मेम्बर चुनकर पार्लमेन्ट में भेजते हैं तो ऐसी पार्लमेन्ट का अर्ज़-मारूज़ या दबाव की ज़रूरत न होनी चाहिए। उस पार्लमेन्ट का काम ऐसा अच्छा होना चाहिए कि दिन-दिन उसका तेज बढ़ता नज़र आये और लोगों पर उसका असर पड़ता जाय। लेकिन आज तो इससे उलटा ही होता है। इतना तो सभी मानते हैं कि पार्लमेन्ट के मेम्बर ढोंगी और स्वार्थी हैं। सब अपनी ही खैंचातानी में लगे रहते हैं। पार्लमेंट तो डरकर ही कोई काम करती है।"[1] मंत्रियों के प्रति पार्लमेंट की वफ़ादारी में स्थिरता नहीं। "आज उसके मालिक एस्क्विथ हैं तो कल बालफ़ोर और परसों कोई और।"[2] पार्लमेण्ट की अस्थिरता की एक और मिसाल यह है कि उसके फ़ैसलों में कोई पक्कापन नहीं। आज का किया कल रद्द करना पड़ता है। आज तक एक बार भी ऐसा नहीं हुआ कि पार्लमेण्ट ने कोई काम करके उसे अन्त तक पहुंचाया हो।"[3]

पार्लमेण्ट के मेम्बर बड़े-बड़े मसलों की चर्चा के वक्त या तो लम्बी तानते हैं या बैठे-बैठे ऊंघा करते हैं। "कभी-कभी पार्लमेण्ट में वे ऐसा शोर मचाते हैं कि सुननेवालों की हिम्मत टूट जाती है। उन्हींके एक महान लेखक कार्लाइल ने पार्लमेण्ट को दुनियाभर की बकवास की जगह बतलाया है। जिस दल का जो मेम्बर होता है वह उसी दल को आंख मूंदकर मत देता है, क्योंकि अनुशासन के ख़्याल से वह ऐसा करने के लिए बाध्य है। इसमें कोई अपवाद-रूप निकल आये तो उसे दग़ाबाज़ समझा जाता है।"[4]

प्रधानमंत्री गांधीजी के नेतृत्व के आदर्श में बहुत नीचे रह जाता है। "प्रधानमंत्री को पार्लमेण्ट की उतनी फ़िक्र नहीं होती जितनी कि अपनी सत्ता की होती है। वह तो हमेशा अपने पक्ष की जीत के फेर में पड़ा रहता है। इस बात का उसे बहुत ध्यान नहीं रहता कि पार्लमेंट ठीक काम करे। प्रधानमंत्री अपने पक्ष को मज़बूत बनाने के लिए पार्लमेण्ट से क्या-क्या काम नहीं कराते हैं, इसके चाहे जितने उदाहरण मिल सकते हैं। उन्हें सच्चे

१. 'हिन्द-स्वराज्य,' पृ० ३२
२. 'हिन्द-स्वराज्य,' पृ० ३१
३. 'हिन्द-स्वराज्य', पृ० ३२। गांधीजी का मत यह मालूम पड़ता है कि यदि सत्य को जानने और उस पर डटे रहने का प्रयत्न किया जाय और नेताओं ने व्यक्तिगत स्वराज्य प्राप्त कर लिया हो तो सार्वजनिक जीवन में घड़ी के लटकन की तरह के उलटफेर प्रायः नहीं होना चाहिए।
४. 'हिन्द-स्वराज्य', पृ० ३२-३३

देश-भक्त नहीं माना जा सकता। आम तौर से जिसे घूस कहते हैं वह वे नहीं लेते-देते, इससे भले ही उन्हें ईमानदार समझा जाय; लेकिन सिफ़ारिश और उपाधियों वग़ैरा के रूप में तो निश्चय ही ख़ूब घूस देते हैं।...उनमें शुद्ध भाव और सच्ची ईमानदारी का अभाव है।"[1]

मतदाता अख़बारों से अपने विचार बनाते हैं और अख़बारों की प्रामाणिकता का प्रायः कोई ठिकाना नहीं होता। पार्लमेण्ट की तरह मतदाता भी अपने विचार पलटते रहते हैं और कभी स्थिर नहीं होते। कोई ज़बरदस्त वक्ता बड़ी-बड़ी बातें बना दे अथवा उन्हें दावतें इत्यादि दे दे तो उसीकी बड़ाई करने लगेंगे।[2]

अहिंसा और नैतिक शुद्धता के अभाव में पार्लमेण्टरी प्रणाली जनतन्त्र-वाद का उपहासमात्र है। जनता के हाथ में वास्तविक स्वराज्य के अधिकार नहीं हैं। शासकवर्ग उसका शोषण करता है। पार्लमेण्ट गांधीजी की राय में दासता की निशानी है और खर्चीला मनोरंजन है—खर्चीला क्योंकि पार्लमेण्ट बहुत समय और धन बर्बाद करती है।

पिछले कुछ वर्षों मे पश्चिम के विचारकों ने भी पार्लमेण्टरी प्रणाली के दोषों का अध्ययन किया है। निर्बलता के बहुत से स्थलों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट हुआ है— निर्वाचन-पद्धति के दोष, दलबंदी के वाद-विवाद, केन्द्रीकरण और कार्य की अधिकता के कारण राजनैतिक और आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए पार्लमेण्ट की अयोग्यता, मंत्रि-मंडल और नौकरशाही की शक्ति में वृद्धि, आर्थिक विषमता इत्यादि। गांधीजी के विचार में पश्चिम में प्रजातन्त्रवाद के सफल न होसकने का कारण इतना संस्थाओं की अपूर्णता नहीं है जितना सिद्धान्तों की अपूर्णता है, विशेषरूप से हिंसा और असत्य की उपयोगिता में विश्वास।

यदि किसी समाज ने शुद्ध अहिंसा के द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त की या जीवन के अहिंसक-मार्ग को अपना लिया तो जनतंत्रवादी राज्य के उपरोक्त दोष बहुत कम हो जायँगे। समाज में संख्या और परिमाण पर नहीं बल्कि सेवा और बलिदान में अभिव्यक्त होने वाली समता की भावना पर बहुत ज़ोर दिया जायगा। सन् १९३४ में एक वक्तव्य मे गांधीजी ने कहा था, "पश्चिम का लोकतंत्र अगर सर्वथा निष्फल नहीं हो गया है तो अग्नि-परीक्षा से तो वह गुज़र ही रहा है। क्यों न भारत लोकतंत्र

१. 'हिन्द-स्वराज्य', पृ० ३५-३६
२. 'हिन्द-स्वराज्य', पृ० ३७

के सच्चे रूप को विकसित करने का श्रेय प्राप्त करे और उसकी सफलता को प्रत्यक्ष प्रकट करे ? भ्रष्टता और दंभ लोकतंत्र के अनिवार्य-परिणाम नहीं होने चाहिये, यद्यपि आज यही बात देखने में आ रही है, न बहुसंख्यक का होना ही जनतंत्र की सच्ची कसौटी है। थोड़े आदमियों द्वारा उन सब लोगों की आशा, महत्वाकांक्षा तथा भावनाओं को प्रकट करना जिनका कि प्रतिनिधित्व करने का वह दावा करते हैं, सच्चे लोकतंत्र के विपरीत नहीं है। मेरा विश्वास है कि लोकतंत्र का विकास बल-प्रयोग से नहीं हो सकता। लोकतंत्र का सच्चा भाव बाहर से नहीं, किन्तु भीतर से उत्पन्न होता है।"[1]

निर्वाचन

गांधीजी निर्वाचन और प्रतिनिधित्व के विरोधी नहीं थे। सन् १९२५ में उन्होंने लिखा था, "स्वराज्य से मेरा अर्थ है उन वयस्क स्त्री-पुरुषों की अधिकतम संख्या की निश्चित अनुमति द्वारा भारत का शासन जो भारत में या तो उत्पन्न हों या बस गए हों, जिन्होंने शरीरश्रम द्वारा राज्य की सेवा की हो और जिन्होंने मतदाताओं की सूची में अपना नाम दर्ज करवाने का कष्ट उठाया हो।"[2] और, "यदि स्वतंत्रता का जन्म अहिंसक रीति से हुआ तो (देश के) सभी भाग एक-दूसरे पर आश्रित होंगे और उस प्रतिनिधात्मक केन्द्रीय सरकार की आधीनता में पूरे सामंजस्य के साथ काम करेंगे जिसकी सत्ता का स्रोत होगा सम्मिलित भागों का विश्वास। केन्द्रीय शक्ति सब वयस्क स्त्री-पुरुषों के मताधिकार पर आधारित होगी और इस मताधिकार का प्रयोग करने वालों से अनुशासन और राजनैतिक जानकारी होगी।"[3]

यदि गांधीजी को अपने विवेक के अनुसार संविधान बनाने की स्वतंत्रता होती तो राज्य का शासन उन थोड़े से प्रतिनिधियों के हाथ में होता जिनको जनता चुनती और हटा सकती। प्रमुख रूप से अहिंसक राज्य में प्रतिनिधियों की संख्या में कमी सुगम होगी क्योंकि आर्थिक और राजनैतिक सत्ता विकेंद्रित होगी, राज्य के कर्तव्य सीमित होंगे और नागरिकों की इच्छा के आधार पर बने समुदायों का महत्त्व उसी अनुपात में बढ़ जायगा।

गोलमेज़ कान्फ्रेंस में गांधीजी गांव पंचायतों के द्वारा प्रतिनिधियों के

---

१. 'कांग्रेस का इतिहास', पृ० ४६६।

२. यं० इं०, भा० १, पृ० ४८८-८९।

३. ह०, १३-१०-४०, पृ० ३२०।

अप्रत्यक्ष चुनाव के पक्ष में थे।[1] सन् १९४२ में भी उन्होंने इसी प्रकार की चुनाव-पद्धति का समर्थन किया था। उनके अनुसार भारत के गांवों का संगठन वहां के नागरिकों की इच्छा के अनुसार होगा और उन सबको मत देने का अधिकार होगा। यह गांव ज़िले का प्रबन्ध करनेवालों को चुनेंगे और इस चुनाव में प्रत्येक गांव का एक मत होगा। ज़िले के प्रतिनिधि प्रान्तीय प्रतिनिधियों को चुनेंगे और प्रांतीय प्रतिनिधि राष्ट्रपति का चुनाव करेंगे। राष्ट्रपति देश का मुख्य प्रशासक होगा। इस पद्धति से शक्ति का ग्राम-इकाइयों में विकेंद्रीकरण हो जायगा। इन ग्रामों में नागरिक स्वेच्छा से सहयोग करेंगे और इससे वास्तविक स्वतंत्रता उपजेगी।[2] इस अप्रत्यक्ष चुनाव को अजनतंत्रवादी समझना भूल होगी। उससे चुनावों की हिंसा, भ्रष्टता, घूसखोरी और उत्तेजना में कमी होगी और उसे विकेंद्रीकरण और राज्य के सीमित कर्तव्यों की पृष्ठभूमि में रखकर ही ठीक तरह से समझा जा सकता है। गोलमेज़ कांफ्रेंस में गांधीजी विधान-मंडल में साधारण सभा के अतिरिक्त उच्चवर्गों के प्रतिनिधियों की सभा के और विशेष प्रतिनिधित्व के विरुद्ध थे क्योंकि ये दोनों भी बातें अजनतंत्रवादी हैं।[3]

चुनाव के उम्मीदवारों को आत्मसंयमी, निःस्वार्थ, योग्य और पूरी तरह ईमानदार होना चाहिए। उन्हें उस पदलोलुपता, आत्म-विज्ञापन, विरोधियों की बुराई करने और मतदाताओं के मनोवैज्ञानिक शोषण से बचना चाहिए जो आज निर्वाचनों की विशेषताएं हैं। उम्मीदवार को वोट उसकी सेवा के फलस्वरूप मिलना चाहिए न कि प्रयत्नपूर्वक वोट मांगने से। सभी सार्वजनिक पदों को सेवा की भावना से स्वीकार करना चाहिए और उनसे व्यक्तिगत लाभ की ज़रा भी आशा नहीं होनी चाहिए। "यदि साधारण जीवन में अ २५ रु० की मासिक आय से संतुष्ट है तो उसे मंत्री बनने पर या अन्य कोई सरकारी पद ग्रहण करने पर २५० रु० की आशा करने का कोई

१. 'दि नेशन्स वाएस', पृ० १८।

२. लुई फिशर, ऊपर उद्धृत, पृ० ५५ और ८०।
सत्याग्रही राज्य में गांव का प्रबन्ध करने वाली पंचायत के ५ मेंबर होंगे जिनका चुनाव प्रतिवर्ष गांव के वयस्क नर-नारियों द्वारा होगा। पंचायत समिलित व्यस्थापिका, कार्यपालिका, और न्यायालय होगी। गांव के जनतन्त्र का आधार होगा व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य, और गांव का शासन अहिंसा के नियम के अनुसार होगा। ह०, २६-७-४०, पृ० २३८।

३. 'दि नेशन्स वाएस', पृ० १९-२०।

अधिकार नहीं है।"[1] सत्याग्रही स्वार्थ की नहीं जनहित की कामना करता है और उसे सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। उसका सरकारी पद ग्रहण करना मनुष्य जाति के प्रति प्रेम और उसकी सेवा करने की इच्छा का द्योतक है। जहां तक सत्याग्रही का संबंध है, "मनुष्यों पर सत्ता का पूर्ण रीति से मनुष्यों (की सेवा) के लिए सत्ता मे समावेश हो जाता है।"[2]

जहां तक मतदाताओं का सम्बन्ध है, गांधीजी के अनुसार, "मताधिकार के लिए आवश्यक योग्यता, संपत्ति या पद नहीं, शरीर-श्रम होना चाहिए... साक्षरता या संपत्ति की कसौटी व्यर्थ साबित हुई है। शरीर-श्रम से उन सब को अवसर मिलता है जो राज्य के हित में और शासन में भाग लेना चाहते हैं।"[3] शरीर श्रम पर आधारित मताधिकार राजनीति में शरीर-श्रम के आदर्श का—जो मनुष्यों को स्वावलम्बी और निडर बनाना चाहता है—प्रयोग है। यदि मतदाता इस आदर्श को समझ-बूझकर अपना लें तो राजनीतिज्ञ उनको अपने हाथ की कठपुतली न बना सकेंगे।[4] उसे अपनाने से जनता में सत्ता के दुरुपयोग का प्रतिरोध करने की क्षमता का विकास होगा और राज्य दो वर्गों में विभाजित होने से बच जाएगा—एक तो शोषक, अवसरवादी शासकों का

१, ह०, ३-६-३८, पृ० २६२।

आदर्शवादी दृष्टिकोण से प्रत्येक व्यक्ति को शरीरश्रम द्वारा जीविका प्राप्त कर लेना चाहिए और सार्वजनिक कर्तव्यों का पालन बिना वेतन के सेवा की भावना से करना चाहिए। किन्तु यह सुदूर भविष्य मे ही संभव हो सकता है। वर्तमान परिस्थिति मे गाधीजी इस बात के विरुद्ध थे कि सरकारी नौकरों का वेतन राष्ट्रीय आय के अनुपात की अपेक्षा अधिक हो। बुनियादी अधिकारों के बारे मे कराची कांग्रेस के प्रस्ताव के अनुसार उच्चतम सरकारी अधिकारी को ५०० रु० से अधिक वेतन नहीं मिलना चाहिए। किंतु मूल्यों मे असाधारण वृद्धि के कारण उच्चतम वेतन की यह सीमा मूल्यों मे वृद्धि के अनुपात मे अधिक बढ़ गई है। 'लंदन टाइम्स' ने एक बार पर्याप्त वेतन की परिभाषा यह की थी कि वेतन इतना पर्याप्त होना चाहिए कि किसी भी सार्वजनिक भावना रखने वाले व्यक्ति के किसी पद के स्वीकार करने में अड़चन न पड़े किन्तु दूसरी ओर वेतन इतना अधिक भी न होना चाहिए कि उसके आकर्षण से व्यक्ति सार्वजनिक जीवन में आवें। देखिए ह०, ७-८-३७।

२. डबल्यू० ई० हार्किंग, 'मैन ऐंड दि स्टेट', पृ० ३१६।

३. यं० इ०, भा० २, पृ० ४३५-३६।

४. ह०, २-१-३७, पृ० ३७३।

छोटा-सा वर्ग और दूसरा निष्क्रिय, बिना सोचे आज्ञा मानने वाले शासितों का वर्ग।

गांधीजी की राय थी कि केवल उन्हींको मतदाता बनने का अधिकार होना चाहिए जिनकी अवस्था १८ वर्ष से अधिक और ५० वर्ष से कम हो।[1] पचास वर्ष से अधिक अवस्था के व्यक्तियों के हाथ में राजनैतिक शक्ति न होगी, उनका केवल नैतिक प्रभाव होगा।

बहुमत और अल्पमत

अहिंसक क्रांति से स्थापित राज्य आध्यात्मिक जनतन्त्र होगा। इस जनतंत्र में साधारण रीति से निर्णय बहुमत द्वारा होंगे, किंतु ऐसा सब परिस्थितियों में नहीं होगा। राज्य में किसी धर्मविशेष या सांस्कृतिक समुदाय से संबन्धित मामलों में निर्णय का अधिकार उसी समुदाय को होगा। आवश्यक मामलों में अल्पमत के मतभेद की बहुमत उपेक्षा न करेगा बल्कि उसका बहुत ध्यान रखेगा। गांधीजी लिखते हैं, "अन्तरात्मा सम्बन्धी मामलों में बहुमत के नियम के लिए स्थान नहीं है।"[2] बहुमत के नियम पर सीमित रूप से व्यवहार हो सकता है, अर्थात् तफ़सीली मामलों में व्यक्ति को बहुमत की बात मानना चाहिए। किन्तु बहुमत का निर्णय चाहे जिस प्रकार हो उसे मान लेना दासता है। जनतन्त्र वह राज्य नहीं है जिसमें लोग भेड़ों की तरह कार्य करते हैं।[3] "बहुमत का यह अर्थ नहीं कि वह एक व्यक्ति की भी राय को, यदि वह ठीक है, दबा दे। एक व्यक्ति की राय को यदि वह ठीक है बहुतों की राय की अपेक्षा अधिक महत्त्व देना चाहिए। सच्चे जनतंत्र के संबंध में यह मेरा मत है।"[4]

महत्वपूर्ण सिद्धान्तों से संबंध रखने वाले प्रश्नों में भिन्न राय वाले अल्पमत को बहुमत की इच्छा को मानने को विवश करना अहिंसा के विपरीत है और सत्याग्रही अल्पमत उसका प्रतिरोध करेगा। ऐसे मामलों में बहुमत और अल्पमत के लिए एकमात्र मार्ग है समझा-बुझाकर या स्वयं कष्ट-सहन द्वारा प्रतिपक्षी के मत-परिवर्तन का प्रयत्न करना।

इस प्रकार अहिंसक जनतंत्र में बहुमत के अत्याचार के लिए स्थान न होगा। अल्पमत का सम्मान, जिस पर गांधीजी ज़ोर देते हैं, बहुमत की उदार-

---

१. ह०, २-३-४७, पृ० ४५।

२. यं० इं०, भा० १, पृ० ८६०।

३. यं० इं०, भा० १, पृ० ८६४-६५।

४. गांधीजी का २८-६-४४ का वक्तव्य।

हृदयता है।[1] दूसरी ओर अल्पमत का कर्तव्य है कि वह बहुमत के निर्णय को—जबतक वह उनकी नैतिक भावना के विरुद्ध न हो—माने, क्योंकि इसके बिना सामाजिक जीवन और सामूहिक स्वराज्य असंभव है।

गांधीजी के अनुसार राज्य का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। धर्म व्यक्तिगत मामला है। यदि किसी राज्य के सब निवासी एक ही धर्म के माननेवाले हैं तो भी राज्य को धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। सन् १९४६ में उन्होंने कहा था, "यदि मैं अधिनायक होता तो धर्म और राज्य पृथक होते। धर्म मेरे लिए सब कुछ है। मैं उसके लिए जान दे दूंगा। लेकिन वह मेरा व्यक्तिगत मामला है। राज्य का उससे कोई संबंध नहीं है।.... वह प्रत्येक का व्यक्तिगत मामला है।" राज्य के नियमों को माननेवाले नागरिक को बिना किसी रुकावट के किसी धर्म को स्वीकार करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। राज्य को किसी धार्मिक समुदाय की धन से सहायता भी नहीं करनी चाहिए। जो धार्मिक समुदाय अपने धर्म के प्रचार के लिए धन का प्रबन्ध नहीं कर सकता और राज्य का मुँह ताकता है वह सच्चे धर्म से अनभिज्ञ है। धार्मिक शिक्षा राज्य का नहीं धार्मिक समुदायों का कार्यक्षेत्र है। राज्य के स्कूलों में केवल उन्हीं नैतिक सिद्धांतों की शिक्षा होनी चाहिए जो संसार के सब प्रमुख धर्मों को सामान्य रूप से मान्य हैं।[2]

अहिंसक जनतंत्र उच्चतम प्रकार का राज्य है जिसकी मनुष्य कल्पना कर सका है। निस्संदेह इस प्रकार के राज्य की पूर्वमान्यता यह है कि मनुष्य अपने जीवन का नैतिक सिद्धान्तों के अनुसार पुनर्निर्माण करे और उसका जीवन वासना-प्रियता का नहीं समाज-सेवा का जीवन हो। अहिंसक राज्य का अस्तित्व आदर्शों की एकता की दृढ़ भावना के आधार पर ही संभव है और इस नैतिक वातावरण का विकास अहिंसक मार्ग से ही हो सकता है।

अल्पतम राज्यकार्य

राज्य साध्य नहीं एक साधनमात्र है। अहिंसक राज्य का ध्येय है सब के अधिकतम हित की साधना। इस उद्देश्य से वह व्यक्ति को विकास का अधिकतम अवसर देगा। लेकिन राज्य-हिंसा पर आधारित है, निर्धनों का शोषण करता है और नागरिकों को कार्यविशेष के लिए यदि आवश्यक हो तो बल-प्रयोग द्वारा मजबूर करके उनके व्यक्तिगत स्वशासन या स्वराज्य का

१. ह०, १–७–३६, पृ० १८५।

२ ह०, २२–६–४८, पृ० ३२१, १७–३–४७, पृ० ६३, २३–३–४७, पृ० ७६; २४–८–४७, पृ० २६२; और ३१–८–४७, पृ० २६७, ३०६।

क्षेत्र संकुचित करता है। इसलिए प्रमुख रीति से अहिंसक समाज में राज्य को कम-से-कम शासन करना चाहिए और कम-से-कम बल का प्रयोग करना चाहिए।[1] जनता के नैतिक विकास के अनुपात में उसे अपना शासन-कार्य घटाने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे अन्त में राज्य का लोप हो जाय और स्वयं-संचालित सुव्यवस्थित अराजकता की स्थापना हो जाय।

राज्य के कम-से-कम शासन करने के बारे में गांधीजी लिखते हैं, "स्वशासन (स्वराज्य) का अर्थ है सरकारी नियन्त्रण से, सरकार विदेशी हो या राष्ट्रीय, स्वतन्त्र होने का अनवरत प्रयत्न। स्वराज्य-की सरकार एक शोचनीय स्थिति होगी यदि जनता जीवन की प्रत्येक बात की व्यवस्था के लिए उसके (सरकार के) सहारे रहे।"[2] "मैं मानता हूं कि कुछ ऐसी बातें हैं जो राजनैतिक शक्ति के बिना नहीं हो सकतीं, लेकिन बहुत सी और ऐसी बातें हैं जो राजनैतिक शक्ति पर तनिक भी निर्भर नहीं हैं। इसीलिए थोरो के से विचारक ने कहा है कि, 'वह सरकार सबसे अच्छी है जो कम-से-कम शासन करती है।' इसका अर्थ है कि जब जनता का राजनैतिक शक्ति पर अधिकार हो जायगा, तो जनता की स्वतन्त्रता के साथ हस्तक्षेप कम-से-कम होगा। दूसरे शब्दों में वही राष्ट्र वास्तव में जनतन्त्रवादी है जो बिना राज्य के बहुत हस्तक्षेप के ही अपनी व्यवस्था सुचारु और कारगर रीति से कर लेता है। इस दशा की अनुपस्थिति में सरकार का रूप नाममात्र के लिए ही जनतन्त्र-वादी है।"[3]

यदि कोई राष्ट्र वीरों की अहिंसा को अपनाले और अहिंसक प्रतिरोध द्वारा अन्याय और शोषण को दूर करने की क्षमता प्राप्त कर ले तो 'कम-से-कम शासन' व्यवहार्य हो जायगा, क्योंकि स्वतन्त्रता आंतरिक नैतिक विकास के फलस्वरूप प्राप्त होगी। स्वतन्त्रता की स्थापना के पूर्व की अहिंसक क्रांति में जनता को स्वेच्छापूर्वक सहयोग करने की क्षमता प्राप्त हो जायगी और वह यह सीख लेगी कि सामाजिक जीवन का संचालन किस प्रकार स्वेच्छा पर आधारित समुदायों द्वारा हो सकता है। अहिंसक राज्य में जीवन सरल होगा शक्ति विकेन्द्रित होगी, वर्ग-संघर्ष और युद्धवाद का अभाव होगा और इसलिए आधुनिक राज्य के बहुत से कार्य अनावश्यक हो जायंगे। इसके अतिरिक्त राज्य-कार्य का औचित्य और परिमाण इस बात पर निर्भर है कि जनता अपेक्षाकृत अधिक महत्व दूसरों के आक्रमणकारी कार्यों के विरुद्ध सुरक्षा को

१. य० इं०, भा० ३, पृ० ५६० ।
२. य० इं०, भा० २, पृ० २६० ।
३. ह०, ११-१-३६, पृ० ३८० ।

अर्थात् क़ानूनों द्वारा स्थापित शान्ति और सुव्यवस्था को, देती है या कार्य करने की स्वतन्त्रता को। अहिंसक राज्य मे उपरोक्त आक्रमणकारी कार्यों की संख्या बहुत घट जायगी और जनता उनको दूर करने की अहिंसक पद्धति को अपना चुकेगी। इस कारण भी राज्य का कार्य-क्षेत्र संकुचित हो जायगा।

राज्य-कार्य क्रमशः कम हो जायगा और स्वेच्छा पर आधारित समुदायों के हाथ में आ जायगा। किन्तु गांधीजी चरमवादी नहीं थे। वह प्रत्येक मामले का निर्णय उसके गुण-दोष के अनुसार करते थे और जिस बात मे भी राज्यकार्य के जनहित में सहायक होने की सम्भावना हो वह राज्य में अविश्वास करते हुए भी उस राज्य-कार्य का स्वागत करते थे। इन कार्यों मे राज्य का ध्येय होना चाहिए जनता की सेवा। जबतक उच्च वर्गों का लोप न हो जाय राज्य को उनके हित का भी वहाँ तक ध्यान रखना चाहिए जहां तक वह हित जन-साधारण के हित से मेल खाता है और उसके विरुद्ध नहीं है। गांधीजी इस बात पर ज़ोर देते थे कि जन-विरोधी हितों मे आवश्यक परिवर्तन होना चाहिए और यदि यह असम्भव है तो उसे दबाना चाहिए।[1]

राज्य अपना कार्य कम-से-कम बल-प्रयोग द्वारा करेगा। इस अध्याय के अन्तिम भाग में इस बात का विवेचन है कि किस प्रकार अहिंसक राज्य विदेशी आक्रमण का सामना करेगा। राज्य के अन्दर बल-प्रयोग की आवश्यकता अपराधों और हिंसक दंगों के सम्बन्ध में—जिनसे समाज का अस्तित्व संकट मे पड़ जाता है—होती है।

अपराध और जेल

जैसा कि सातवें अध्याय के अन्त में बताया जा चुका है, अपराध एक प्रकार का रोग है जिसका कारण अधिकतर सामाजिक दोष हैं। वीरों की अहिंसा से सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक संस्थाओं का सुधार हो जायगा और वह न्याय, समता और भ्रातृत्व पर आधारित हो जायंगी।[2] सरकार "जनता के अधिकतम हित पर आधारित नैतिक सत्ता द्वारा शासन करेगी।"[3] सामाजिक नैतिकता के दबाव से नागरिक आज की अपेक्षा कहीं अधिक सामाजिक कर्तव्य का स्वतः पालन करेंगे। सत्याग्रही नागरिक अपराधी के प्रति अहिंसक बर्ताव करेगा अर्थात् अपने जीवन को सुधार कर अपराधी को

१. य० इं०, १७-६-१९३१।
२. ह०, २७-४ १९४०, पृ० १०८।
३. ह०, १३-७-१९४०, पृ० १९७; ११-८-४६, पृ० २५५।

सुधारेगा।[1] इस प्रकार अहिंसक राज्य में अपराध और बल प्रयोग कम हो जायँगे।

किन्तु अपराधों का लोप न होगा क्योंकि अहिंसक राज्य के नागरिक आदर्श मनुष्य न होंगे। राज्य में कुछ समाज-विरोधी मनुष्य होंगे जो आत्म-संयम की कमी के कारण हिंसा का सहारा लेंगे और क़ानूनों की अवज्ञा करेंगे। इस प्रकार क़ानून के विरुद्ध शराब बनाने का हवाला देते हुए गांधीजी ने एक बार लिखा था, "कुछ-कुछ तो वह शायद अन्तिम दिन तक उसी प्रकार चलता रहेगा जैसे चोरी।"[2] जब अहिंसक राज्य की स्थापना होगी तब संभव है कि कुछ हिंसक संगठन अहिंसक सरकार के विनाश का प्रयत्न करें। गांधीजी के अनुसार "कोई भी सरकार बिना सार्वजनिक शान्ति को संकट में डाले गैर-सरकारी सैनिक संगठनों को कार्य करने की आज्ञा नहीं दे सकती।"[3] सत्याग्रही राज्य अपराधों को सहन न करेगा और न नागरिकों की स्वतन्त्रता को अपराधयुक्त स्वच्छन्दता में परिणत होने की आज्ञा देगा। अपराधों की उपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि वह वातावरण को हिंसक बनाते हैं और सुव्यवस्थित समाज के विनाशक हैं और "कोई भी सरकार जो सरकार कहलाने के योग्य है विशृङ्खलता को सहन न करेगी।"[4]

व्यक्तिगत रूप से गांधीजी हिंसा करनेवालों को भी दंड देने के लिए जेल में रखने में विश्वास नहीं करते थे।[5] वास्तव में वह व्यक्तिगत या सार्वजनिक अपराधों के लिए दंड-प्रथा में विश्वास नहीं करते थे।[6] यदि व्यवस्था उनके हाथों में छोड़ दी जाती तो वह जेलों के दरवाज़े खोल देते और हत्या करनेवालों को भी छोड़ देते।[7] लेकिन समाज की वर्तमान परिस्थिति में यह अव्यवहार्य आदर्श है। इसीलिये सन् १९३७ में गांधीजी ने लिखा था, "व्यक्तिगत रूप से मुझे सभी अपराध के मामलों में जिनकी हम कल्पना कर सकते हैं, दंड और दंड-सम्बन्धी रुकावटों से बचने का कोई मार्ग नहीं मिला

---

१. ऊपर अध्याय ७ का अन्तिम भाग देखिए।

२. ह०, ३१-७-३७, पृ० ८६

३. ह०, १३-४-४०, पृ० ८६।

४. ह०, ९-३-४०, पृ० ३१।

५. गांधी-अर्विन समझौते के बाद गांधीजी का वक्तव्य, 'हिस्ट्री ऑव दि कांग्रेस', पृ० ७५३।

६. ह०, ४-९-३७, पृ० २३३।

७. डी० जी० तेंदुलकर आदि, 'गांधीजी, हिज़ लाइफ़ ऐंड वर्क', पृ० ३८१।

है।" लेकिन उनके अनुसार दंड चालू रहेगा यद्यपि वह अहिंसक होगा।[1] अहिंसक राज्य में अपराध तो होंगे, किन्तु किसी को अपराधी न माना जायगा क्योंकि मनुष्य सभी अपराधों को, हत्या को भी, एक प्रकार का रोग समझकर व्यवहार करेंगे।[2]

सत्याग्रही राज्य अपराधियों के प्रति कम-से-कम बल का प्रयोग करेगा। राज्य का उद्देश्य अपराधी से बदला लेना या दंड के डर से अपराधों को रोकना नहीं होगा। यह दोनों उद्देश्य, जैसा कि बारबार जेल जाने वाले अपराधियों की बड़ी संख्या से सिद्ध होता है, अपराधी की सामाजिक-वृत्ति को कुंठित करते हैं और समाज और अपराधी दोनों के लिए हानिकर हैं। सत्याग्रही राज्य में दंड का उद्देश्य होगा अपराधी का सुधार। अहिंसक दंड-विधि में अपराधी को आजकल की तरह डराने-धमकाने, अपमानित करने और यंत्रणा देने का स्थान न होगा। प्रकट है कि मृत्यु-दंड का जो अहिंसा के विपरीत है अन्त हो जायगा। अहिंसक राज्य में मनुष्य-हत्या करने वाला अपराधी सुधार-गृह में भेज दिया जायगा और वहां उसे अपने को सुधारने का अवसर मिलेगा।[3] गांधीजी के अनुसार मृत्यु-दण्ड और दूसरे प्रकार के दण्डों में परिमाणात्मक ही नहीं गुणात्मक भेद भी है। अन्य प्रकार के दण्ड रद्द किये जा सकते हैं और उस व्यक्ति को जिसको अनुचित दण्ड दिया गया है हर्जाना दिया जा सकता है। "किन्तु एक बार मनुष्य के मारे जाने पर दण्ड न तो रद्द किया जा सकता है न उसके लिये हर्जाना दिया जा सकता है।"[4]

सम्भवतः गांधीजी इस बात के पक्ष में थे कि अपराधी के सुधार के लिए सभी अहिंसक मार्गों का उपयोग किया जाय। उदाहरण के लिए, अपराधियों की मनोविज्ञान-विशेषज्ञों के द्वारा परीक्षा और चिकित्सा होनी चाहिए; उन्हें उचित रीति से शिक्षा देनी चाहिए और इस शिक्षा में किसी उत्पादक दस्तकारी की शिक्षा भी सम्मिलित होनी चाहिये; अपराधी को अफ़सरों की देखरेख में आज़माइशी रिहाई देने की विधि का प्रयोग होना चाहिए; अपराधियों की शिकायतों को दूर करने की व्यवस्था होनी चाहिए; और अपराधियों को जनतन्त्रवादी रीति से यथासम्भव स्वयं अपना प्रबन्ध

१. ह०, २३-१०-३३, पृ० ३०८।
२. ह०, ५-५-४६, पृ० १८४।
३. ह०, २७-४-४०, पृ० १०१।
४. यं० इ०, भा० २, पृ० ८६२।

करने का अवसर देना चाहिए। किन्तु गांधीजी के अनुसार जेलों को और क़ैद रखने की प्रथा को चालू रखना चाहिए।[1]

सन् १९३७ ई० में जब कांग्रेस ने पहिली बार प्रांतों में शासन का भार सम्भाला तब गांधीजी का यह सुझाव था कि जेलों को सुधार-गृह और कारख़ानों में परिवर्तित कर दिया जाय। वह दण्ड देने का स्थान और व्यय की मद न रह कर सुधार-गृह और स्वावलम्बी हो जायं। जेलों के सुधार के लिए गांधीजी ने सन् १९२२ में, जब वह क़ैदी थे, एक योजना बनाई थी। योजना यह थी कि 'वह धन्धे जिनसे आय नहीं होती बन्द कर दिए जायं। सभी जेलें कताई-बुनाई की संस्थाएं बन जाएं। उनमें (जहां सम्भव हो) कपास पैदा करने से लेकर अच्छे-से-अच्छा कपड़ा बनाने तक का सब काम हो...क़ैदियों के साथ घृणा के योग्य अपराधियों की तरह नहीं, दोष-युक्त व्यक्तियों की तरह बर्ताव हो। वार्डर क़ैदियों के लिए आतंक का कारण न हों; बल्कि जेल के अफ़सर उनके मित्र और शिक्षक हों। एक अनिवार्य शर्त यह है कि राज्य जेल में उत्पन्न सब खादी लागत मूल्य पर ख़रीद ले। यदि इससे अधिक खादी हो तो जनता उसे थोड़े से अधिक मूल्य पर ख़रीद सके जिसमें एक बिक्री-गोदाम चलाने का व्यय निकल आए।'[2] गांधीजी को विश्वास था यदि उनके सुझावों के अनुसार काम हो तो जेलख़ाने गांवों से सम्बन्धित हो जायं उनके द्वारा गांवों में खादी का सन्देश पहुंचे और छूटे हुए कैदी राज्य के आदर्श नागरिक बन जायं।[3]

खादी के साथ गांधीजी दूसरे धन्धे भी रखते। गांधीजी इतना तफ़सील की बातों पर ज़ोर नहीं देते जितना इस सिद्धान्त पर कि जेलख़ानों को समाज द्वारा अपराधियों से बदला लेने के साधन नहीं मानना चाहिए क्योंकि यह बात तो स्वयं समाज की रोगावस्था का चिन्ह है। जेलख़ानों को सुधार-गृह, अस्पताल और स्कूल का मिश्रण समझना चाहिए और उनका उद्देश्य होना चाहिए दोष-युक्त व्यक्तियों को अहिंसक जीवन-मार्ग की शिक्षा देना।[4]

गांधीजी यह मानते हैं कि क़ैद करना एक प्रकार का दण्ड है, बल-प्रयोग है और शुद्ध अहिंसा के विरुद्ध है।[5] अहिंसक जेल या अहिंसक क़ैद में उसी प्रकार का आन्तरिक विरोध है जैसे अहिंसक राज्य में। किंतु जेलख़ाना

१ यं० इं०, भा० १, पृ० १११८ और ११२२।
२. ह०, १७-७-३७, पृ० १८०
३. ह०, ३१-७-३७, पृ० १९८; २-११-४७, पृ० ३९५-९६।
४. ह०, ८-१-३८, पृ० ४११, महादेव देसाई का लेख 'नो काम्प्रोमाइज़'।
५. यं० इ०, भा० २, पृ० ८६२।

राज्य और समाज के अनुकूल होगा और उसका उद्देश्य होगा बल-प्रयोग को अधिक-से-अधिक घटा देना।

अहिंसक राज्य में आंतरिक दंगों की संख्या में भी बहुत कमी होगी। समुदायों में पारस्परिक संघर्षों के अवसर बहुत ही कम होंगे। इसके अतिरिक्त जनता दंगों मे अहिंसक रूप से निपटाने की क्षमता प्राप्त कर चुकेगी। गांधीजी लिखते हैं, "जबतक हम शुद्ध अहिंसा से ओत-प्रोत नहीं है, हम सम्भवतः अहिंसा द्वारा स्वराज्य नहीं प्राप्त कर सकते। हम तभी (अहिंसक रीति से) सत्ता प्राप्त कर सकते हैं जब हमारा बहुमत हो, या दूसरे शब्दों में, जब जनता का विशाल बहुमत अहिंसा के नियम के अनुसार चलने को राज़ी हो। जब यह शुभ परिस्थिति आ जायगी तब हिंसा की भावना का लगभग लोप हो चुकेगा और आंतरिक अशान्ति पर नियंत्रण हो चुकेगा।" इस प्रकार अहिंसक राज्य में साम्प्रदायिक दंगों की और मज़दूरों-सम्बन्धी चिन्ताजनक अशान्ति की बहुत ही कम सम्भावना होगी, क्योंकि अहिंसक बहुमत का प्रभाव इतना अधिक होगा कि उसको समाज के प्रमुख अंशों का सम्मान प्राप्त होगा।[१]

पुलिस और फ़ौज

गांधीजी यह मानते हैं कि अहिंसक राज्य में भी पुलिस आवश्यक होगी।[२] लेकिन वह पुलिस के वर्तमान हिंसक तरीकों को सुधार कर उसमें आमूल परिवर्तन करना चाहते हैं। वह सत्याग्रही राज्य के पुलिस के सिपाही में शांति-सेवा के स्वयं-सेवकों की सी योग्यता चाहते हैं। वह लिखते हैं, "किन्तु मेरी धारणा की पुलिस आज की पुलिस से नितान्त भिन्न प्रकार की होगी। उसके सदस्य अहिंसा में विश्वास करने वाले होंगे। वह जनता के स्वामी नहीं सेवक होंगे। जनता की स्वाभाविक प्रवृत्ति उनको प्रत्येक प्रकार की सहायता देने की होगी और पारस्परिक सहयोग द्वारा वह सुगमता से दंगों की—जिनकी संख्या लगातार घटती रहेगी—व्यवस्था कर सकेंगे। पुलिस के पास हथियार होंगे, किन्तु उनका प्रयोग यदि कभी हुआ भी तो बहुत कम होगा। वास्तव में पुलिस के सिपाही सुधारक होंगे। और उनका पुलिस सम्बन्धी कार्य लुटेरों और डाकुओं तक सीमित होगा।"[३]

---

१. ह०, १-६-४०, पृ० २६२।

२. य० इ०, भा० १, पृ० २८४, ६४१ और १०८६; ह० १०-२-४०, पृ० ४४१ और ६-३-४०, पृ० ३१।

३. ह०, १-६-४०, पृ० २६५। किशोरलाल मश्रुवाला के अनुसार "अपराधो

अहिंसक राज्य के नागरिक उचित आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति का उपयोग ट्रस्टी की भांति करेंगे। निजी सम्पत्ति के अधिकार के अभाव के कारण लुटेरों और डाकुओं की संख्या में बहुत कमी हो जायगी।

गांधीजी पुलिस को हथियार रखने की आज्ञा देते हैं, क्योंकि उनका एक कर्तव्य होगा अपराध करनेवालों को जेलखानो मे अहिंसक इलाज के लिए गिरफ़्तार करना। पुलिस कुछ दोष-युक्त मनुष्यों को, उदाहरण के लिए हत्या करने पर तुले हुए पागल को, नियंत्रण में रखने के लिए शरीर-शक्ति का प्रयोग भी करेगी। इसी प्रकार गांधीजी अपराधों को रोकने के लिए अश्रु-गैस सरीखे आधुनिक उपकरणों के उपयोग के पक्ष में हैं।[1]

पिछले युद्ध से पहिले प्रांतों मे कांग्रेस सरकारों ने साम्प्रदायिक दंगों और मज़दूरों से सम्बन्धित अशांति को दबाने में शान्तिमय साधनों तक सीमित न रहकर पुलिस और फ़ौज का भी प्रयोग किया था। गांधीजी ने इसे अनुचित बताया था और लिखा था, "जहाँ तक कांग्रेस-मन्त्रिमण्डलों को पुलिस और फ़ौज का प्रयोग करने के लिये विवश होना पड़ा उसी परिमाण मे मेरी राय में हमे अपनी असफलता स्वीकार करना चाहिए।"[2] वह पुलिस के नहीं उसके आधुनिक रूप के और नितांत हिंसक तरीक़ों के विरुद्ध थे। आज की पुलिस के बिना काम न चला सकना अहिंसक साधनों द्वारा शक्ति पर अधिकार रखने की क्षमता के अभाव का सूचक है।

जहाँ तक फ़ौज का सम्बन्ध है सन् १९३७ से पूर्व वह फ़ौज रखने के लिये तैयार थे[3]। किन्तु जब प्रान्तो में कांग्रेस-मन्त्रिमण्डलों का शासन था तब

को रोकना पुलिस का वास्तविक कर्तव्य होना चाहिए। आजकल व्यावहारिक रूप मे यह कर्तव्य है अपराधियों की देख-भाल करना और अपराध होने के बाद उनको खोजना और गिरफ्तार करना।" देखिए मश्रुवाला, 'प्रैक्टिकल नान्वायोलेन्स', पृ० २१।

१. ह० ९-३-४०, पृ० ३१।

२. ह० १३-७-४०, पृ० १९७।

३. य० इं०, भा० १, पृ० ६४१ और १०८६ और य० इं०, भा० २, पृ० ९२४। गांधी-अर्विन संधि के दूसरे दिन उन्होंने पत्रकारों के साथ मुलाक़ात में इस प्रश्न के जवाब मे कि क्या वह इस बात की सम्भावना देखते थे कि जब 'पूर्ण-स्वराज्य' मिल जाय तो राष्ट्रीय-सेना हटा ली जायगी, उन्होंने कहा था, "स्वप्नदृष्टा के तौर पर उत्तर है, हां। लेकिन मेरा विचार है मेरे जीवन-काल में मेरे लिये ऐसा देख सकना सम्भव न होगा। बिल्कुल सेना न रखने की स्थिति तक पहुँचने के लिये भारतीय राष्ट्र को कई युग

उन्होंने आन्तरिक शांति की और नागरिकता के अधिकारों की रक्षा के लिये फ़ौज के प्रयोग को अनुचित ठहराया था।[1] उन दिनों और पिछले युद्ध के समय वह विदेशी आक्रमण से बचाव के साधन के रूप में फ़ौज के निश्चित रूप से विरुद्ध थे।

नवम्बर १९४६ में बिहार के साम्प्रदायिक दंगे के दिनों में पं० जवाहरलाल नेहरू ने एक वक्तव्य में कहा था कि सरकार साम्प्रदायिक बर्बरता को दबाने के लिए यदि आवश्यकता हुई तो हवाई जहाज़ों से बम भी गिराएगी। लेकिन गांधीजी के अनुसार यह दंगों के दबाने का अंग्रेज़ी तरीका था जिसका उपयोग देश की स्वतन्त्रता के लिए विनाशक होगा। सन् १९४६ में उन्होंने लिखा था, "सच्चे जनतन्त्र को किसी भी प्रयोजन के लिए सेना पर आश्रित नहीं रहना चाहिए। सैनिक सहायता पर निर्भर रहने वाला राज्य नाममात्र का जनतन्त्र हो जायगा। सैनिक शक्ति मस्तिष्क के स्वतन्त्र विकास में बाधा डालती है। वह मनुष्य की आत्मा का विनाश करती है।"[2] ४ दिसम्बर सन् १९४७ के प्रार्थना-प्रवचन में उन्होंने कहा था, "मुझे विश्वास है कि अगर हिन्दुस्तान ने अपनी अहिंसक शक्ति नहीं बढ़ाई तो न तो उसने अपने लिए कुछ पाया और न दुनिया के लिए। हिन्दुस्तान का फ़ौजीकरण होगा तो वह बरबाद होगा और दुनिया भी बरबाद होगी"।[3] गांधीजी सदा, राष्ट्रीय सरकार के शासन में भी, अनिवार्य सैनिक शिक्षा के विरुद्ध थे।[4] उनका मत था कि अहिंसक राज्य के प्रत्येक गांव को आत्म-रक्षा के बारे में स्वावलम्बी होना चाहिए। "मेरी धारणा की प्रत्येक ग्राम इकाई को उतना ही शक्तिशाली होना

लग सकते हैं। सम्भव है कि मेरी श्रद्धा की कमी मेरी इस निराशावादिता का कारण हो। लेकिन मैं इस सम्भावना का निराकरण नहीं करता। वर्तमान सामूहिक जागृति की और अहिंसा पर लोगों के दृढ़ता से क़ायम रहने की—अपवादों को छोड़ दीजिये—किसे आशा थी और इस बात से मुझे निश्चित रूप से कुछ आशा होती है कि निकट भविष्य में भारतीय नेता साहस के साथ यह कह सकेंगे कि अब उन्हें किसी सेना की आवश्यकता नहीं। असैनिक (आंतरिक) कार्यों के लिये पुलिस पर्याप्त समझी जानी चाहिये।" 'हिस्ट्री ऑव दि कांग्रेस', पृ० ७६२, 'कांग्रेस का इतिहास', पृ० ३६१।

१. ह०, २३-१०-३७, पृ० ३०८, 'सिविल लिबर्टीज़', शीर्षक लेख।

२. ह०, ६-६-४६, पृ० १७६।

३. 'प्रार्थना प्रवचन', दूसरा खण्ड, पृ० १६७।

४. यं० इं०, २४-६-२५।

चाहिए जितना कि अधिकतम शक्तिशाली।"[1]

पुलिस और फ़ौज आधुनिक जनतंत्र में क़ानून के आवश्यक अङ्ग माने जाते हैं। गांधीजी सत्याग्रही राज्य में क़ानून के इन अङ्गों के काट देने के पक्ष में थे। वह विशेषरूप से फ़ौज के विरुद्ध थे। यद्यपि पुलिस रहेगी पर उसमें क्रांतिकारी परिवर्तन हो जायगा। यद्यपि गांधीजी बल-प्रयोग के लिये कुछ परिस्थितियों में छूट देते थे, यह याद रखना चाहिए कि बल-प्रयोग का स्थान पृष्ठभूमि है; उसका प्रयोग तभी होगा जब अहिंसक साधनों का उपयोग नहीं हो सकता। इस प्रकार गांधीजी अपराध और अशांति की हिंसा की अपेक्षा सुधारक-दण्ड की हिंसा को कम हानिकर समझते थे। दण्ड के रूप में बल-प्रयोग अहिंसा की अपूर्णता का नहीं मानवी अपूर्णता का चिन्ह है। पूर्ण रूप से अहिंसक मनुष्य अपनी उच्च नैतिकता के कारण हिंसा का प्रयोग न करेगा और हिंसा उसके लिये बेकार हो जायगी। उसकी अहिंसा सभी परिस्थितियों में पर्याप्त होगी।[2] गांधीजी अल्पतम अहिंसा की छूट तो देते थे, किन्तु आदर्शवादी होने के नाते वह अनुरोधपूर्वक कहते थे कि "बल-प्रयोग किसी भी परिमाण में और किसी भी परिस्थिति में अनुचित है।"[3]

न्याय

राज्य न्याय सम्बन्धी कार्य भी करेगा। गांधीजी के अनुसार यथासम्भव यह कार्य पंचायतों के—जिनके सदस्यों की नियुक्ति साधारण रीति से किसी मामले से सम्बन्धित दोनों पक्ष करते हैं—हाथ में दे देना चाहिये। गांधीजी दक्षिण अफ्रीका में और भारत में वकालत कर चुके थे और उनको आधुनिक न्याय-पद्धति का और उसके दोषों का व्यक्तिगत अनुभव था। वह इस पद्धति के और वकीलों और जजों के कठोर आलोचक थे। वकील और जज "चचेरे भाई हैं" और उनकी वकीलों की बहुत कुछ आलोचना जजों पर भी लागू है।[3] "वकीलों का धंधा ऐसा है जो उन्हें अनीति सिखलाता है ... वकील तो आम तौर पर झगड़ों को दबाने के बजाय और बढ़ाने की सलाह देंगे ... वकीलों का स्वार्थ झगड़े बढ़ाने में ही है।"[4] उनके अनुसार वकीलों को साधारण मज़दूरों से अधिक मेहनताना नहीं मिलना चाहिए। सन् १९०८ में उन्होंने बताया था कि वकील भारत को एक और बहुत बड़ी हानि पहुँचा रहे हैं। "हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों के बारे में जिन्हें थोड़ी-बहुत जानकारी है वे इस

१. ह०, ४-८-४६, २५२।
२. ह०, ६-३-४०, पृ० ३१
३. 'हिन्द-स्वराज्य' (अं), पृ० ४८।
४. 'हिन्द-स्वराज्य', पृ० ८८।

बात को जानते हैं कि वे अक्सर वकीलों के हस्तक्षेप के कारण ही हुए हैं।"[१] उनका सबसे बड़ा अपराध यह था कि उन्होंने देश को अंग्रेज़ों के बन्धन में जकड़ दिया था। बिना वकीलों के न तो अदालतें क़ायम हो सकती थीं और न वे चल सकती थीं और न बिना अदालतों के अंग्रेज़ राज्य कर सकते थे।[२]

जहाँ तक अदालतों का सम्बन्ध है उनका मत है कि यह समझना भूल है कि अदालतें लोगों की भलाई के लिये क़ायम की गई थीं। "जिन्हें अपनी सत्ता क़ायम रखनी हो वे अदालतों की मार्फ़त ही तो लोगों को अपने बस में करते हैं। अगर लोग आपस में ही निपटलें तो तीसरा आदमी उन पर अपनी सत्ता क़ायम नहीं कर सकता।"[३] इस प्रकार अदालतों का उद्देश्य है उस सरकार की—जिसकी वे प्रतिनिधि हैं—सत्ता को स्थायित्व देना।[४] इसके अतिरिक्त, "यह कौन कह सकता है कि तीसरे आदमी का फ़ैसला हमेशा ठीक ही होता है। सच्ची बात क्या है यह तो दोनों पक्षवाले ही जानते हैं। यह तो हमारा भोलापन और अज्ञान है जो हम यह मान लेते हैं कि हमारे पैसे लेकर यह तीसरा आदमी हमारा इन्साफ़ करता है।"[५] जहाँ तक अदालतों ने अनैतिक (विदेशी) सरकार की सत्ता को दृढ़ किया, उन्हें राष्ट्र की स्वतंत्रता का साधन नहीं, वरन् राष्ट्रीय-भावना के दमन का साधन कहना अधिक उपयुक्त होगा।[६]

गांधीजी की यह आलोचना बहुत-कुछ प्रत्येक आधुनिक राज्य की न्याय-पद्धति पर लागू है। व्यावहारिक दृष्टि से प्रायः सभी देशों में मुक़दमेबाज़ी की लम्बी देर और अनिश्चितता उसे एक प्रकार का जुआ बना देती है। प्रायः सभी देशों में वकील की क्षमता का मापदण्ड है जज को भ्रम में डाल देना, विवाद-ग्रस्त विषय को विकृत कर देना, अर्थात् अपने मवक्किल के लाभ के लिये ग़लत तर्क को ठीक सिद्ध कर देना। प्रायः सभी देशों में न्याय-पद्धति निर्धनों के विरुद्ध धनिकों का, जनता के विरुद्ध शासक वर्गों का, पक्षपात करती है। पद्धति सत्य के प्रति आदर घटा देती है और लोगों को मुक़दमा न हारने

१. 'हिन्द-स्वराज्य', पृ० ६०।
२. 'हिन्द-स्वराज्य', पृ० ६०; 'हिन्द-स्वराज्य' (अं) पृ० ४२।
३. 'हिन्द-स्वराज्य', पृ० ६१।
४. य० इं०, भा० १, पृ० ३५१, एच० जे० लैस्की के इसी प्रकार के मत के लिये देखिये 'दि डेन्जर्स ऑव बीइंग ए जेन्टिलमैन' में 'जूडीशल फंक्शन' शीर्षक लेख।
५. 'हिन्द-स्वराज्य' पृ० ६१-६२।
६. यं० इं०, भा० १, पृ० ३५०।

के उद्देश्य से शपथ लेकर भी असत्य-भाषण का प्रलोभन देती है।

गांधीजी के अनुसार न्याय-व्यवस्था सस्ती होनी चाहिए। अधिकतर मुक़दमों में दोनों पक्षों को अपना झगड़ा पंचायत के हवाले करने को विवश करना चाहिए, और पंचायत का निर्णय, जबतक उसमें भ्रष्टता या क़ानून का दुरुपयोग न हो, अन्तिम होना चाहिए। अपील कई बार नहीं होनी चाहिए। नज़ीरों को महत्त्व नहीं देना चाहिए और अदालतों की साधारण कार्य-प्रणाली को सुगम बना देना चाहिए।[1] वकीलों का "कर्तव्य है फ़रीक़ैन में पड़ी खाई को पाट देना।"[2] आदर्शवादी दृष्टिकोण से वकीलों को अपनी जीविका के लिए किसी प्रकार के शरीर-श्रम पर अवलम्बित रहना चाहिए और जनता की मुफ़्त सेवा करना चाहिए। यदि पारिश्रमिक लेना भी हो तो शिक्षक, डाक्टर, वकील, व्यवसायी, भंगी आदि सबके एक दिन के ईमानदारी के साथ किये गए कार्य का पारिश्रमिक बराबर ही होना चाहिए।[3]

इस प्रकार गांधीजी राज्य के न्याय-सम्बन्धी कार्य में अधिक-से-अधिक कमी कर देंगे। अहिंसक राज्य में अपराधों और दंगों की संख्या बहुत घट जायगी। नागरिक प्रायः अदालतों में न जाकर अपने झगड़े पारस्परिक समझौतों द्वारा या ग़ैरसरकारी पंचायतों द्वारा निपटा लेंगे। उन थोड़े से मुक़दमों में जो राज्य की अदालतों में आवेंगे न्याय सस्ता होगा और दक्षता और शीघ्रता से होगा।

सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था

अहिंसक राज्य जनता की आर्थिक स्थिति को इसलिए समान बनाने का प्रयत्न करेगा जिससे सामाजिक न्याय और आर्थिक स्वतन्त्रता स्थापित हो जायं। राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में गांधीजी के विचारों को समझने के लिए अहिंसक राज्य की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का संक्षिप्त वर्णन अनुपयुक्त न होगा।

इस क्षेत्र में अहिंसक राज्य का साध्य होगा नागरिकों की नैतिक क्षमता के अनुसार राज्यरहित समाज की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था और उनके आधारभूत मूल्यों की ओर अग्रसर होना और उनको अपनाने का प्रयत्न करना। अहिंसक राज्य की स्थापना के पहिले ही सामाजिक समता की स्थापना हो जायगी, अस्पृश्यता का और जाति की रूढ़ियों का लोप हो

---

१. य० इ०, भा० २, पृ० ४३६।

२. 'आत्म-कथा', भा० २, अ० १४, पृ० १४६।

३. ह०, १६-३-४७, पृ० ६७; २३-३-४७, पृ० ७८।

जायगा, आर्थिक जीवन में सादगी आ चुकी होगी और घरेलू धन्धे प्रमुख रीति से आर्थिक जीवन का आधार होंगे।

सामाजिक जीवन में वर्गहीन समाज की संशोधित वर्ण-व्यवस्था से अहिंसक राज्य की एक भिन्नता यह होगी कि मनुष्य अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त शारीरिक श्रम करने के अतिरिक्त शारीरिक और बौद्धिक श्रम से कमा सकेंगे। अहिंसक राज्य में शरीर-श्रम के नियम का आंशिक पालन कठिन न होगा, क्योंकि मनुष्य सादगी के जीवन को अपना चुके होंगे। वह अहिंसक प्रतिरोध-पद्धति के प्रयोग मे दक्ष होंगे, और इसलिए वर्तमान आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति केवल ट्रस्टी या संरक्षक की तरह ही रखी जा सकेगी। गांधीजी के शब्दों में, "प्राकृतिक रीति से, कुछ व्यक्तियों में अधिक कमाने की योग्यता होगी, कुछ में कम...ऐसे व्यक्ति (जो अधिक कमाते हैं) ट्रस्टी की तरह रहेंगे। किसी भी दूसरी शर्त पर मैं बुद्धिमान को अधिक न कमाने दूंगा। मैं उनकी बुद्धि पर रुकावटें न लगाऊंगा, लेकिन (आवश्यकता से) अधिक कमाई के अधिकांश का उपयोग राज्य के हित के लिए करना होगा।" ट्रस्टीपन के सिद्धान्त का अर्थ यह है कि मनुष्य संपत्ति का उत्तर-दायित्व-विहीन स्वामी नहीं है, बल्कि उसे अपनी संपत्ति और शारीरिक और मानसिक शक्ति का उपयोग जन-हित के लिए करना चाहिए। यह सिद्धान्त इस विश्वास पर आधारित है कि मनुष्य स्वभाव से अच्छा और ऊर्ध्वगामी है। ट्रस्टीशिप का सिद्धांत शोषण के अन्त करने के अहिंसक उपायों में से एक है। यह सिद्धांत आवश्यकता के अनुसार न्यायपूर्ण क़ानून बनाकर शोषण दूर करने के विरुद्ध नहीं है। गांधीजी का मत था कि राज्य को धनिकों पर भारी कर लगाना चाहिए। ट्रस्टी का उत्तराधिकारी नियुक्त करने मे ट्रस्टी और राज्य दोनों का हाथ रहना चाहिए। अधिक कमाने वालों से ट्रस्टी का सा बर्ताव कराने के लिए गांधीजी केवल समझाने-बुझाने पर ही निर्भर न रहते। वह अहिंसक असहयोग का भी प्रयोग करने के पक्ष में थे। "कोई भी व्यक्ति बिना सम्बन्धित व्यक्तियों के स्वेच्छा से दिये गए या बलपूर्वक लिए गए सहयोग के धन संचित नहीं कर सकता।"[१] यहाँ यह याद रखना चाहिए कि "निरपेक्ष ट्रस्टीपन यूक्लिड के बिन्दु की परिभाषा की तरह कल्पनात्मक है और उसी प्रकार अप्राप्य है। किन्तु यदि हम उसके लिए प्रयत्न करेंगे तो हम संसार में समता की स्थिति को स्थापित करने में किसी दूसरे मार्ग की अपेक्षा अधिक आगे बढ़ सकेंगे।"[२]

---

१ यं० इ०, २६-११-३१।

२. निर्मलकुमार बोस, 'स्टडीज़ इन गांधीइज़्म', पृ० २०१।

शरीर-श्रम और अपरिग्रह के आदर्शों के आंशिक पालन के कारण अहिंसक राज्य में—राज्य-रहित समाज के विपरीत जिसकी विशेषता होगी सम वितरण या अपरिग्रह की समता—धन का वितरण न्याययुक्त (किन्तु असम) होगा। दूसरे शब्दों में, व्यक्तियों की धन कमाने की योग्यता में भेद होने के कारण उनकी आर्थिक अवस्था में भी असमता होगी। किन्तु यह असमता उचित सीमा के अन्दर रहेगी, क्योंकि यद्यपि मनुष्य अपनी योग्यता के अनुसार कमाते रहेंगे, पर आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति का उपयोग समाज के हित के लिए होगा।

उत्पादन के क्षेत्र में अहिंसक राज्य और राज्य-रहित समाज में यह अन्तर होगा कि अहिंसक राज्य में आवश्यक केन्द्रित उत्पादन और भारी यातायात के साधन चालू रहेंगे। यद्यपि अहिंसा का विकास केवल घरेलू उद्योगों और स्वावलम्बी गाँवों के आधार पर हो सकता है, गांधीजी प्रमुख ध्यान मनुष्य को देते हैं।[1] वह विकासगति को जबरदस्ती तेज़ करने में विश्वास नहीं करते। केन्द्रित उत्पादन और यातायात के भारी साधन नैतिक जीवन के सहायक नहीं हैं, उसमें रुकावटें डालते हैं। किन्तु गांधीजी इस बात को जानते थे कि लोगों को यातायात के आधुनिक साधनों को और सार्वजनिक उपयोगिता के ऐसे कार्य के लिए, जो मनुष्य के श्रम द्वारा नहीं हो सकते, भारी मशीनों को छोड़ देने में कठिनता मालूम होती है। इसलिए यदि मनुष्य "उद्योगीकरण से बचना सीख सकें" तो गांधीजी को भाप और बिजली के प्रयोग में कोई आपत्ति न होगी।[2] "उद्योगीकरण" से गांधीजी का अर्थ है केन्द्रित उत्पादन और मुनाफ़े की भावना। इस प्रकार यद्यपि गांधीजी अल्पतम केन्द्रित उत्पादन की छूट देते हैं वह उसकी मुनाफ़े की भावना को दूर कर देते हैं।

अहिंसक राज्य में आवश्यक केन्द्रीय उत्पादन के साधनों के व्यक्तिगत संपत्ति होने में गांधीजी को कोई आपत्ति नहीं बशर्तेकि पूँजीपति मज़दूरों को अपनी संपत्ति के हिस्सेदार बनालें और मज़दूर और पूँजीपति दोनों एक दूसरे के ट्रस्टी की तरह और उपभोक्ताओं के ट्रस्टी की तरह व्यवहार करें।[3] ऐसा न हो सकने पर वह उत्पादन के साधनों पर राज्य के स्वामित्व के पक्ष में हैं। उन्होंने सन् १९२४ में कहा था कि इन राज्य के कारख़ानों को, जिनका

१. यं० इं०, भा० २, पृ० १०२६।
२. यं० इं०, भा० २, पृ० ११८७।
३. यं० इं०, भा० ३, पृ० ७३६।

राष्ट्रीयकरण हो गया है, "अधिकतम आकर्षक और आदर्श दशा में, मुनाफ़े के लिए नहीं, मनुष्यता के हित के लिए, काम करना चाहिए। ·· उद्देश्य होना चाहिए व्यक्ति के श्रम को कम करना; और प्रेरक-हेतु लोभ नहीं मानवतावादी विचार।"[1] गांधीजी को अब यह सिद्धांत मान्य है कि राज्य के कारख़ानों के प्रबन्ध में मज़दूरों को अपने चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा भाग लेने का अधिकार होना चाहिए और सरकार और मज़दूरों के प्रतिनिधियों का प्रबन्ध में बराबर भाग होना चाहिए। किन्तु यथासम्भव गांधीजी केन्द्रित उत्पादन से और बड़ी मशीनों के प्रयोग से बचना चाहते हैं क्योंकि इनसे लाभ की अपेक्षा ख़तरा कहीं अधिक है।[2] यह भी याद रखना चाहिए कि वह खाने और कपड़े की-सी प्राथमिक आवश्यकताओं की वस्तुओं के बड़ी मशीनों द्वारा उत्पादन के भी विरुद्ध हैं। इनके उत्पादन के साधनों को जनसाधारण के नियन्त्रण में होना चाहिए और उन साधनों को उसी प्रकार सुप्राप्य होना चाहिए जिस प्रकार पानी और हवा होते हैं या उन्हें होना चाहिए।[3] इस प्रकार के उत्पादन में भी जहाँतक गाँव स्वावलम्बी होने का उद्देश्य अपने सामने रखते हैं और वस्तुओं का उपभोग के लिए उत्पादन करते हैं, न कि व्यापार के लिए, वहां तक गांधीजी को उन गांवों द्वारा ऐसी आधुनिक मशीनों और औज़ारों के उपयोग में कोई आपत्ति नहीं है जिनको वह बना सकते हैं और जिनका उपयोग करने के लिए वह काफ़ी सम्पन्न हैं।

१. यं० इं०, भा० २, पृ० ११३०।

२. गांधीजी ने सन १९३६ में लिखा था, "(भाप, बिजली इत्यादि की) शक्ति से चलने वाली मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन, जब उस पर राज्य का भी स्वामित्व होता है, किसी प्रकार लाभप्रद न होगा।" (ह०, १६-५-३६, पृ० १११) बहुत से पश्चिम के विचारक बड़ी मशीनों के ख़तरों के सम्बन्ध में गांधीजी से सहमत हैं। बड़ी मशीनों के पक्ष और विपक्ष के तर्कों के अध्ययन के बाद स्टुअर्ट चेज़ इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि मशीनों से संसार को सुख की अपेक्षा दुःख अधिक मिलता है। देखिए चेज़, 'मेन ऐंड मशीन्स', अ० १८ और १९। 'टेक्निक्स ऐंड सिविलीज़ेशन' नाम की पुस्तक में लुई ममफ़र्ड का मत है कि सामाजिक जीवन की प्रौढ़ता का फल होगा मशीनों की बेकारी और पुरानी मशीनों का स्थान लेंगी अपेक्षाकृत छोटी और तेज़ मशीनें जो खानों, युद्ध-क्षेत्र और मिलों के प्रयोजन के नहीं जीवन के विधायक वातावरण के प्रयोजन के अनुरूप होंगी।

३. यं० इं०, भा० ३, पृ० ९२४।

केवल इन उपकरणों का उपयोग दूसरों के शोषण के साधन की तरह नहीं होना चाहिए।[1] इस प्रकार वह विकेन्द्रित ग्राम-उद्योगों के उपयुक्त आधुनिक यन्त्र सम्बन्धी सुविधाओं के विरुद्ध नहीं है। उदाहरण के लिए यदि गाँव मे बिजली उपलब्ध हो और ग्राम-निवासी उसकी सहायता से अपने औज़ार चलावें, तो कोई हानि नहीं। "किन्तु उस अवस्था मे या तो ग्राम का या राज्य का बिजली-घरों पर उसी प्रकार स्वामित्व होगा जिस प्रकार चरागाहों पर होता है।"[2]

ज़मीदारी-प्रथा के बारे में गांधीजी केवल उसी अवस्था मे क़ानून द्वारा ज़मीदारी छीनने के पक्ष मे थे जब ज़मींदार किसानों के ट्रस्टी की तरह व्यवहार करने मे और अपने और किसानो के बीच असमता को दूर करने मे असफल हों। गांधीजी का यह भी विश्वास था कि "किसी भी मनुष्य के पास उससे अधिक ज़मीन नहीं होनी चाहिए जितनी उसके सम्मानपूर्ण जीवन-यापन के लिए ज़रूरी है।"[3] गांधीजी का मत था कि पशु-पालन और कृषि-कार्य व्यक्तिगत प्रयास पर नहीं सहकारी प्रयास पर आधारित होना चाहिए।[4]

संक्षेप मे गांधीजी उत्पादन के साधनों पर राज्य के स्वामित्व मे व्यक्तियों के या स्वेच्छा पर आधारित समुदायो के ग़ैरसरकारी स्वामित्व को तरजीह देते थे, बशर्ते कि व्यक्ति और समुदाय या तो स्वेच्छा से या अहिंसक असहयोग के दबाव से ट्रस्टी का-सा व्यवहार करें। इस तरजीह का कारण है यह भय कि राज्य आवश्यकता से अधिक शरीर-शक्ति का प्रयोग करेगा। किन्तु यदि उत्पादन के साधनो के ग़ैरसरकारी स्वामी ट्रस्टी की तरह बर्ताव करने मे असफल हों, तो गांधीजी आवश्यकतानुसार, संपत्ति की ज़ब्ती के साथ या उसके बिना ही, राज्य के स्वामित्व के समर्थक थे। अनिवार्य होने पर राज्य को मनुष्यों की संपत्ति को कम-से-कम शरीर-शक्ति के प्रयोग द्वारा लेना चाहिए।[5]

अहिंसक राज्य के सामाजिक-आर्थिक संगठन से प्रकट है कि इस क्षेत्र मे जनता में सामाजिक समता और आर्थिक न्याय की स्थापना मे राज्य के कार्य की क्या महत्ता होगी। राज्य घरेलू उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देगा।

१. ह०, २६-८-३६, पृ० २२६।
२. ह०, २२-६-३५, पृ० १४६।
३. ह०, १०-४-४०, पृ० ६७।
४. ह०, १५-२-४२, पृ० ३६।
५. ऊपर उद्धृत, 'स्टडीज इन गांधीइज्म', पृ० २०२।

जनहित की भावना से वह जंगलों, खनिज-पदार्थों, शक्ति-साधनों और यातायात के साधनों पर नियन्त्रण रखेगा। हो सकता है कि ज़मींदार और पूंजीपति ट्रस्टीपन के आदर्श को अपनाने में असफल रहें और जनता का स्वेच्छा पर आधारित प्रयास कारगर न हो, ऐसी हालत में राज्य ज़मींदारी की विभिन्न पद्धतियों का अन्त कर देगा और मज़दूरों के प्रतिनिधियों के साथ अनिवार्य केन्द्रित उत्पादन को नियंत्रण में रखेगा और उसका प्रबन्ध करेगा।[1] इस प्रयोजन से राज्य, यदि आवश्यक हुआ तो कम-से-कम हिंसा के प्रयोग द्वारा संपत्ति को ज़ब्त करेगा।

यद्यपि गांधीजी राज्य को संपत्ति की ज़ब्ती के द्वारा भी आर्थिक न्याय की स्थापना का कार्य सौंपने के पक्ष में थे, वास्तव में उनको राज्य-कार्य की उपयोगिता में अविश्वास था और वह ट्रस्टीपन को और ग्राम-समुदाय सरीखी छोटी इकाइयों के स्वामित्व को तरजीह देते थे। उनका यह भी विचार था कि राज्य की हिंसा की अपेक्षा ग़ैर-सरकारी स्वामित्व की हिंसा कम हानिकारक है।[2] कुछ भी हो, अहिंसक राज्य की सुदृढ़ स्थापना हो चुकने पर और सामाजिक-आर्थिक संगठन में आवश्यक परिवर्तन हो चुकने पर, आर्थिक जीवन में स्व-संचालन बढ़ता जायगा और क्रमशः राज्य-कार्य की आवश्यकता कम होती जायगी।

कर

गांधीजी कर-पद्धति में इस प्रकार सुधार कर देने के पक्ष में थे कि निर्धन मनुष्य का हित राज्य का प्राथमिक उद्देश्य हो जाय। 'सभी स्वस्थ टैक्सों को टैक्स देनेवाले के पास आवश्यक सेवाओं के रूप में दसगुना होकर लौटना चाहिए।"[3] जिनमें टैक्स देने की कम-से-कम शक्ति है उनपर टैक्स का भारी बोझ नहीं पड़ना चाहिए। और न मनुष्य की नैतिक, मानसिक और शारीरिक भ्रष्टता पर ही टैक्स लगाना चाहिए। आधुनिक राज्य के प्रतिकूल अहिंसक राज्य की आय का स्रोत दुर्गुण और अनाचार न होंगे।[4] अहिंसक राज्य में आज के चलन के प्रतिकूल घुड़-दौड़ के जुए को क़ानून की रक्षा प्राप्त न होगी और राज्य को इस आय से कोई सरोकार न होगा। इसी प्रकार गांधीजी राज्य द्वारा भ्रष्टाचार-गृहों को लाइसेंस देकर कर उगाहने के भी विरुद्ध थे।[4] जुए और अनाचार-गृहों के प्रति उचित नीति यह है कि राज्य और

१. ह०, २०-४-४०, पृ० ६७।
२. ह०, २२-६-३५, पृ० १४६; ऊपर उद्धत, 'स्टडीज़ इन गांधीइज़्म', पृ० २०२।
३. ह०, ३१-७-३७, पृ० १६६।
४. ह०, ४-८-३७ पृ० २३४।

दूसरे समुदाय जनमत को प्रचार-कार्य द्वारा शिक्षित बनाएं जिससे यह दुर्गुण दूर हो जायं ।[1]

मादक-वस्तु-निषेध

इन्हीं नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर राज्य मादक-वस्तुओं के टैक्स को बन्द कर देगा। देश के नैतिक और आर्थिक हित के उद्देश्य से मादक-वस्तु-निषेध लगभग २९ वर्ष तक गांधीजी के रचनात्मक कार्य-क्रम के मुख्य भागों में से एक था। सन् १९३७ ई० में जब कांग्रेस ने प्रांतों में शासन-भार संभाला, गांधीजी ने पूर्ण निषेध की तीन वर्ष की योजना देश के सामने रखी।[2] लेकिन दूसरी बातों की तरह यहाँ भी गांधीजी राज्य-कार्य के साथ साथ ग़ैरसरकारी प्रयत्नों पर भी ज़ोर देते थे। क़ानून द्वारा निषेध, अर्थात् शराब और अन्य मादक वस्तुओं की दुकानों को बन्द करना और इस प्रकार प्रलोभन को हटाना इस नीति का निषेधात्मक भाग था। इस नीति का विधायक भाग था राष्ट्र की एक प्रकार की प्रौढ़-शिक्षा अर्थात् ग़ैरसरकारी समुदायों द्वारा मादक वस्तुओं के व्यसन में फंसे व्यक्तियों के सुधार के उद्देश्य से सक्रिय-रूप से प्रचार। प्रचार में पूर्ण-रूप से शान्तिमय पिकेटिंग और व्यसन में पड़े हुओं से निकट का व्यक्तिगत संपर्क भी सम्मिलित हैं।[3]

पहिले कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों के समय में गांधीजी के निषेध सम्बन्धी सिद्धान्तों की कड़ी आलोचना हुई थी। यह कहा गया था कि पूर्ण निषेध अव्यवहार्य था, उससे मादक-वस्तुओं की ग़ैरक़ानूनी बिक्री और ख़रीद को प्रोत्साहन मिलेगा और सरकार की आय में बहुत कमी हो जाने के कारण शिक्षा में और दूसरे आवश्यक समाज-सेवा के कार्यों में रुकावट पड़ेगी। गांधीजी मानते थे कि कुछ लोग क़ानून के विरुद्ध मादक वस्तुओं की तैयारी में लगे रहेंगे, किन्तु इस प्रकार तो चोरियां भी होती रहेंगी। और इस कारण वह दो में से एक को भी लाइसेंस देकर क़ानूनी बनाने के विरुद्ध थे। उनके दृष्टिकोण से प्राथमिक महत्त्व धन का नहीं मनुष्य का और उसके हित का है। दूषित धन का उपयोग करने की अपेक्षा वह इसे अधिक श्रेयस्कर

१. ह०, ४-८-३७; पृ० २३४-३५।

२. भारत के विभिन्न राज्यों में कांग्रेस मंत्रि-मंडलों ने निषेध की नीति को स्वीकार किया है। बम्बई और मद्रास राज्यों में मादक-वस्तुओं के पूर्ण निषेध की नीति कार्यान्वित हो गई है। अन्य राज्यों में भी पूर्ण निषेध के शीघ्र कार्यान्वित होने की आशा है।

३. ह०, १-७-३७, पृ० १६६ और ९-१०-३७, पृ० २९१।

मानते है कि शिक्षा-व्यय में कमी कर दी जाय, शिक्षा को स्वावलंबी बनाया जाय, सब प्रकार की मितव्ययिता की जाय, सरकार की आय बढ़ाने के दूसरे साधनों का उपयोग किया जाय और अल्पकालीन कर्ज़े भी ले लिये जांय।[1] इसके अतिरिक्त आर्थिक दृष्टिकोण से भी राष्ट्र को इस नीति से हानि न होगी। क्योंकि इस अधःपतनकारी टैक्स को हटा देने से मादक वस्तुओं को प्रयोग करनेवाला, अर्थात टैक्स देनेवाला, मादक वस्तुओं पर अपव्यय करने से बचेगा, और उसकी धन कमाने और धन का सदुपयोग करने की क्षमता बढ़ेगी। इस प्रकार राष्ट्र को महान् आर्थिक लाभ होगा। इसके अतिरिक्त निषेध के नैतिक, मानसिक और शारीरिक लाभों के महत्व को धन में आंकना असंभव है।

जहाँ तक टैक्सों का संबंध है, गांधीजी रुपयों की अपेक्षा श्रम में टैक्स देने को अधिक श्रेयस्कर मानते थे। "श्रम के रूप में टैक्स देना राष्ट्र को शक्ति देता है। जहाँ मनुष्य स्वेच्छा से समाज-सेवा के लिये श्रम करते हैं, वहाँ धन-विनिमय अनावश्यक हो जाता है। टैक्स एकत्रित करने और हिसाब रखने का श्रम बच जाता है। और परिणाम बराबर ही अच्छे होते हैं।"[2] श्रम के रूप में टैक्स देने का यह भी अर्थ होता है कि टैक्स का उपयोग उसी स्थान के लिए होता है जहां से वह एकत्रित किया जाता है।

शिक्षा

राज्य का दूसरा महत्त्वपूर्ण कर्तव्य होगा शिक्षा। गांधीजी ७ से १४ वर्ष के बच्चों के लिये प्रारंभिक शिक्षा को निःशुल्क और अनिवार्य कर देना चाहते थे। सन् १९३७ मे उन्होंने प्रारभिक शिक्षा की एक नई योजना बनाई थी। इस योजना का स्रोत अहिंसा है, उसका उद्देश्य है बच्चों को अहिंसात्मक मूल्यों की शिक्षा देना और वह उस अहिंसक जनतंत्रवादी संस्कृति का—जिसको विकसित करने का गांधीजी निरंतर प्रयास कर रहे थे—आवश्यक अंग है।

नई योजना की केन्द्रीय विशेषता है बच्चे को किसी उपयोगी उत्पादक दस्तकारी द्वारा शिक्षा और यह शरीर-श्रम के आदर्श का शिक्षा मे प्रयोग है। शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा होना चाहिये। प्रांतीय भाषा के अतिरिक्त विद्यार्थी को राष्ट्रीय भाषा की शिक्षा भी मिलनी चाहिये। मूलभूत नैतिक सिद्धान्तों की शिक्षा को भी उचित स्थान मिलना चाहिये। शिक्षा मे दूसरे सभी विषयों और उत्पादक दस्तकारी का पारस्परिक संबंध होना चाहिए। दस्तकारी सीखनेवाले विद्यार्थी के श्रम से बनी वस्तुओं से उसकी शिक्षा का व्यय वसूल

---

१. ह०, १८-८-३७, पृ० २२६
२. ह०, २५-३-३६, पृ० ६५

हो जायगा, और शिक्षा, जीवन और कार्य का पारस्परिक सप्रयोजन संबंध विद्यार्थी के पूर्ण व्यक्तित्व को विकसित करेगा। बुनियादी तालीम विद्यार्थियों के परिवारों को भी प्रभावित करेगी। उत्पादक दस्तकारी की शिक्षा यन्त्रवत् न होकर इस प्रकार दी जायगी कि विद्यार्थी प्रत्येक प्रक्रिया का प्रयोजन जाने। पाठ्य-क्रम में इस बात पर विशेष ध्यान रखा गया है कि विद्यार्थी सकीर्ण, निराकरण-शील राष्ट्रीयता की भावनाओं से बचें और संयुक्त मानवता के आदर्श को अपनाएं। पाठ्य-क्रम में भारतीय इतिहास और भूगोल की संसार के इतिहास और भूगोल की पृष्ठभूमि मे शिक्षा की व्यवस्था है।

गांधीजी के अनुसार बुनियादी शिक्षा जीवनकला की शिक्षा है। इसलिए शिक्षक और विद्यार्थी दोनों को शिक्षण और अध्ययन के कार्य में ही उत्पादन में भाग लेना चाहिए और जीवन को शिक्षा के प्रारंभ से ही सफल बनाना चाहिये। गांधीजी के अनुसार सात साल की बुनयादी शिक्षा विद्यार्थियों को जीविका कमाने योग्य बना देगी और समाज से बेकारी दूर कर देगी। राज्य विद्यार्थियों के द्वारा बनी हुई चीजों को निश्चित दामों मे ख़रीदेगा।[1]

इस प्रकार स्कूल लगभग स्वावलम्बी होंगे और बच्चों के उत्पादक श्रम से उनकी शिक्षा का व्यय पूरा हो जायगा, पर राज्य के शिक्षा के सम्बन्ध मे कुछ महत्वपूर्ण कर्तव्य होंगे। वह संरक्षकों को बच्चों को स्कूल भेजने को मजबूर करेगा। स्कूलों की देख-भाल और उनका पथ-प्रदर्शन राज्य का उत्तरदायित्व होगा। वह स्कूल में बनी वस्तुओं की बिक्री का प्रबन्ध भी करेगा। बच्चों द्वारा बनी वस्तुओं की आय ज़मीन, स्कूल-घर और शिक्षा-साधनों के लिए काफ़ी न होगी और इनका ख़र्चा राज्य को या म्यूनिसिपल बोर्ड आदि स्थानीय संस्थाओं को उठाना होगा। शिक्षा का ख़र्चा और भी कम हो सकता है यदि सरकार प्रत्येक नवयुवक के लिए नौकरी के पहिले एक साल की शिक्षा-सेवा अनिवार्य करदे और उसको देश की आर्थिक स्थिति के अनुरूप भरणपोषण के लिए आवश्यक धन दे।[2]

गांधीजी की योजना के स्वावलंबन सम्बंधी सिद्धांत की कड़ी आलोचना की गई है। लेकिन आर्थिक बचत के साथ-साथ शिक्षा की उत्तमता भी इस योजना की विशेषता है। अगर कुछ स्कूल स्वावलंबी न भी हो सकें, हो सकता है कि शुरू में बहुत से न हो सकें, तो भी उन्हें मितव्ययिता का ध्यान रहेगा। गांधीजी का मत था कि बुनियादी शिक्षा के सात वर्षों का औसत

१. ह०, ३०-१०-३७, पृ० ३२१।

२. ह०, ३१-७-३७, पृ० १९८ और ३०-१०-३७, पृ० ३२४।

लेकर शिक्षा का आय और व्यय बराबर होना चाहिए।[1] इससे भारत-से निर्धन देश को सहारा मिलेगा और यहां शिक्षा को देशव्यापी बनाने का यही व्यावहारिक मार्ग है।

इससे अधिक गंभीर आपत्ति यह है कि जब यह योजना देश भर में चल जायगी तो आर्थिक जीवन का कुछ परिमाण में राष्ट्रीयकरण करना होगा, क्योंकि राज्य पर चौदह साल तक के विद्यार्थियों की बनाई चीज़ों को बेचने का उत्तरदायित्व रहेगा। लेकिन यह कार्य विकेन्द्रित किया जा सकता है और स्थानीय संस्थाओं को सौंपा जा सकता है। यह भी याद रखना चाहिए कि यह राष्ट्रीयकरण घरेलू धन्धों से सम्बन्धित होगा न कि केन्द्रित उत्पादन से।

नई शिक्षा-योजना का दस्तकारियों में लगे हुए परिवारों के हित के साथ संघर्ष न होगा। नई शिक्षा उनके बच्चों को निकम्मे न बनाकर उनको अपने परिवार की अल्प आय में वृद्धि करने की क्षमता देगी। शरीर-श्रम को मान्यता मिलेगी और इससे शरीर-श्रम करने वालों की हैसियत में सुधार होगा। नई शिक्षा द्वारा सिद्धांत और व्यवहार का, धन्धों और साहित्य का और कारीगरों और विद्यार्थियों का अन्तर घटेगा।

राजनैतिक दृष्टिकोण से नई शिक्षा द्वारा सामाजिक सम्बन्धों में क्रांतिकारी परिवर्तन होंगे। गांधीजी के अनुसार "वह (नई शिक्षा) शहर और गांव के सम्बंध का स्वस्थ और नैतिक आधार बनेगी और इस प्रकार आज की सामाजिक असुरक्षितता के और ज़हरीले वर्ग-सम्बंधों के बुरे-से-बुरे दोषों को बहुत कुछ निर्मूल कर देगी। वह हमारे गांवों के बढ़ते हुए ह्रास को रोकेगी और ऐसी न्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था की नींव डालेगी जिसमें अमीरों और ग़रीबों का अस्वाभाविक भेद न होगा और प्रत्येक को भरण-पोषण के लिए पर्याप्त आय और स्वतंत्रता के अधिकार की निश्चितता होगी और यह सब हो जायगा बिना वर्गयुद्ध की भयावह घटनाओं के या भारत से बड़े प्रायद्वीप के यंत्रीकरण में होने वाले बड़े पैमाने पर धन-व्यय के। और न उसमें विदेशों से आए यंत्रों पर और यन्त्र-शास्त्रियों की दक्षता पर बेबसी से निर्भर रहना पड़ेगा। अन्त में, बड़े विशेषज्ञों की दक्षता की आवश्यकता को घटाकर वह (शिक्षा) जनता को ही अपना भाग्य-निर्णायक बना देगी।"[2] संक्षेप में, नई योजना शोषण और सामाजिक या वर्ग-सम्बंधी द्वेषों से मुक्त, स्वावलंबी, अहिंसक, जनतन्त्रवादी समाज व्यवस्था की ओर महत्त्वपूर्ण क़दम है।

---

१. ह०, २५-८-४६, पृ० २८३।

२, ह०, ६-१०-१६३७, पृ० २६३।

बुनियादी शिक्षा का प्रयोग पिछले बारह वर्षों से होता रहा है। भारत के बहुत से राज्यों में वह चालू है। जहां कहीं प्रयोग व्यवस्थित रूप से चला है वहां विद्यार्थियों का व्यक्तिगत रूप में और समाज के उपयोगी सदस्यों की हैसियत से स्वस्थ सर्वांगीण विकास हुआ है।

सेवाग्राम और कुछ अन्य स्थानों के बुनियादी स्कूलों को स्वावलम्बी बनाने का बड़ा प्रयत्न किया जा रहा है। सन् १९४५-४६ में सेवाग्राम के बुनियादी स्कूल की कताई, बुनाई और बागबानी से प्राप्त धन शिक्षकों के वेतन के लिए काफ़ी था।[1] गांधीजी की योजना के बहुत से सिद्धांतों को भारत सरकार के केन्द्रीय सलाहकारी शिक्षा बोर्ड ने स्वीकार कर लिया था, यद्यपि उसने योजना के इस केन्द्रीय सिद्धांत को नहीं माना था कि उत्पादक दस्तकारी पर आधारित शिक्षा को स्वावलम्बी होना चाहिए।[2] बहुत से राज्यों में—जहां गांधीजी की शिक्षा-योजना चालू है उत्पादक दस्तकारी पर ज़ोर तो दिया जाता है पर वह शिक्षा का आधार नहीं है।

सन् १९४४ में गांधीजी के सुझाव के अनुसार बुनियादी शिक्षा का क्षेत्र विस्तृत कर दिया गया। अब हिन्दुस्तानी तालीमी संघ का जिसका कार्य प्राथमिक (प्रायमरी) शिक्षा तक सीमित था उद्देश्य है सम्पूर्ण जीवन के लिए शरीर-श्रम और दस्तकारी पर आधारित शिक्षा-योजना तैयार करना। गांधीजी का मत था कि सम्पूर्ण शिक्षा स्वावलम्बी होनी चाहिए और शिक्षा का माध्यम प्रांतीय भाषा होनी चाहिए जिससे शिक्षा विद्यार्थी के कुटुम्ब को भी प्रभावित कर सके।

गांधीजी उच्च (विश्वविद्यालयों की) शिक्षा में क्रांतिकारी परिवर्तन के पक्ष में भी थे। उच्च शिक्षा को भी वातावरण के अनुकूल और स्वावलंबी होना चाहिए और उसको उत्पादक दस्तकारियों पर आधारित होना चाहिए। उच्च शिक्षा का उत्तरदायित्व उनके मत में सरकार पर नहीं गैरसरकारी संस्थाओं और व्यक्तियों पर होना चाहिए। इंजीनियरिंग व्यावसायिक और व्यापारिक विद्यालयों का भार व्यापारियों और औद्योगिक संस्थाओं को उठाना चाहिए। कृषि, विज्ञान, चिकित्सा और साहित्य और सामाजिक विज्ञानों के विद्यालयों को या तो स्वावलंबी होना चाहिए या दान पर आधारित होना चाहिए।

---

१. ह०, २-३-४७, पृ० ४८।

२. देखिए सेन्ट्रल ऐडवाइज़री बोर्ड ऑव एजूकेशन की रिपोर्ट, 'पोस्टवार एजूकेशनल डेवलपमेंट ऑव इण्डिया', अ० १।

राज्य के विश्वविद्यालय केवल परीक्षाओं का प्रबंध करेंगे और परीक्षाओं की फ़ीस द्वारा स्वावलम्बी रहेंगे।[१]

इस प्रकार राज्य के कार्यों के बारे में गांधीजी "कम-से-कम शासन" के और कम-से-कम बल-प्रयोग के पक्ष में थे; यद्यपि वह कोरे सिद्धांतवादी नहीं थे। कुछ विशेष परिस्थितियों में वह संपत्ति के राज्य द्वारा ज़ब्त करने के हिमायती थे और देश-व्यापी शिक्षा के लिए अनिवार्य शिक्षा-सेवा, अनिवार्य शिक्षा, मादक-वस्तु-निषेध और आवश्यक केन्द्रित उत्पादन के राष्ट्रीयकरण को उचित मानते थे। यह बल-प्रयोग इस बात का चिन्ह है कि समाज द्वारा विकसित अहिंसा तात्कालिक व्यवस्था के लिए अपर्याप्त है। गांधीजी इस बात का काफ़ी बचाव रखने के पक्ष में थे कि राज्य बहुत ज़्यादा हिंसा या बल का प्रयोग न करे। यह बचाव है विकेन्द्रीकरण, स्वेच्छा पर आधारित समुदायों का महत्त्व, राज्य का जनतन्त्रवादी संगठन और अहिंसक प्रतिरोध की दृढ़ परम्परा।

गांधीजी की 'कम-से-कम सरकार' का अर्थ वह नहीं जो पश्चिम में प्रायः किया जाता है अर्थात् पुलिस द्वारा आन्तरिक और फ़ौज द्वारा बाह्य ख़तरों से रक्षा का निषेधात्मक कार्य। अहिंसक राज्य पश्चिम के व्यक्तिवादी विचारकों का पुलिस राज्य नहीं है। अहिंसक राज्य में पुलिस और फौज का कम-से-कम महत्त्व होगा। इसके अतिरिक्त जनहित के लिए गांधीजी राज्य द्वारा कुछ ऐसे कार्यों के करने के पक्ष में थे जो समाजवादी और साम्यवादी सिद्धांतों के अनुसार युक्तिसंगत है। यह ऐसे कार्य है जिनमें ग़ैरसरकारी व्यक्तियों या समुदायों की अपेक्षा राज्य जनहित का अधिक अच्छा साधन है। लेकिन गांधीजी के विचार न तो पश्चिम के व्यक्तिवादियों से मिलते हैं न समाजवादियों और साम्यवादियों से, क्योंकि इनके विपरीत गांधीजी अहिंसक साधनों में, घरेलू धन्धों पर आधारित संस्कृति में, जीवन की सादगी में और विकेन्द्रीकरण में विश्वास करते थे।

कर्तव्य और अधिकार

सत्ता के दुरुपयोग से बचाव का एक महत्त्वपूर्ण साधन है नागरिकता के अधिकार। लेकिन गांधीजी अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों को बहुत अधिक महत्त्व देते थे। अधिकार आत्मानुभूति का अवसर हैं। आत्मानुभूति है दूसरों के साथ अपनी आध्यात्मिक एकता का उनकी सेवा करके और उनके प्रति अपने कर्तव्य का पालन करके अनुभव करना। इस तरह प्रत्येक अधिकार

---

१. ह०, ३१–७–३७, पृ० १९७–९८; ३०–१०–३७, पृ० ३२१, और २–११–४७, पृ० ३९२–९३।

अपने कर्तव्य को पालन करने का अधिकार है। गांधीजी के शब्दों में, "...अपने कर्तव्य का पालन करने का अधिकार एकमात्र ऐसा मूल्यवान अधिकार है जिसके लिए मनुष्य जी सकता है और मर सकता है। उसमें सभी उचित अधिकारों का समावेश है।"[१] इसके अतिरिक्त यदि कोई अधिकार मांगा जाता है या मान लिया जाता है और अधिकार चाहनेवाले में संबंधित कर्तव्य के पालन की क्षमता नहीं होती, तो अधिकार का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और अधिकार की रक्षा नहीं हो सकती। गांधीजी अपने अनुभव का वर्णन इन शब्दों में करते हैं, "युवा मनुष्य की तरह मैंने अधिकार जताने का प्रयत्न करके रहना प्रारम्भ किया और मैंने जल्द यह मालूम किया कि मेरा कोई भी अधिकार नहीं था मेरी स्त्री पर भी नहीं। इसलिये मैंने अपनी स्त्री, अपने बच्चो दोस्तों, साथियों और समाज के प्रति अपने कर्तव्य को जानना और उसका पालन करना शुरू कर दिया और आज मुझे यह मालूम होता है कि शायद किसी भी जीवित मनुष्य की अपेक्षा जिसे मैं जानता हूं मेरे अधिकार अधिक हैं। यदि यह दावा बहुत बड़ा है तो मैं कहता हूं कि मैं ऐसे किसी भी व्यक्ति को नहीं जानता जिसको मुझ से अधिक अधिकार प्राप्त हों।"[२] उनके अनुसार बहुत से जनतन्त्रवादी राज्यों में मताधिकार जनता के लिए भार हो गया है क्योंकि वह अधिकार योग्यता प्राप्त करके नहीं, बल प्रयोग या उसकी धमकी के द्वारा प्राप्त किया गया है।[3]

यदि कोई व्यक्ति किसी कर्तव्य के पालन की क्षमता प्राप्त करले, तो उससे संलग्न अधिकार अनिवार्य-रूप से प्राप्त हो जायगा। सबसे बड़ा कर्तव्य है आत्मानुभूति, अर्थात अहिंसक मूल्यों का विकास या वैयक्तिक स्वराज्य की प्राप्ति। इस प्रकार गांधीजी के अनुसार, 'हम केवल स्वयं कष्ट उठा कर ही स्वतन्त्र हो सकते हैं'[४], और "किसी राष्ट्र का स्वराज्य व्यक्तियों के स्वराज्य का योग है।"[५] "कोई भी कर्तव्य नहीं जो अनुरूप अधिकारों को जन्म न देता हो, और वही ठीक अधिकार है जिनका सृजन कर्तव्य के उचित पालन से होता है। इसलिए सच्ची नागरिकता के अधिकार केवल उनको ही मिलते हैं जो अपने राज्य की सेवा करते हैं। और वही प्राप्त अधिकारों का

१. ह०, २७-५-३९, पृ० १४३।
२. एच० जी० वेल्स के मनुष्य के अधिकार सम्बन्धी तार का गांधीजी का जवाब। ह०, १३-१०-१९४०, पृ० ३२०।
३. 'हिन्द-स्वराज्य' (अं०), पृ० ६१।
४. 'हिन्द स्वराज्य' (अ०), पृ० ९४।
५. 'हिन्द-स्वराज्य' (अं०), पृ० ९४।

समुचित प्रयोग भी कर सकते हैं।"[1] काठियावाड़ राजनैतिक कान्फ्रेंस (१९२४) के सभापति की हैसियत से अपने भाषण में उन्होंने कहा था, "अधिकार का सच्चा स्रोत है कर्तव्य...यदि हम सब अपने कर्तव्यों का पालन करें तो अधिकारों को खोजने की ज़रूरत न पड़ेगी। यदि कर्तव्यों की उपेक्षा करके, हम अधिकारों के पीछे पड़ें, तो हमारी खोज मृगतृष्णा की तरह व्यर्थ होगी। जितना अधिक हम अधिकारों का पीछा करेंगे उतना ही अधिक वह हम से दूर होंगे। इस शिक्षा को कृष्ण ने इन अमर शब्दों में प्रकट किया है: 'कर्म ही तेरा अधिकार है। फल को तू अलग ही रहने दे।' कर्म कर्तव्य है; फल अधिकार है।"[2] एक पत्र में उन्होंने लिखा था, "सभी अधिकार जिनके योग्य बनना है और जिनकी रक्षा करना है अच्छी तरह पालन किए गए कर्तव्य से आते हैं.. इसी मूलभूत उक्ति से शायद स्त्री-पुरुषों के कर्तव्यों की परिभाषा करना और प्रत्येक अधिकार को किसी ऐसे अनुरूप कर्तव्य से— जिसका पहिले पालन होना चाहिए – सम्बन्धित करना काफ़ी आसान है।"[3]

प्रकट है कि गांधीजी, कुछ पश्चिम के राजनैतिक विचारकों के प्रतिकूल, अधिकार शब्द का प्रयोग केवल राज्य के संदर्भ में ही नहीं, अधिक व्यापक अर्थ में, सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के संदर्भ में करते हैं। कम-से-कम एक बार तो उन्होंने इस शब्द का प्रयोग शरीर-शक्ति के अर्थ में भी किया था। उन्होंने लिखा था, 'प्रत्येक को झूठ बोलने का और गुंडों की तरह व्यवहार करने का अधिकार है। किन्तु इस प्रकार के अधिकार का प्रयोग समाज और प्रयोग करनेवाले दोनों के लिए हानिकर है।"[4] किन्तु साधारण रीति से इस शब्द का प्रयोग वह व्यक्ति की आत्मानुभूति के लिए आवश्यक कार्य की स्वतन्त्रता के अर्थ में करते हैं।

गांधीजी का मत है कि जितना अधिक राज्य अहिंसक होगा उतने ही अधिक व्यक्ति के अधिकार होंगे। उनके शब्दों में, असत्यपूर्ण और हिंसक साधनों का स्वाभाविक परिणाम है विरोध को विरोधियों के विनाश द्वारा हटाना। "इसमें वैयक्तिक स्वतन्त्रता की वृद्धि नहीं होती। केवल शुद्ध अहिंसक व्यवस्था में ही वैयक्तिक स्वतन्त्रता पूर्णरूप से विकसित हो सकती है।"[5]

---

१. ह०, २५-३-३६, पृ० ६४।
२. यं० इं०, भा० २, पृ० ४७६।
३. ह०, ८-६-४७, पृ० १८४।
४. ह०, २५-३-३६, पृ० ६४।
५. ह०, २७-५-३६, पृ० १४३।

किन्तु उनके अनुसार अधिकारों का सृजन राज्य या किसी दूसरे समुदाय द्वारा नहीं होता। जैसे-जैसे व्यक्ति सत्य और अहिंसा की साधना द्वारा अधिकारों के लिए योग्यता का विकास करता है वैसे-वैसे उसको अधिकार मिलते जाते हैं। राज्य और सरकार केवल अधिकारों को मान लेते हैं। इस का अर्थ यह है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के अधिकारों में उनकी नैतिक क्षमता के अनुसार अन्तर होता है।[1] प्रत्येक अधिकार के अनुरूप एक कर्तव्य तो होता ही है जिसके पालन करने से अधिकार मिलता है। यदि अधिकार पर आक्रमण हो तो बचाव का उचित साधन भी है। यह साधन है अहिंसक असहयोग।[2]

गांधीजी के अधिकार-सम्बन्धी सिद्धान्त की विशेषता यह है कि वह व्यक्ति की स्वार्थमूलक प्रवृत्तियों पर नहीं समाज-सेवा पर ज़ोर देता है। जैसा कि वह लिखते हैं, "जो व्यक्ति कर्तव्य-पालन के फलस्वरूप अधिकार प्राप्त करते हैं, वह उनका प्रयोग केवल समाज-सेवा के लिए करते हैं, अपने लिए कभी नहीं करते।"[3] उनका सिद्धान्त स्वावलम्बन पर भी ज़ोर देता है और इस बात की शिक्षा देता है कि नागरिकों को परिस्थितियों को अनुकूल बनाना चाहिये और अधिकार न प्राप्त होने का उत्तरदायित्व दूसरों पर नहीं स्वयं अपने पर रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि नागरिक कर्तव्य-पालन का महत्व जान लें तो सम्भवतः अपने अधिकारों का दुरुपयोग और दूसरों का शोषण न करेंगे।

अहिंसक राष्ट्रीयता

यद्यपि अहिंसक राज्य स्वतन्त्र होगा और उसकी राजनैतिक हैसियत

---

१. "वह अधिकार जिनकी भिन्न-भिन्न व्यक्ति उचित रीति से माग कर सकते हैं उनकी अलग-अलग नैतिक प्रवृत्तियो और क्षमता के अनुसार भिन्न-भिन्न होंगे। इस प्रकार उस मनुष्य को, जिसने अपने प्रयत्नो से अपने चरित्र को बहुत उच्च बना लिया है, अपने साथी मनुष्यों में इतना सम्मान पाने का अधिकार है जितने की उचित माग करने का अधिकार उससे कम ईमानदार पड़ोसी को नहीं हैं।" विलोबी, 'एथिकल बेसिस ऑव पोलिटिकल अथारिटी', पृ० २४६-४७।

२. यं० इं०, २६-३-३१।

३. ह०, २५-३-३९, ६४।

दूसरे राज्यों के साथ समता की होगी, लेकिन विकेन्द्रीकरण पर आधारित सत्याग्रही राष्ट्रीयता निराकरणशील, आक्रमणकारी या विनाशक नहीं हो सकती। इसके प्रतिकूल वह विधायक और मानवतावादी होगी।[१] इसके विधायक होने का कारण यह है कि अभिव्यक्ति की परिपूर्णता की ओर अग्रसर होने के उसके साधन अहिंसक होंगे। इसके अतिरिक्त, अहिंसक जनतंत्रवादी राष्ट्रीयता के आदर्श के अनुसार प्रत्येक देश को दूसरे देशों का शोषण करके नहीं, उनकी सेवा करके और उनके लिये आत्म-बलिदान करके रहना सीखना चाहिए। इस प्रकार अहिंसक राष्ट्रीयता स्वस्थ अन्तर्राष्ट्रीयता की आवश्यक पूर्वमान्यता है। सन् १९२५ में गांधीजी ने लिखा था, "राष्ट्रीयतावादी हुए बिना अन्तर्राष्ट्रीयतावादी होना असम्भव है। . राष्ट्रीयतावाद बुराई नहीं है, बुराई है संकीर्णता, स्वार्थपरता, निराकरणशीलता जो आधुनिक राष्ट्रों के विष हैं भारतीय राष्ट्रीयता संपूर्ण मानव जाति की सेवा के लिये और लाभ के लिये अपने को संगठित करना चाहती है और पूर्ण आत्म-प्रकाशन चाहती है।"[२] "हम अपने देश के लिये स्वतंत्रता चाहते हैं किन्तु दूसरों का शोषण करके या उनको हानि पहुँचा कर नहीं। मैं अपने देश की स्वतंत्रता चाहता हूँ जिसमें दूसरे देश मेरे स्वतंत्र देश से कुछ सीख सकें, जिसमें मेरे देश के साधन मानव-जाति के हित के लिये काम आ सकें। देश को स्वतंत्र होना चाहिये जिसमें, अगर आवश्यक हो, तो वह संसार के लाभ के लिये मर सके। . . राष्ट्रीयता की मेरी धारणा यह है कि मेरा देश इसलिये मर सके कि मानव-जाति जीवित रह सके। उसमें जाति-द्वेष के लिये स्थान नहीं है।"[३]

वास्तव में सत्य और अहिंसा द्वारा राष्ट्रीयता की सफलता स्वयं मानव-जाति की महानतम सेवा है। वह पराधीन जातियों को साम्राज्यवाद की विनाशक दासता से मुक्त कर देगी। गांधीजी के शब्दों में, "भारत के (अहिंसा द्वारा) स्वतंत्र हो जाने का अर्थ होगा प्रत्येक राष्ट्र का स्वतंत्र हो जाना।"[४] यदि पराधीनता और शोषण विश्व-शांति के लिये सबसे बड़े संकट हैं, तो भारत की अहिंसक राष्ट्रीयता शांति-स्थापना में अमूल्य सहायता देगी। सन् १९२८ में गांधीजी ने लिखा था, "भारत की स्वतंत्रता द्वारा मैं संसार की तथा-

१. यं० इ०, भा० १, पृ० ६७३।

२. यं० इ०, भा० २, पृ० १८६२।

३. महादेव देसाई, 'गांधीजी इन इंडियन विलेजेज', पृ० १७०।

४. यं० इ०, भा० ३, पृ० ५४९; और गांधीजी का १७-४-१९४५ का वक्तव्य।

कथित कमज़ोर जातियों को पश्चिम के विनाशक शोषण से मुक्त करना चाहता हूँ।"[1]

अन्तर्राष्ट्रीयता

अहिंसक राष्ट्रीयता निष्कर्ष है स्वदेशी के सिद्धान्त का जिसके अनुसार देश वासी मनुष्य के निकटतम पड़ोसी हैं और उनको उनकी सेवा पर पहिला अधिकार है।[2] अहिंसक राष्ट्रीयता आवश्यक रूप से नैतिक और केवल प्रसंग से राजनैतिक है। वह साध्य नहीं, साधन-मात्र है—साधन भी केवल एक देश की ही भलाई का नहीं, बल्कि मानवता की सेवा करने का और सब का अधिकतम हित साधने का भी।

इस प्रकार राष्ट्रीय स्वतंत्रता में गांधीजी का अर्थ उस निरपेक्ष स्वतंत्रता से नहीं जो स्वस्थ अन्तर्राष्ट्रीयता से मेल नहीं खाती। उनके शब्दों में, "मेरी पूर्ण स्वराज्य की धारणा सब (देशों) से अलग स्वतंत्रता नहीं बल्कि स्वस्थ और सम्मानपूर्ण-रीति से एक (देशों का) दूसरे के सहारे रहना है।"[3] उनका मत है कि मानवता के जीवित रहने की यह आवश्यक शर्त है कि संसार की व्यवस्था विभिन्न देशों के प्रतिनिधियों के केन्द्रीय शासक-मण्डल के हाथ में हो।[4]

किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना राष्ट्रों की स्वेच्छा से और उसका संचालन अहिंसक मार्ग से होना चाहिए। सन् १९३१ में राष्ट्रसंघ (लीग ऑव नेशन्स) के बारे में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था, "संघ से यह आशा

१. यं० इं०, भा० ३, पृ० ५४८।

२. ऊपर अध्याय ४ देखिये।

३. यं० इं०, २६-३-३१। गांधीजी के अनुसार स्वावलंबन उसी प्रकार मनुष्य का आदर्श है जिस प्रकार परस्पर आश्रित होना, क्योंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है और समाज में परस्पर आश्रित होना उसे विश्व के साथ अपनी एकता की अनुभूति में और अहंता को दबाने में सहायक होता है।

४. ह०, ८-६-४७, पृ० १८४। गांधीजी इस बात के विरुद्ध थे कि उन राष्ट्रों में—जिनका बल-प्रयोग द्वारा निशस्त्रीकरण हुआ हो—अन्तर्राष्ट्रीय संघ की 'सशस्त्र शान्ति' स्थापित हो। उनके अनुसार सशस्त्र अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस रखना किसी तरह भी शान्ति का चिन्ह नहीं है। राष्ट्रों की समता और स्वतन्त्रता पर आधारित वास्तविक विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए युद्ध और हिंसा में विश्वास का त्याग आवश्यक है। देखिये, गांधीजी का १७ अप्रैल, सन् १९४५ का सन फ्रांसिस्को कान्फ्रेंस पर वक्तव्य।

की जाती है कि वह (झगड़े निपटाने के साधन की तरह) युद्ध का स्थान ले लेगी और अपनी शक्ति द्वारा उन राष्ट्रों में मध्यस्थता करेगी जिनमें आपस में झगड़े हों। लेकिन मुझे सदा यह लगा है कि संघ के पास (अन्याय करने वालों के विरुद्ध) आवश्यक साधन-व्यवस्था नहीं है। ...मैं आपको यह सुझाव देने का साहस करता हूँ कि वह साधन जिनको हमने भारत में अपनाया है राष्ट्रसंघ की-सी संस्था का ही नहीं, बल्कि विश्वशांति के महान हित को अपनानेवाली किसी भी स्वेच्छा पर आधारित संस्था या समुदाय की आवश्यक साधन-व्यवस्था है।"[1] अहिंसक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के लिये यह आवश्यक है कि शस्त्रों को, और प्रमाणित अधिकारों की रक्षा के लिये भी शक्ति प्रयोग को त्याग दिया जाय। "प्रमाणित अधिकारों की रक्षा असभ्य अर्थात् हिंसक साधनों के प्रतिकूल उचित साधनों से होना चाहिए।"[2] हिंसक अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों पर नियंत्रण रखने के लिये वह अहिंसक राज्य की पुलिस या शान्ति-सेना से मिलते-जुलते अहिंसक पुलिस-दल का स्वागत करते।

सब देशों के निशस्त्रीकरण के प्रारम्भ होने से पूर्व "किसी राष्ट्र को शस्त्रों को त्यागने का और बड़े जोखिम में पड़ने का साहस करना होगा। उस राष्ट्र में अहिंसा का स्तर... स्वाभाविक रीति से इतना उच्च होगा कि उसको सार्वभौम सम्मान प्राप्त होगा। उसके निर्णय अचूक होंगे, उसके निश्चय दृढ़ होंगे, वीरतापूर्ण आत्म-बलिदान की उसकी क्षमता महान् होगी और वह (राष्ट्र) उसी परिमाण में दूसरे राष्ट्रों के (हित) के लिये जीवित रहना चाहेगा जिस परिमाण में अपने (हित) के लिये।"[3]

निशस्त्रीकरण और अहिंसक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की सफलता के लिए साम्राज्यवाद का निराकरण आवश्यक है। "अन्तर्राष्ट्रीय संघ तभी (स्थापित) होगा, जब उसमें सम्मिलित सभी छोटे-बड़े राष्ट्र पूरी तरह स्वतंत्र होंगे। अहिंसा पर आधारित समाज में छोटे से छोटा राज्य अनुभव करेगा कि वह (महत्त्व में) उतना ही बड़ा है जितना कि बड़े-से-बड़ा।"[4] इस प्रकार गांधीजी न्यायोचित राजनैतिक और आर्थिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की स्थापना के और एक राज्य के दूसरे पर आधिपत्य के अन्त करने के पक्ष में थे।

१. शारगा, 'गांधी', पृ० ३८६-६० पर उद्धृत।

२. ह०, १४-१०-३६, पृ० ३०१।

३. यं० इं०, भा० २, पृ० ८६८।

४. ह०, ११-२-३६, पृ० ८ और १४-१०-३६, पृ० ३०१।

साम्राज्यवाद के निराकरण के लिये यह आवश्यक है कि बड़े राष्ट्र आवश्यकताओं और भौतिक उपकरणों की वृद्धि की इच्छा और प्रतियोगिता को छोड़ दें।

विदेशी नीति और रक्षा

अहिंसक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के विकास में समय लगेगा। उसकी स्थापना के पहले अन्तर्राष्ट्रीय अन्याय और आक्रमण हो सकते हैं। अहिंसक राज्य पर आक्रमण की अधिक सम्भावना नहीं और उसके लिये अहिंसक पद्धति से अपना बचाव करना आसान होगा। अहिंसक राज्य की जनतंत्रवादी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था न्याय और समता पर आधारित होगी। इसलिये इस राज्य में आर्थिक शक्ति-सम्बन्धी उस संघर्ष का अभाव होगा जिसका परिणाम होता है साम्राज्यवाद और क्रांति। राज्य के आंतरिक जीवन की अहिंसा उसके बाह्य सम्बन्धों में भी प्रकट होगी। यदि भारत अहिंसा को अपना सका तो वह अपने पड़ोसियों के साथ घनिष्ठतम मित्रता का सम्बन्ध रखने का प्रयत्न करेगा—पड़ोसी शक्तिशाली हों या छोटे राष्ट्र।[1] वह पूर्ण निशस्त्रीकरण के लिये और अहिंसक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की स्थापना के लिये प्रयत्न करेगा। उसकी अहिंसा पड़ोसियों की सद्भावना को जगाएगी और रक्षा के लिये वह अखिल विश्व की सद्भावना पर आश्रित होगा।[2]

यदि अहिंसक राज्य पर कभी आक्रमण हुआ भी तो अहिंसक बचाव आसान होगा। स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये गांधीजी द्वारा प्रयुक्त सत्याग्रही प्रतिरोध-पद्धति का उपयोग आवश्यक परिवर्तनों के साथ बाह्य आक्रमणों के विरुद्ध भी होगा। गांधीजी के शब्दों में, "अहिंसक मनुष्य या समाज बाहरी आक्रमणों की आशा और उनके लिये प्रबन्ध नहीं करता। इसके प्रतिकूल ऐसा मनुष्य या समाज दृढ़ता से विश्वास करता है कि कोई भी उनके साथ झगड़ा न करेगा। यदि बुरी-से-बुरी बात होती (आक्रमण होता) है, तो अहिंसा के लिये दो मार्ग हैं। अधिकार समर्पण कर देना लेकिन आक्रमणकारी के साथ असहयोग करना। इस प्रकार मान लीजिये कि नीरो[3] का आधुनिक संस्करण भारत पर आक्रमण कर दे, तो राज्य के प्रतिनिधि उसको (देश के) अन्दर चले आने देंगे लेकिन उसे बता देंगे कि जनता से ज़रा भी सहायता न मिलेगी। वह (जनता) आधीनता मानने की अपेक्षा मौत को तरजीह देगी। दूसरा रास्ता होगा

---

१. ह०, २०-४-४०, पृ० ६६।

२. ह०, १०-२-४०, पृ० ४४१।

३. प्राचीन यूरोप का एक अत्याचारी शासक।

अहिंसक पद्धति में शिक्षित जनता द्वारा अहिंसक प्रतिरोध। आक्रमणकारी की तोपों को जनता निशस्त्र अपने आपको (तोपों की) खाद्य-सामग्री की तरह अर्पण कर देगी। दोनों हालतों में मूलभूत विश्वास यह होगा कि नीरो भी हृदयहीन नहीं है। ऐसे स्त्री-पुरुषों की अनन्त पंक्तियों का अप्रत्याशित दृश्य, जो आक्रमणकारी की इच्छा को आत्म-समर्पण न करके चुपचाप जान दे रहे हैं, अंत में उसको और उसकी फ़ौज को द्रवित कर देगा।"[1]

गांधीजी के अनुसार अहिंसक प्रतिरोध में प्रतिपक्षी के आगे बढ़ने में रुकावट डालने के लिए 'भूमि-विदाहक' (स्कॉर्च्ड अर्थ) नीति के लिए स्थान नहीं। युद्ध-विरोधी की हैसियत से उन्हें जीवन या संपत्ति के विनाश में न तो वीरता दीखती है न बलिदान। "मेरे अपने कुएँ में विष घोल देने में या उसे इस प्रकार पाट देने से कि मेरा भाई जो मुझ से युद्ध कर रहा है, पानी का उपयोग न कर सके, कोई वीरता नहीं है।...न उसमें कोई बलिदान ही है, क्योंकि वह मुझे शुद्ध नहीं करता और बलिदान की, जैसा कि उसके मूल अर्थ का तात्पर्य है, पूर्व-मान्यता है शुद्धता।" प्राचीन समय के युद्ध-नियम कुओं में विष घोलने की और अनाज की फ़स्ल बरबाद करने की आज्ञा नहीं देते थे। जब कभी संभव होगा अहिंसक प्रतिरोधी फ़स्लों और आक्रमणकारियों के बीच इस तरह खड़े हो जायंगे कि जबतक एक भी प्रतिरोधी जीवित है आक्रमणकारी फ़स्ल में से कुछ भी न ले सकेंगे। यदि प्रतिरोधी व्यवस्थित रीति से इस आशा से पीछे हटें कि वह बाद में दूसरी और अधिक अनुकूल परिस्थिति में प्रतिरोध करेंगे, तो भी गांधीजी की राय है कि उनको अनाज की फ़स्ल और वैसी ही दूसरी चीज़ों का विनाश न करना चाहिए। यदि प्रतिरोधी संपत्ति को डर के कारण नहीं, बल्कि मानवतावादी हेतु से अर्थात इसलिए अक्षत छोड़ता है कि वह किसी को भी अपना शत्रु मानने से इन्कार कर देता है, तो गांधीजी को इसमें तर्क, वीरता और बलिदान दीखता है। विनाश न करने में वीरता है क्योंकि प्रतिरोधी जान-बूझकर इस जोखिम में पड़ता है कि प्रतिपक्षी प्रतिरोधी को हानि पहुँचाकर भोजन करेगा और उसका पीछा करेगा, और उसमें बलिदान है क्योंकि प्रतिपक्षी के लिए कुछ छोड़ देने की भावना प्रतिरोधी को शुद्धता और नैतिक उच्चता देती है।[2]

कभी-कभी गांधीजी के सामने यह प्रश्न रखा गया है कि सत्याग्रही उस हवाई लड़ाई में किसी तरह कारगर हो सकता है जिसमें व्यक्तिगत सम्पर्क का

१. ह०, १३-४-१९४०, पृ० ९०।

२. ह०, २९-३-४२, पृ० ८८; १२-४-४२, पृ० १०९; १९-४-४२, पृ० १२१-२२; और ३-५-४२, पृ० १४०।

प्रभाव होता है। जो मनुष्य ऊपर से मृत्यु की वर्षा करता है उसको यह जानने का भी अवसर नहीं मिलता कि उसने किनकी और कितनों की जान ली है। गांधीजी का जवाब यह है कि घातक बम के पीछे उसे चलाने वाला मनुष्य का हाथ होता है और उसके भी पीछे हाथ को परिचालित करनेवाला मानव-हृदय होता है। और आतंकवादी नीति के पीछे यह धारणा है कि यदि आतंकवाद का उपयोग पर्याप्त परिमाण में किया जाय, तो उसका वांछित परिणाम होगा, अर्थात् प्रतिपक्षी अत्याचारी की इच्छा के सामने झुक जायगा। लेकिन यदि जनता दृढ़ निश्चय कर ले कि वह न तो कभी अत्याचारी की इच्छानुसार कार्य करेगी, और न अत्याचारी के साधनों द्वारा उससे बदला लेगी, तो अत्याचारी के लिए आतंकवाद चालू रखना लाभप्रद न रहेगा। यदि अत्याचारी की क्रूरता और हिंसा को पर्याप्त भोजन न मिले तो समय आएगा जब वह हिंसा और आतंक से ऊब उठेगा।[1]

इस प्रश्न के उत्तर में कि वह अणुबम के विरुद्ध अहिंसा का उपयोग किस प्रकार करेंगे उन्होंने कहा था, "मैं उसका सामना प्रार्थनापूर्ण-कार्य द्वारा करूंगा ...मैं बाहर खुले स्थान में आजाऊँगा और (यान के) चालक को यह देखने दूंगा कि उसके विरुद्ध मेरा मुख अशुभ-सूचक नहीं है। मैं जानता हूँ कि चालक इतनी ऊँचाई पर मेरा मुख न देख सकेगा। किन्तु मेरे हृदय की यह इच्छा कि उसका बुरा न हो उस तक पहुंच जायगी और उसकी आंखें खुल जायंगी। यदि वह हज़ारों व्यक्ति जिनकी हीरोशीमा में अणुबम द्वारा मृत्यु हुई थी ... अपने हृदयों मे प्रार्थना के साथ मरे होते ... तो युद्ध का अन्त उस लज्जाजनक रीति से न हुआ होता जैसे वह हुआ है।"[2]

लेकिन पूछा जा सकता है कि यदि मनुष्य आक्रमणकारी को आत्म-समर्पण करने की अपेक्षा अहिंसक रूप से जान दे दें, तो स्वतंत्रता से लाभ उठाने को कौन जीवित रहेगा? गांधीजी के अनुसार हिंसक युद्ध में भी लड़नेवाला सिपाही विजय से लाभ उठाने की आशा नहीं करता। लेकिन जहाँ तक अहिंसा का सम्बन्ध है, प्रत्येक व्यक्ति यह मानकर चलता है कि अहिंसक पद्धति को तभी सफल समझना चाहिए जब कम-से-कम स्वयं सत्याग्रही अहिंसा की सफलता से लाभ उठाने को जीवित रहे। यह न तो तर्कसंगत ही है और न न्यायपूर्ण। सशस्त्र युद्ध की अपेक्षा सत्याग्रह में यह

---

१. ह०, २४-१२-३८, पृ० ३९४।
२. मार्गरेट बोर्क व्हाइट, 'हाफ़वे टु फ्रीडम' पृ० २३२।

कहना अधिक उपयुक्त होगा कि हमें जीवन उसे खोदेने से, बलिदान करने से मिलता है।[1]

यदि आक्रमण का शिकार घरेलू उद्योग-धन्धों और कृषि-प्रधान सभ्यता में पनपने वाला अहिंसक देश है, तो केन्द्रित उत्पादन को अपनाने वाले देशों की अपेक्षा इस देश को बहुत कम हानि होगी और वह आक्रमण का सामना बहुत कारगर तरह से कर सकेगा। घरेलू उद्योग-धन्धों का विनाश करने से आक्रमणकारी के हाथ कुछ न लगेगा और उजाड़े हुए देश को फिर संभलने में बहुत कम समय लगेगा। गांधीजी लिखते हैं, "यदि हिटलर का भी ऐसा इरादा होता तो वह सात लाख अहिंसक गाँवों का विनाश न कर सकता। उस प्रक्रिया में वह स्वयं अहिंसक हो जाता।"[2] इस प्रकार देश की अहिंसक आर्थिक व्यवस्था बाह्य आक्रमण के विरुद्ध अधिक-से-अधिक सुदृढ बचाव है। अहिंसा की कला सीख कर दुर्बल-से-दुर्बल राज्य बाह्य आक्रमण से अपनी रक्षा कर सकता है। किन्तु कोई राज्य—वह युद्ध-साधनों में चाहे जितना सबल हो—बलवान राज्यों के गुट के विरुद्ध स्वतन्त्र नहीं रह सकता।[3]

किसी भी राज्य के जीवन का अहिंसा के सिद्धांत के अनुसार संगठन होने में शायद बहुत समय लग जाय। गांधीजी उन राज्यों को भी अहिंसक प्रतिरोध के उपयोग की राय देते हैं जो अबतक हिंसा को ही रक्षा का साधन समझते रहे हैं। लेकिन कोई भी राज्य अहिंसक पद्धति का उपयोग तभी कर सकता है जब वह अन्याय की कमाई से छुटकारा पाले वह कमाई पराधीन देशों पर आधिपत्य हो या अन्य किसी प्रकार की।

अबीसीनिया, चेकोस्लोवेकिया, पोलैंड और इंग्लिस्तान के निवासियों को गांधीजी की यही सिफ़ारिश थी कि वह अन्यायी से युद्ध करने से भी इन्कार कर दें और उसको आत्म-समर्पण करने से भी। इस प्रकार चीन के सम्बन्ध में उन्होंने एक बार कहा था, "यदि चीनियों के पास मेरी धारणा की अहिंसा होती तो विनाश के उन अतिआधुनिक यन्त्रों का—जिनका जापान स्वामी है—कोई उपयोग ही न रहता। चीनी जापान से कहते, 'आप अपने सब यंत्र ले आएँ, हम अपनी आधी जनसंख्या आपकी भेंट करते हैं। किन्तु बाकी २० करोड़ आपके सामने घुटने न टेकेंगे।' यदि चीनी यह करते तो

१. ह०, २८-७-४०, पृ० २२८।

२. ह०, ४-११-३६, पृ० ३३१।

३. यं० इं०, २-७-३१, ह०, ७-१०-३६, पृ० २१३।

जापान चीन का दास हो जाता।"[1] उनके अनुसार अहिंसक प्रतिरोध के लिए यह आवश्यक था कि चीन-निवासी अपने हृदयों में जापानियों के लिए प्रेम विकसित करें—उनके गुणों को याद करके नहीं किन्तु उनके दुष्कर्मों के बावजूद भी।

यदि अहिंसक व्यक्ति का देश युद्ध प्रारम्भ करे तो उसको चाहिए कि वह अपनी सरकार को इस प्रकार दुर्बल बनाने के लिए कुछ भी न करे कि देश की हार हो जाय। किन्तु इस डर से उनको युद्धों की व्यर्थता में अपनी अटल श्रद्धा प्रदर्शित करने के उचित अवसर को न खोना चाहिए। "इसका अर्थ यह है कि वह (अहिंसक) अपने देश के तथाकथित हित के पहले अपनी अन्तरात्मा तथा सत्य को रखते हैं। क्योंकि अंतरात्मा के लिए सम्मानने किसी न्यायपूर्ण उद्देश्य या हित को कभी हानि नहीं पहुंचाई थी।" अहिंसक व्यक्तियों को अपने देश या दूसरे देश की सेना की विजयकामना न करनी चाहिए। उनको केवल यह प्रार्थना करनी चाहिए कि सत्य की विजय हो। "जब दोनों पक्ष हिंसा के साधनों का उपयोग कर रहे हों तो यह निर्णय करना बहुत कठिन है कि उनमें से किस पक्ष की विजय होनी चाहिए।" अपने को हिंसा से अलग रखते हुए भी अहिंसक व्यक्तियों को खतरे से न भागना चाहिए और अपने जीवन की उपेक्षा करके मित्र और शत्रु की एक समान सेवा करनी चाहिए।[2]

निष्पक्ष अहिंसक देश किसी सेना को पड़ोसी देश का विनाश करने की आज्ञा न देगा। उसे आक्रमणकारी सेना को रास्ता और रसद देने से इन्कार कर देना चाहिए। उसे स्त्री, पुरुषों और बच्चों की जीवित दीवाल आक्रमणकारी के सामने कर देना चाहिए और आक्रमणकारी को उनकी लाशों पर होकर जाने को निमन्त्रित करना चाहिए। कहा जा सकता है कि आक्रमणकारी फ़ौज में इतनी पाशविकता हो सकती है कि वह अहिंसक प्रतिरोधियों पर होकर निकल जाय। लेकिन अपना विनाश होने देकर प्रतिरोधी अपना कर्तव्य पालन कर लेंगे। इसके अतिरिक्त, "निर्दोष स्त्री पुरुषों की लाशों पर होकर जानेवाली फ़ौज इस प्रयोग को दोहरा न सकेगी।"[3] गांधीजी निष्पक्ष देशों द्वारा आक्रमणकारी देश के आर्थिक बहिष्कार के पक्ष में भी हैं।[4]

१. ह०, २४-१२-३८, पृ० ३९४।

२. ह०, २८-१ ३९; पृ० ४४२; १५-४-३९ पृ० ८९-९०।

३. यं० इं०, १-१२-३१।

४. कुछ चीनी आगन्तुकों के इस प्रश्न के उत्तर में, कि भारत में जापानी माल के बहिष्कार की क्या आशा थी. गांधीजी ने जवाब दिया, "मेरी इच्छा है

गांधीजी का मत है कि हिंसा पर आधारित राज्य के लिए अहिंसक प्रतिरोध का उपयोग लगभग असम्भव है।[1] किन्तु यदि अन्तर्राष्ट्रीय आक्रमण से पीड़ित देश हिंसक प्रतिरोध करने का निश्चय करे तब भी निष्पक्ष राज्य का कर्तव्य है कि वह आक्रांत देश को नैतिक सहानुभूति और अहिंसक सहारा दे। गांधीजी आक्रमण और बचाव की हिंसा मे भेद करते थे और पिछले प्रकार की हिंसा का भला चाहते थे, यद्यपि वह यह भी चाहते थे कि प्रतिरोध अहिंसक हो।[2] यदि आक्रांत में उच्चतम वीरता की और निस्वार्थता की क्षमता है और यदि वह अपेक्षाकृत बहुत अधिक शक्तिशाली आक्रमणकारी के विरुद्ध हिंसा मे असमता का युद्ध लड़ता है तो गांधीजी के अनुसार वह हिंसा लगभग अहिंसा है, क्योंकि जब हिंसा सोच-विचार कर नहीं की गई है और जब आनुपातिक हिंसा की क्षमता नही है, तब हिंसक प्रतिरोध का अर्थ है "दबा देने वाली हिंसा के सामने यह पूरी तरह जानते हुए भी दबने से इन्कार करना कि उसका अर्थ निश्चित मौत है।" सन् १६३६ का पोलैंड का प्रतिरोध इसी प्रकार का दृष्टान्त है।[3]

निसंदेह, यदि सभी राज्य मिलकर आक्रमणकारी राज्य के विरुद्ध नैतिक प्रतिरोध कर सकते, तो युद्धों और आक्रमणों का लोप हो जाता, लेकिन यह तभी मुमकिन है जब विभिन्न देशों मे साधारण व्यक्ति का नैतिक स्तर बहुत ऊंचा हो जाय। अन्तर्राष्ट्रीय आक्रमण से पीड़ित देश दूसरे देशों की नैतिक सहायता का स्वागत करेगा, लेकिन उसे स्वयं अपनी अहिंसक शक्ति पर निर्भर रहने

कि मैं कह सकता कि इसकी (बहिष्कार की) बहुत आशा थी। हमारी सहानुभूति आपके साथ है, किन्तु उसने हमको गंभीर रूप से विक्षुब्ध नहीं किया है, नहीं तो हमने सभी जापानी माल, विशेष रूप से जापानी कपड़े का बहिष्कार किया होता। जापान केवल आपको ही नहीं जीत रहा है, हमको अपने सस्ते, तुच्छ, मशीन से बने माल से जीतने का प्रयत्न कर रहा है। आपकी तरह हमारा भी बड़ा राष्ट्र है। यदि हम जापानियों से कहते कि हम आपकी एक गज छींट भी न मगावेंगे, और न अपनी रुई आपको भेजेंगे, तो जापान अपना आक्रमण जारी रखने के पहिले फिर सोच-विचार करता।" इस उद्धरण मे यद्यपि गांधीजी के मन में स्वदेशी का आर्थिक रूप भी है, प्रकट है कि उनका ज़ोर आक्रमणकारी के साथ अहिंसक असहयोग के साधन के रूप मे आर्थिक बहिष्कार पर है। ह०, २८-१-३६, पृ० ४४१।

१. ह०, १२-५-४६, पृ० १८८।

२. ह०, ६-१२-३६, पृ० ३७१; यं० इ०, भा० २, पृ० ४२३।

३. ह०, २३-६-३६, पृ० २८१; और ८-६-४०, पृ० २७४।

और अकेले अहिंसक प्रतिरोध-पद्धति का उपयोग करने को तैयार रहना चाहिए।

युद्ध मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्तियों का नहीं सांस्कृतिक परिस्थिति का परिणाम है।[1] उसकी विनाशकता पहले कभी इतनी अविवेकपूर्ण और सार्वभौम न थी और न उसका व्यय इतना भारी था जितना आज। युद्ध के कारण अधिनायक-तन्त्र (डिक्टेटर-प्रणाली) की स्थापना की भी आवश्यकता पड़ती है।[2] इसके अतिरिक्त युद्ध झगड़ों को निपटाने के स्थान में अधिक

---

१. मार्क्सवादियो के अनुसार युद्ध वर्गों की उस आर्थिक प्रतिद्वन्द्वता से सबन्धित है जिसमे दूसरे वर्गों का शोषण करनेवाला वर्ग प्रमुख भाग लेता है। 'रिवोल्ट अगेन्स्ट वार' नाम की अपनी पुस्तक मे एच० सी० एंगलब्रेक्ट ने इस सिद्धान्त के पक्ष मे मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक और मनुष्य-विज्ञान (एन्थ्रोपालोजी) सबधी प्रमाण एकत्रित किये है कि "मनुष्य युद्ध नहीं है।" क्विन्सी राइट अपनी 'ए स्टडी ऑव वार' नाम की पुस्तक मे इस नतीजे पर पहुचे हैं कि युद्ध प्रमुख रीति से मनोवैज्ञानिक नहीं सामाजिक बात है। मनुष्यों मे कोई विशिष्ट युद्ध प्रवृत्ति नहीं है, बल्कि उनमे बहुत-से प्रेरक-हेतु और रुचिया है जिनके कारण मनुष्य-समुदाय आक्रमण करते है। इसी प्रकार समाजशास्त्री स्वर्गीय कार्ल मैन्हाइम का विश्वास है कि सामाजिक संस्थाओ और सामाजिक व्यवस्था द्वारा यह निश्चित होता है कि जन-समूह का चरित्र युद्ध-प्रिय है या शान्तिप्रिय, और मनुष्य-स्वभाव पर युद्ध के अभाव का हानिकर प्रभाव नहीं पड़ता। आर० टी० जिलेस्पी अमरीका के पश्चिमी तट पर रहने वाली एक रेड इंडियन जाति का हवाला देते है। इस जाति को युद्ध-सबन्धी बाते बताना असभव है, क्योंकि उनके पास उस धारणात्मक आधार का अभाव है जो उनको युद्ध-सबन्धी बातो को समझने मे सहायक होता। देखिये राइट, 'ए स्टडी ऑव वार' भा० १, पृ० २७७, भा० २, पृ० ११९९-१२००; मैन्हाइम, 'मैन एंड सोसाइटी', पृ० १२३-२४; जिलेस्पी, 'साइकोलॉजिकल एफेक्ट्स ऑव वार आन सिटीज़न ऐंड सोल्जर' पृ० २१९।

२. राइट ने अपनी पुस्तक मे इस बात का विशद विवेचन किया है कि विश्व-सभ्यता के अतिआधुनिक काल मे युद्ध का प्रभाव हुआ है अस्थायित्व, एकता का विनाश, परिस्थितियो के अनुकूल बनने की क्षमता का ह्रास, सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था मे लचीलेपन का अभाव और निरंकुशता। उपरोक्त प्रभाव के कारण यह कहना पहले से कठिन हो गया है कि सभ्यता की गति किस ओर होगी और सभ्यता के आदर्शो को कार्यान्वित करने की

व्यापक और स्थायी बनाता है। दूसरी ओर सत्याग्रह में युद्ध की अपेक्षा बहुत कम मनुष्यों को जान से हाथ धोना पड़ता है और शस्त्रों और क़िले इत्यादि बनाने में तो कोई ख़र्चा ही नहीं होता। यह पहले बताया जा चुका है कि किस प्रकार अहिंसा की पर्याप्तता कठोर-से-कठोर हृदय को पिघला देती है। राज्य के सच्चे अहिंसक प्रतिरोध से उत्पन्न नैतिक शक्ति का आक्रमणकारी देश की सरकार और जनमत पर बहुत प्रभाव पड़ेगा और उस सरकार के लिए अपने राष्ट्र की जनता से सहानुभूति पाना कठिन हो जायगा।

गांधीजी यह आशा नहीं करते थे कि बचाव के लिए अहिंसक प्रतिरोध का उपयोग करनेवाले राज्य का प्रत्येक नागरिक पूरी तरह अहिंसावादी होगा। युद्धवादी देश का प्रत्येक नागरिक भी तो युद्ध-विज्ञान का विशेषज्ञ नहीं होता। कोई भी देश थोड़े से विशेषज्ञों और अच्छे अनुशासनवाली एक अहिंसक फ़ौज के द्वारा --जिसका अनुपात जनसंख्या से वही होगा जो हिंसक फ़ौज का होता है---आक्रमणकारी का सामना कर सकेगा।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय आक्रमण के विरुद्ध रक्षा-पद्धति के रूप में अहिंसक

और निरंतर प्रगति की संभावना कम हो गई है। राइट ने अपनी पुस्तक मे यह दिखाया है कि युद्ध का परिणाम अनिश्चित होता है और उसका खर्चा बहुत बढ़ गया है। पश्चिम में सन् १६४८–१७८६ मे युद्ध पेशेवरो का युद्ध हो गया था; सन् १७८६–१६१४ में युद्ध का रूप पूंजीवादी हो गया था; सन् १६१४ के बाद से उसका स्वरूप समग्रतावादी हो गया है। एच० डब्ल्यू० स्पेगेल की परिभाषा के अनुसार समग्र युद्ध स्वतन्त्र राज्यो के बीच ऐसा सशस्त्र संघर्ष है जिसे एक सशस्त्र समाज विपक्षी राष्ट्र का विनाश करने के उद्देश्य से प्रारम्भ करता है और चलाता है। ऐसे युद्ध मे साधनो पर नियन्त्रण नही होता, वह आधुनिक यन्त्र-विज्ञान द्वारा आविष्कृत सभी शस्त्रो द्वारा और मनोविज्ञान और अर्थशास्त्र के साधनो द्वारा लड़ा जाता है। इस युद्ध की कुछ विशेषताएं हैं यन्त्रीकरण, पहिले की अपेक्षा अधिक बड़ी फ़ौजें, युद्ध-प्रयास की तीव्रता और उसका राष्ट्रीयकरण, और युद्ध-कार्य मे सैनिको और साधारण नागरिकों में भेद का लोप। आधुनिक युद्ध-पद्धति के विकास का रुख राज्य को युद्धवादी और समग्र जीवन पर नियंत्रण रखनेवाला राज्य बनाने की ओर है। देखिये स्पेगेल 'दि इकनामिक्स ऑव टोटल वार', पृ० ३७; पी० सारोकिन, 'कन्टेम्पोरेरी सोशियोलाजिकल थियरीज़', अ० ६; और राइट, ऊपर उद्धृत, भा० १, अ० ६ १०, १२ और पृ० १२६-३१, १६२ और ३२१।

प्रतिरोध की बड़ी आवश्यकता है और यह निश्चित मालूम होता है कि पद्धति बहुत कारगर होगी।

इस अध्याय में उस समाज-व्यवस्था की रूप-रेखा की विवेचना है जिसका विकास मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की प्रेम के नियम के अनुसार पुनर्रचना के प्रयास के फलस्वरूप होगा। इस व्यवस्था के सिद्धांत पूर्वरीति से निर्धारित नहीं हैं। समाज-विशेष में उनका प्रयोग समय और स्थान की विशिष्ट मांगों के अनुसार होगा और भविष्य की परिस्थितिविशेष पहिले से नहीं जानी जा सकती। मनुष्य अहिंसक राज्य की स्थापना का प्रयत्न करेंगे या नहीं, यह इस बात पर निर्भर है कि वह वास्तव में स्वतन्त्रता और शान्ति, अर्थात् सच्चे जनतन्त्र की इच्छा करते हैं या नहीं। शांति की स्थापना और जनतन्त्र की परिपूर्णता समानार्थक हैं अहिंसा के विकास के। केवल अहिंसा ही राष्ट्रीय अस्तित्व और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक जीवन में सामंजस्य स्थापित कर सकती है।

अहिंसक राज्य सच्चा जनतन्त्र होगा क्योंकि वह स्वतन्त्रता और समता के अधिक से-अधिक संभव परिमाण पर आधारित होगा। उसमें शोषण कम-से-कम होगा और स्वामी-नौकर और पूंजीपति-मज़दूर संबंधों का स्थान लेगी ग्राम्य-सभ्यता पर पनपनेवाली नई सहयोग-व्यवस्था।

सामाजिक और बहुत कुछ आर्थिक समता और विकेन्द्रीकरण के कारण, आज के प्रतिकूल राजनैतिक अधिकारों की समता में वास्तविकता होगी। व्यक्ति का सामाजिक कार्य योग्यता से संबधित होगा और सेवा पर ज़ोर दिया जायगा। इस प्रकार समाज में इतनी सादगी होगी कि जीवन साधारण मनुष्य की समझ के बाहर न होगा और फिर भी स्वतन्त्रता और व्यक्तित्व, सेवा और विधायक आलोचना के सचेतन जीवन के अवसर की प्रचुरता होगी।

उपसंहार

गांधीजी के सर्वोदय-तत्त्व-दर्शन का आधार है सत्य में श्रद्धा। यही सिद्धांत — जिसको गांधीजी ईश्वर, आत्म-शक्ति, नीति-नियम आदि के साथ समीकृत करते हैं— विश्व का आधार है। यह स्वयं-संचालित शक्ति अपने को विश्व में प्रकट करती है और उसे मौलिक एकता देती है।

सर्वोदय-तत्त्व-दर्शन के अनुसार मनुष्य के विकास, आत्माभिव्यक्ति, के लिए यह आवश्यक है कि वह सत्य को जाने और उस पर अटल रहे, अर्थात् सत्याग्रही हो। महानतम सत्य है सब जीवों की एकता, इसलिए आत्माभिव्यक्ति का मार्ग है सबसे प्रेम करना और सबकी सेवा करना, अर्थात् सबके अधिकतम हित के लिए प्रयत्न करना। सबकी प्रेमयुक्त सेवा ही अहिंसा है। इस प्रकार सत्य की साधना अहिंसात्मक साधनों द्वारा ही हो सकती है। आध्यात्मिक एकता की अनुभूति विभाजक, पृथक्कारी साधनों द्वारा असंभव है। इसलिए गांधीजी का आग्रह है कि सबके अधिकतम हित की प्राप्ति के लिए साधन साध्य के अनुकूल होना चाहिए और व्यक्ति और समुदाय दोनों के व्यवहार-नियम नीति-संगत होना चाहिए।

सबके अधिकतम हित की सिद्धि के लिए यह आवश्यक है कि वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में सत्य की अभिव्यक्ति हो। सत्याग्रही को सत्य का ज्ञान प्रत्यक्ष-अनुभूति और श्रद्धा द्वारा हो सकता है। आत्म-शक्ति के विकास के लिए और सत्य के ज्ञान के लिए गांधीजी नैतिक अनुशासन को आवश्यक समझते हैं। इस अनुशासन का सार है अहिंसक मूल्यों की साधना द्वारा प्राप्त आत्म-संयम। निरपेक्ष सत्य के साक्षात्कार के लिए सत्याग्रही को चाहिए कि अपनी जानकारी के सत्य —सापेक्ष सत्य—के अनुसार आचरण करे। उसे अहिंसक होना चाहिए, क्योंकि हिंसा महानतम सत्य सब जीवों की एकता और पवित्रता, के विरुद्ध है। इसलिए हिंसा असत्य है। अहिंसा का अर्थ है अधिक-से-अधिक व्यापक प्रेम, अन्यायी के प्रति भी प्रेम। अहिंसा का प्रयत्न होता है अशुभ को सत्य से जीतना, शरीर-शक्ति का आत्म-शक्ति द्वारा प्रतिरोध, अर्थात् अन्यायी का कष्ट-सहन द्वारा हृदय-परिवर्तन। गांधीजी दो प्रकार की अहिंसा में भेद करते हैं—आन्तरिक विश्वास के कारण सिद्धान्त की तरह स्वीकार की हुई वीरों की अहिंसा, और हिंसा के उपयोग की अक्षमता के

कारण काम बनाने के लिए स्वीकार की हुई दुर्बलों की अहिंसा। पहले प्रकार की अहिंसा ही अजेय है।

वीरों की अहिंसा को विकसित करने के लिए सत्याग्रही को निर्भय और नम्र होना चाहिए। इसके लिए उसे ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए, अर्थात् मन, वचन और कर्म से सब इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना चाहिए। लिडर होने के लिए सत्याग्रही का आर्थिक प्रश्नों की ओर रुख अस्तेय, अपरिग्रह और शरीर-श्रम के आदर्शों के अनुकूल होना चाहिए। गांधीजी का विश्वास है कि जैसे-जैसे सत्याग्रही की आध्यात्मिक उन्नति होती है वैसे-वैसे वह अपने जीवन को सादा बनाता है जिससे वह निम्नतम तथा अधिक-से-अधिक निर्धन मनुष्यों की तरह जीवन-निर्वाह कर सके। उसे चाहिए कि धन और अन्य भौतिक साधनों पर निर्भर रहना छोड़ दे। आध्यात्मिक जीवन में इनका बहुत महत्व नहीं होता। एक परिमाण में शारीरिक मांगों को पूरा करना आवश्यक है किन्तु यह उचित मर्यादा में ही होना चाहिए। सबके अधिकतम हित की सिद्धि स्वदेशी के सिद्धान्त के अनुसार ही हो सकती है। स्वदेशी का सिद्धान्त सृजनात्मक देश-प्रेम का सूचक है। इस सिद्धान्त के अनुसार सत्याग्रही को अधिक दूरवर्ती वातावरण की अपेक्षा अपने निकट के वातावरण की सेवा और उसका उपयोग करना चाहिए।

अहिंसा के विकास के लिए आवश्यक इस अनुशासन में मनुष्य-स्वभाव की निम्न-कोटि की प्रवृत्तियों विशेष रूप से, प्रजनन, संचयशीलता, और लड़ने-झगड़ने सम्बन्धी प्रवृत्तियों और डर और घृणा की भावनाओं के नियन्त्रण का समावेश है। यह अनुशासन प्रवृत्तियों को बल-पूर्वक दबा देने पर नहीं युक्ति-संगत आत्म-संयम पर ज़ोर देता है। इस अनुशासन के औचित्य का विवेचन अध्याय ३, ४, और ५ में किया गया है। यह सिद्धान्त आत्म-शक्ति, चरम ध्येय तथा अहिंसक साधन-सम्बन्धी गांधीजी की प्राथमिक मान्यताओं के निष्कर्ष हैं और उनके साथ मिलकर अहिंसा का परिपूर्ण आदर्श उपस्थित करते हैं। यदि मानव-उद्देश्य हो अहिंसक साधनों द्वारा सत्य की साधना, तो सर्वोदय-तत्त्व-दर्शन की मांग है कि हम प्रचलित आदर्शों का फिर से मूल्यांकन करें और जीवन में आंतरिक सामंजस्य की स्थापना का प्रयत्न करें।

अहिंसक समाज के विकास में अहिंसक अनुशासन सत्याग्रही नेताओं के लिए अनिवार्य है। अनुशासन की माँग सत्याग्रही अनुगामियों से भी होती है लेकिन उनसे सत्याग्रही नेता की सी नैतिक शुद्धता के उच्च-स्तर की आशा नहीं की जाती।

सत्याग्रही, जिसने अनुशासन का अभ्यास किया है, योग्य, आत्म-

विश्वासयुक्त नेता होता है। वह अपने अनुगामियों की स्वेच्छा और उनके विवेक पर आधारित आज्ञाकारिता पर निर्भर रहता है और सामुदायिक मामलों में जनमत तथा जनतंत्र का सम्मान करता है। मूलभूत सिद्धान्त की बातों में उसका पथ-प्रदर्शन उसकी अन्तरात्मा की प्रेरणा द्वारा होता है। नेता का उद्देश्य होता है जनता को सत्याग्रह की शिक्षा देना जिसमें समाज का इस प्रकार विकास हो कि वर्ग और राज्य की संस्थाओं के अस्तित्व के कारण दूर हो जाय। वह जनता का संगठन करता है। अहिंसक समुदाय ऐसा आदर्श जनतंत्र होने का प्रयत्न करता है जिसमें केवल साधारण मामलों में बहुमत द्वारा निर्णय होते हैं किन्तु अल्पमत के विशिष्ट हित से सम्बन्धित बातों में अल्पमत के विरोध को अधिक-से-अधिक ध्यान में रखा जाता है। इस प्रकार की संस्था में सत्तावादी राजनीति के लिए और सत्ता के संगठन को हथियाने के लिए राजनैतिक पैंतरेबाज़ी के लिए कोई स्थान नहीं। अन्याय का प्रतिरोध करने के अवसर पर संस्था अहिंसक फौज बन जाती है और उसमें जनतंत्रवादी रीति से चुने हुए नेता का केन्द्रित नियंत्रण साधारण जनतंत्रवादी कार्य-प्रणाली का स्थान ले लेता है।

सत्याग्रह अहिंसात्मक साधनों द्वारा सत्यपूर्ण साध्य की निरंतर साधना है और उसमें अहिंसात्मक प्रतिरोध के साथ-साथ सब विधायक कार्यों का भी समावेश है। इस प्रकार सत्याग्रह केवल सामूहिक प्रतिरोध-पद्धति नहीं है। वास्तव में सामूहिक प्रतिरोध-पद्धति के रूप में अजेय होने के लिए यह आवश्यक है कि सत्याग्रह का अभ्यास दैनिक जीवन के प्रत्येक कार्य में हो।

विधायक तथा प्रतिरोधकारी रूपों में सत्याग्रह सामाजिक प्रगति का साधन है। विधायक सत्याग्रह जनता की नैतिक शक्ति बढ़ाता है और उसे अहिंसक प्रतिरोध के उपयोग के लिए आवश्यक अनुशासन देता है। वह राजनैतिक सत्ता और राज्य-व्यवस्था के सत्याग्रही समुदाय के हाथ में आने के पहले ही वर्तमान सामाजिक संगठन में अहिंसा के सिद्धान्तों के अनुसार आमूल परिवर्तन करने की पद्धति है।

सत्याग्रही नेता प्रचार के हरएक उचित साधन का उपयोग करता है। उसके निकट प्रचार का अर्थ यह नहीं कि जनमत का शोषण किया जाय या उसके ऊपर अनुचित नियंत्रण स्थापित किया जाय, बल्कि यह है कि जनमत को सत्यपूर्ण और अहिंसात्मक साधनों द्वारा शिक्षा दी जाय। अहिंसक प्रचार इतना लिखे या बोले हुए शब्दों द्वारा नहीं जितना सेवा और कष्ट-सहन द्वारा होता है। रचनात्मक कार्यक्रम, जो 'सामूहिक शुद्धकारी प्रयास' है सत्याग्रह का सबसे अच्छा प्रचार है।

प्रतिरोधकारी रूप में सत्याग्रह अन्याय का विरोध करने और झगड़ों का निपटारा करने की पद्धति है। सत्याग्रही का उद्देश्य होता है विरोधी का हृदय-परिवर्तन करना और उसमें न्याय की भावना जागृत करना। यदि सत्याग्रही प्रतिपक्षी की बुद्धि को प्रभावित करने में असफल होता है, तो वह स्वेच्छा से कष्ट सहकर विरोधी के हृदय को पिघला देने का प्रयत्न करता है। गांधीजी को यह आशा नहीं कि सब तरह के झगड़े दूर किये जा सकते हैं। लेकिन उनका उद्देश्य है झगड़े को विनाशक भौतिक तल से उस विधायक नैतिक स्तर पर उठा देना जहाँ झगड़ों का शान्तिपूर्ण रीति से निपटारा हो सकता है और विरोध, विरोधी नहीं, दूर किया जा सकता है।

सत्याग्रह उचित भेदों को दबाता नहीं, उनमें सामञ्जस्य स्थापित करता है, इसलिए उसमें क्रान्ति-विरोधी प्रतिक्रिया का खतरा कम-से-कम होता है और उसके लाभ के स्थायी होने की संभावना होती है। प्रतिरोध, जब अहिंसक होता है, तब निषेधात्मक नहीं रह जाता और विधायक रूप से, आत्म-शक्ति के उपयोग के फलस्वरूप, सामाजिक व्यवस्था को नैतिक आदर्श की ओर अग्रसर करता है। सत्याग्रह में न्याय और सहयोग पर आधारित अहिंसक समाज-व्यवस्था की रचना और शोषण पर आधारित अन्यायपूर्ण सामाजिक संगठन का विनाश साथ-साथ चलते हैं। गांधीजी के अनुसार, अहिंसा का आधार यह विश्वास है कि सभी मनुष्यों का असीम नैतिक मूल्य है और उनके साथ इस तरह बर्ताव करना चाहिए कि वह स्वयं साध्य हैं और केवल साधनमात्र नहीं हैं; इसलिए अहिंसा ही स्वतंत्रता की वह जनतन्त्रवादी पद्धति है जो जनता के वास्तविक स्व-शासन की स्थापना कर सकती है। सत्याग्रह दमन पर फलता-फूलता है। स्वेच्छा से सहा हुआ कष्ट उसकी सफलता का साधन है, इसलिए उसमें हार ऐसी कोई चीज़ हो ही नहीं सकती।

गांधीजी का सामाजिक आदर्श है वह वर्गहीन और राज्यहीन समाज, वह स्वय-सञ्चालित बोधपूर्ण अराजकता की दशा जिसमें सामाजिक एकता की रक्षा आन्तरिक और बल-प्रयोग के अतिरिक्त अन्य बाह्य साधनों द्वारा होगी। लेकिन यह आदर्श पूरी तरह कार्यान्वित नहीं हो सकता, इसलिए गांधीजी एक व्यवहार्य, मध्यम मार्गीय सामाजिक आदर्श भी उपस्थित करते हैं। यह है प्रमुख रीति से अहिंसक राज्य। इस द्वितीय सामाजिक आदर्श में राज्य को रखना मानुषी अपूर्णता के साथ समझौता है। गांधीजी राज्य को अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं क्योंकि वह हिंसा पर आधारित है। उनका विश्वास है कि राज्य के जनतन्त्रवादी होने के लिए यह आवश्यक है कि

नागरिकों में सत्ता के दुरुपयोग का अहिंसक प्रतिरोध करने की क्षमता हो। अहिंसक राज्य स्वयं ध्येय नहीं है; वह सबके अधिकतम हित की सिद्धि के साधनों में से एक है। अहिंसक राज्य सर्वोच्च सत्ता रखनेवाला राज्य नहीं जनता की सेवा में लगा राज्य होगा। राज्य विकेन्द्रित जनतन्त्रवादी ग्रामीण सत्याग्रही समुदायों का संघ होगा। वह समुदाय स्वेच्छा से अपनायी हुई सादगी, निर्धनता और धीमेपन पर आधारित होंगे, अर्थात् वह जान-बूझकर जीवन की रफ़्तार धीमी कर देंगे और उनमें शक्ति और धन की खोज की अपेक्षा आत्माभिव्यक्ति को अधिक महत्व दिया जायगा।

अहिंसक राज्य सीमित कार्य करेगा और कम-से-कम हिंसक-शक्ति का उपयोग करेगा। अहिंसक राज्य में समाज की विशेषता होगी सामाजिक समता और बहुत कुछ आर्थिक समता। आर्थिक जीवन का आधार होगा खेती और घरेलू धन्धे, यद्यपि अनिवार्य केन्द्रित उत्पादन भी रहेगा। केन्द्रित उत्पादन का संगठन या तो पूंजीपतियों द्वारा होगा और उस हालत में पूंजीपति और मज़दूर एक दूसरे के ट्रस्टी की तरह और उपभोक्ताओं के ट्रस्टी की तरह बर्ताव करेंगे; या इस व्यवस्था के अभाव में उत्पादन के साधनों का स्वामित्व राज्य के हाथ में होगा और उत्पादन का प्रबन्ध राज्य और मज़दूरों के प्रतिनिधियों के मत से होगा। अहिंसक राज्य के आर्थिक जीवन की एक महत्वपूर्ण विशेषता होगी छोटे-छोटे भूभागों का लगभग पूर्ण स्वावलम्बन।

उत्पादक घरेलू धंधों द्वारा स्वावलम्बी शिक्षा की गांधीजी की योजना शिक्षा और जीवन में निकटतम सम्बन्ध स्थापित करेगी और विद्यार्थी के संपूर्ण जीवन को विकसित करके उसे अहिंसक समाज-व्यवस्था का साहसी, जागरूक और सक्रिय सदस्य बनाएगी।

आर्थिक और राजनीतिक शक्ति का विघटन, राज्य की महत्ता में और कार्यों में कमी, स्वेच्छा पर आधारित समुदायों की वृद्धि, मनुष्यता से गिराने वाली निर्धनता और विलासिता से छुटकारा, नई तालीम और अन्याय के विरुद्ध अहिंसक प्रतिरोध की परम्परा—इन सबके कारण मनुष्य जीवन को समझ सकेगा और समाज और राज्य जनतन्त्रवादी बनेंगे।

अहिंसक राज्य अहिंसक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के साथ सहयोग करेगा। शान्ति की स्थापना केवल संस्थाओं के बाह्य रूप में परिवर्तन करने से नहीं हो सकती। इसके लिए आवश्यकता है उन आदर्शों और मनोवृत्तियों को सुधारने की-जिनकी अभिव्यक्ति युद्ध, साम्राज्यवाद, पूंजीवाद आदि में होती है।

सत्याग्रह-दर्शन सामंजस्यपूर्ण मानव-जीवन का दर्शन है। गांधीजी के

अनुसार आत्मा ही मनुष्य की वास्तविकता है। सबकी आत्मा एक है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समाज-सेवा इस सत्य की अनुभूति का मार्ग है। गांधीजी मनुष्य की शारीरिक माँगों की उपेक्षा नहीं करते, किन्तु उनका विश्वास है कि इन माँगों को मनुष्य की आत्मानुभूति की नैतिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं के अनुकूल होना चाहिए। इस प्रकार सत्याग्रह आत्म-शक्ति द्वारा संचालित सामंजस्यपूर्ण जीवन का दर्शन है। सर्वोदय-तत्व-दर्शन आध्यात्मिक और सांसारिक जीवन में, आदर्श और व्यवहार में, व्यक्ति और समाज में एकता स्थापित करता है। गांधीजी एक ओर तो सत्य को दर्शन और सामाजिक जीवन का आधार बनाते हैं और दूसरी ओर सत्य को बहुमुखी जीवन की प्रचुरता में युक्त करते हैं।

गांधीजी के राजनैतिक सिद्धान्त उनके जीवन-दर्शन के अवयव रूप हैं। विज्ञान या वास्तविकता के नाम पर राजनीति को नैतिक सिद्धान्तों से अलग रखना उनके निकट आध्यात्मिक विकास के लिए घातक है। अहिंसक प्रतिरोध क्रांति की पद्धति और उसके दर्शन को उनकी बड़ी देन है। राजनीति-दर्शन के इतिहास में किसी भी अन्य विचारक की अपेक्षा उन्होंने अधिक स्पष्ट और निश्चित रूप से बताया है कि अहिंसा और जनतन्त्र एक दूसरे के अविभाज्य अङ्ग हैं और इनमें से प्रत्येक दूसरे के साथ ही सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है। उनकी ऐसे जनतन्त्र की धारणा— जिसमें व्यक्ति ने सत्ता के दुरुपयोग के अहिंसक प्रतिरोध की क्षमता प्राप्त कर लिया है, जिसमें अल्पमत के विरोध का अधिक-से-अधिक ध्यान रखा जाता है और जिसकी विशेषता है बहुमत की उदारता—जनतन्त्र की पश्चिमीय धारणा से बहुत आगे है। पश्चिम के जनतंत्रों में अहिंसा जीवन का नियामक सिद्धान्त नहीं माना जाता, इसलिए गांधीजी उसके नैतिकता के दावे को ठीक नहीं मानते और उनको शोषण का साधन समझते हैं।

इसी प्रकार गांधीजी को पश्चिम के कुछ अर्थ-शास्त्रियों का यह मत मान्य नहीं कि अर्थ-शास्त्र को नैतिक मूल्यांकन से अलग रखना चाहिए। उनके अनुसार नीति-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र में कोई निश्चित भेद नहीं। आर्थिक प्रश्नों पर उनका मत उनके इस विश्वास की अभिव्यक्ति है कि मनुष्य के नैतिक हित को मुनाफ़े की भावना और धन-प्रियता के आधीन नहीं करना चाहिए और शेष मानव-व्यवहार की तरह आर्थिक कार्य की व्यवस्था भी इस प्रकार की होना चाहिए कि वह नैतिक हित को हानिकर नहीं सहायक हो।

लेकिन जैसा कि गांधीजी हमें याद दिलाते कभी नहीं थकते थे, उनका दर्शन पूर्ण या अन्तिम सत्य नहीं है। वह कहते थे कि वह सत्य को खोजते

थे, उसके प्रयोग करते थे। उनका जीवन सत्याग्रह-विज्ञान के निर्माण की कथा है। उसकी विकास-प्रक्रिया आज भी चालू है। अपने आदर्श के मूलभूत सिद्धान्तों के बारे में भी वह मानते थे कि उनके निरपेक्ष होने का दावा करना तर्क-संगत नहीं। किन्तु यह होते हुए भी उनके अनुसार एक प्रकार की सापेक्ष नैतिकता अपूर्ण मानव के लिए निरपेक्ष सी ही है।[1] उनके जीवन के अन्तिम भाग में उनके प्रयोग आदर्श की बुनियादी धारणाओं की अपेक्षा उपयोग के ब्योरे से अधिक सम्बन्धित थे, यद्यपि अहिंसा के उपयोग के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का हल अभी होना है। लेकिन यदि हम युद्ध-कला के दीर्घकालीन इतिहास को ध्यान में रखें, तो ऐसा लगता है कि छः दशाब्दियां—जिनमें गांधीजी ने अहिंसा के प्रयोग सामुदायिक मामलों में किए सत्याग्रह के शान्ति के परिपूर्ण विज्ञान के रूप में विकसित हो जाने के लिए बहुत ही थोड़ा समय है।

जहां तक मौलिकता का प्रश्न है गांधीजी स्वयं कहते हैं, "... मैं कोई नया सत्य प्रदर्शित नहीं करता। मैं बहुत से पुराने सत्यों पर नया प्रकाश डालने का दावा अवश्य करता हूँ।"[2] "मैंने पहिला मौलिक सत्याग्रही होने का दावा कभी नहीं किया। जिसका मैंने दावा किया है वह है उस सिद्धांत का लगभग सार्वभौम पैमाने पर उपयोग।"[3] उनके समय के पहिले अहिंसा ऋषियों और सन्यासियों की विशेषता मानी जाती थी। अहिंसा में वह अर्थ की परिपूर्णता, प्रयोग की व्यापकता और उत्कृष्ट प्रभावशीलता न थी जो गांधीजी के निरन्तर प्रयास के फलस्वरूप आज उसे प्राप्त है। गांधीजी ने यह दिखाया है कि अहिंसा का उपयोग जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में हो सकता है। उन्होंने आज के परिवर्तित जीवन के शब्दों में अहिंसा की नव-व्याख्या की है। उनके दर्शन में अहिंसा को विकास और नवजीवन मिला है। जहां तक मानव-जाति की रक्षा और विकास जीवन के नियम अहिंसा पर आधारित हैं, सामाजिक और राजनैतिक दर्शन को आधुनिक संसार में अहिंसा के अधिकतम प्रामाणिक व्याख्याता गांधीजी की देन जितनी बहुमूल्य है उतनी अन्य किसी विचारक की नहीं।[4]

१. ह० २३-१२-३६, पृ० ३८७।

२. यं० इं०, भा० १, पृ० ५६७।

३. यं० इं०, भा० ३, पृ० ३६७।

४. स्वर्गीय सी० एफ० एन्ड्रयूज़ ने एक बार लिखा था, "मैं नहीं समझता कि हमारी पीढ़ी में नैतिक सत्य के क्षेत्र में अहिंसा के व्यवहार में मि० गांधी के भय-

सर्वोदय-तत्त्व-दर्शन मानव-हित को आधुनिक संसार की सर्वश्रेष्ठ देन इस कारण है कि गांधीजी का व्यक्तित्व केवल राजनीतिज्ञ या विचारक के व्यक्तित्व से कहीं अधिक महान था। वह द्रष्टा थे, असाधारण सृजनात्मक प्रतिभा के नैतिक महापुरुष थे जिनका लगभग छः दशाब्दियों निरन्तर प्रयास था सत्य के ज्ञान के लिए भारतीय परम्परा के अनुसार आवश्यक नैतिक अनुशासन की साधना। उनके दर्शन का आधार है सत्य का सार, उसका प्रौढ़तम फल, अहिंसा, जो उनके अनुसार जीवन और उसके विकास का नियम है। गांधीजी यह भी महसूस करते थे कि अहिंसा उनका ईश्वर-दत्त जीवन-कार्य है। वह लिखते हैं, "मुझे विश्वास है कि ईश्वर ने मुझे अधिक अच्छा रास्ता दिखाने का साधन बनाया है।"[1] "ईश्वर ने भारत के सामने अहिंसा को उपस्थित करने को मुझे अपना साधन चुना है ...।"[2] "मेरा जीवनोद्देश है पारस्परिक सम्बन्धों की - चाहे वह राजनैतिक हो, चाहे आर्थिक, धार्मिक या सामाजिक व्यवस्था के लिए अहिंसा को अपनाने के लिए प्रत्येक भारतवासी ... और अन्त में संसार का मत-परिवर्तन।"[3]

कम-से-कम उपयोगिता के विचार से मानवता को रक्षा और विकास के लिए अहिंसा को अपनाना ही चाहिए। लेकिन क्या आज जब अन्याय और लोभ का बोलबाला है, लोग गांधीजी के संदेश को स्वीकार करेंगे? निस्सन्देह सत्याग्रह-विज्ञान का अभी विकास हो रहा है और जिनके रक्षित स्वार्थ हैं या जिनको आधुनिक सभ्यता और उसके भ्रमपूर्ण मूल्यों के कारण चकाचौंध हो गया है उनके लिए सत्याग्रह के संदेश को समझना कठिन है। इसलिए हो सकता है कि अविद्या या स्वार्थपरता के कारण मनुष्य नैतिक उच्चता के आवश्यक स्तर पर पहुँचने में असफल रहे। शायद धन और शक्ति की पागलों की सी खोज में खोया सामंजस्यहीन संसार स्वार्थपूर्ण अमानुषिक मार्ग को बदलने से इन्कार कर दे। उस दशा में सत्याग्रह अपने समय से पहले की बात है। लेकिन मनुष्य नैतिक नियमों को तोड़ नहीं सकता। उनकी उपेक्षा से वह अपना ही विनाश कर बैठता है। गांधीजी कहते हैं, "कोई भी व्यक्ति या राष्ट्र दंड-मुक्त

रहित तर्क की अपेक्षा कोई अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रेरक देन हुई है।"
'स्पीचेज', इन्ट्रोडक्शन, पृ० १४।

१. ह०, २६-६-४०, पृ० ३०२।
२. ह०, २३-७-३८, पृ० १६३।
३. ह०, १३-७-४०, पृ० ४१०।

रहकर नैतिक नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता।"[१] यदि अहिंसा ही एकमात्र ठीक मार्ग है तो या तो मानवता को उसे अपनाना होगा या उसका विनाश निश्चित है।

किन्तु गांधीजी अहिंसा के भविष्य के सम्बन्ध में ज़रा भी निराश नहीं थे। उनके शब्दों में, "मैं केवल यह कह सकता हूं कि अहिंसक कार्य के संगठन का मेरा अर्ध-शताब्दी का अनुभव मुझे भविष्य के बारे में आशा दिलाता है।"[२] "कल का संसार आवश्यक रूप से अहिंसा पर आधारित समाज होगा।"[३] "मैं अपने हृदय के अधिकतम आंतरिक भाग में महसूस करता हूँ..... कि संसार रुधिर-पातसे बहुत दुखी है। संसार उससे बचना चाहता है और मेरा यह विश्वास है कि यह भारत की प्राचीन भूमि का सौभाग्य होगा कि वह संसार को बचाव का रास्ता दिखाए।"[४]

इसमें सन्देह नहीं कि अहिंसा मनुष्य की अधिकतम शक्तिशाली प्रवृत्तियों से मेल खाती है—सच्चा और अच्छा बनने की और दूसरों से प्रेम करने और उनके लिए कष्ट सहने की प्रवृत्तियों से। इसके अतिरिक्त भीषण असमता, अन्याय, आर्थिक अनिश्चितता, हिंसा, घृणा और डर, जो आज के संसार में इतने व्यापक हैं सत्याग्रह की अपील को ज़ोरदार बनाते हैं। अणु-बम के अन्वेषण के पहले ही गांधीजी की शिक्षा और आंदोलनों का संसार के विचारकों पर और जनता पर गहरा प्रभाव पड़ा था।

गांधीजी महसूस करते थे कि अहिंसा का भविष्य उसके भारत में सफल होने पर निर्भर है और अहिंसा की अटूट परम्परा के कारण यह भारत का निर्दिष्ट ऐतिहासिक कार्य है कि वह मनुष्य जाति को सत्याग्रह का संदेश दे। सन् १९३५ में उन्होंने लिखा था, "उसके (अहिंसा के) फलप्रद होने में बहुत समय लग सकता है; लेकिन जहाँ तक मैं समझ सकता हूँ कोई अन्य देश इस सन्देश को उससे (भारत से) पूर्व परिपूर्ण न कर सकेगा।"[५]

---

१. 'ऐथिकल रेलिजन', पृ० ४८।

२. ह०, ११-८-४०, पृ० २४१।

३. कैटलिन, 'इन दि पाथ ऑव महात्मा गांधी', पृ० ३२२ पर उद्धृत।

४. आर० के० प्रभु ऐंड यू० के० राव, 'दि माइंड ऑव महात्मा गांधी', पृ० १४५ पर उद्धृत।

५. ह०, १२-१२-३५। लेकिन वह सदा अहिंसा की सार्वभौम व्यावहारिकता में विश्वास करते थे। कभी-कभी वह यह भी महसूस करते थे कि यद्यपि अहिंसा के संदेश का भारत में फलप्रद होना उनको बहुत स्वाभाविक और

भारत में अहिंसा का भविष्य अहिंसा में विश्वास करनेवालों की सच्चाई पर निर्भर है, चाहे उनकी संख्या बहुत कम ही क्यों न हो, जैसा कि उसके होने की सम्भावना भी है। अहिंसा में इन विश्वास करनेवालों को गांधीजी का संदेश है कि, "वह, जिन्हें विश्वास है कि अहिंसा ही वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त करने की एकमात्र पद्धति है, अहिंसा के दीपक को आज के घोर अन्धकार में प्रज्वलित रखें। थोड़े से व्यक्तियों का सत्य अमर दिखाएगा, लाखों का असत्य हवा के झोंके के सामने भूसे की तरह उड़ जायगा।"[1] जनता का मत-परिवर्तन केवल आदर्श द्वारा नहीं, बल्कि उन थोड़े से व्यक्तियों के समुदाय द्वारा होगा जो स्वार्थरहित होकर, निश्चयपूर्वक, साहस के साथ आदर्श को अपने जीवन में उतार लेंगे और घोर संकट में भी मार्ग से विचलित न होंगे।

दृढ़ निश्चयवाले इन थोड़े से सत्याग्रहियों को नेता से प्रेरणा मिलेगी। एक बार गांधीजी ने कहा था, "मेरी मृत्यु के बाद यदि अहिंसा का नाश हो जाय तो मान लेना चाहिए कि मुझमें अहिंसा थी ही नहीं।"[2]

यह गांधीजी का आत्म-परीक्षण ही नहीं है बल्कि उन लोगों के लिये कसौटी है जिनकी मान्यता है कि उन्होंने गांधीजी के मार्ग को स्वीकार किया है। किन्तु उनकी अटल आस्था थी कि अहिंसक मार्ग से ही मानव-समाज की पुनर्रचना सम्भव है। वह लिखते हैं, "अहिंसा संसार के महान सिद्धान्तों में से एक है जिसका संसार की कोई भी शक्ति विनाश नहीं कर सकती। मेरे समान सहस्रों की (अहिंसा के) आदर्श को सिद्ध करने में मृत्यु हो सकती है, किन्तु अहिंसा का कभी विनाश न होगा। और अहिंसा के संदेश का प्रचार केवल विश्वास करनेवालों के इस आदर्श के लिए जान देने से हो सकती है।"[3]

सुगम मालूम पड़ता था किन्तु यह भी सम्भव था कि अहिंसा भारत की निष्क्रिय जनता की अपेक्षा योरोप की सक्रिय जनता को अधिक शीघ्र प्रभावित कर सके। य० इ०, १२-६-२५, पृ० २०४। उनके महाप्रस्थान के बाद उनके बहुत से देशवासी गांधीजी को इस देश से जो आशा थी उसके पूर्ण होने के बारे में निराशापूर्ण हैं।

१. य० इं०, भा० २, पृ० ११५३।

२. घनश्यामदास बिड़ला, 'बापू', पृ० ३६।

३. ह०, १५-५-४६, पृ० १४०।

अनुक्रमणिका

आवश्यक संशोधन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	२०	एकात्मकता	एकता
७	२५	युद्ध से	युद्ध में
१०	३-४	प्रेम की शिक्षा नहीं देते	नहीं
१३	२३	तल से भी	तल से
२०	२५	उसमे वर्णित (सर्वोदय)	(सर्वोदय)
२२	१३	सब सिद्धांत और	सिद्धांत और सब
४१	१०	की साक्षी	के साक्ष्य
५५	२४	विरक्तता	विरक्ति
६५	१८	केवल-मात्र	एक मात्र
७६	१२	.. एक भी उदाहरण...	के एक भी उदाहरण
८८	५, ८	सृष्टा	स्रष्टा
६०	१६	सम्भव	असम्भव
१२०	२५	यौक्तिता	यौक्तिकता
१७३	२१	और शिक्षण	×
१७७	२१	चलाता	चलाना
१७८	१६	१६२०	१६२४
१६०	२५	संयोग	सहयोग
२०४	१६	सेवा	सिद्धि
२११	१६	साम्प्रदायिकता	साम्प्रदायिक एकता
२२४	१६	न देने	देने
२२५	२१	या अभ्यास आत्म विनाश का	का अभ्यास आत्मविनाश या
२३२	१०	सत्याग्रही	सत्याग्रह
२३७	१०	मानसिकता	मनोवृत्ति
२४०	५	बचाना	बचना
२५२	११	अजीवन	का जीवन
२५६	६	प्रतिनिधात्मक	प्रतिनिध्यात्मक
२७३	२६	दूसरे अन्य	अन्य
२७७	२६	और सभी	और उसके अनुरूप सभी
,,	२७	१६१५	१२१५
३०४	३०	सम्बन्ध पारस्परिक	पारस्परिक सम्बन्ध
३०५	८	वृत्ति	वृत्त
३१६	२५	उपरोक्त	उपर्युक्त
३२३	११	के मतभेद	×
३२४	२६	राज्य-हिंसा	राज्य हिंसा
३३६	१३	अहिंसा	हिंसा